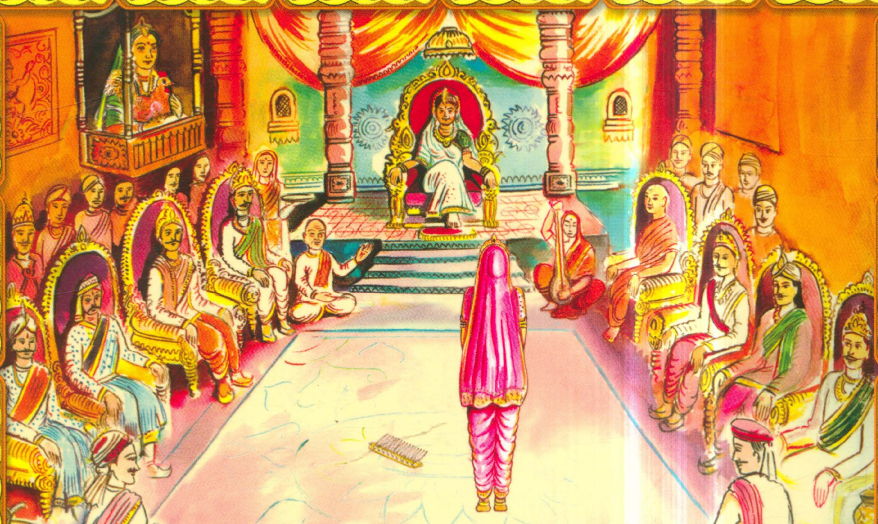

शांत-मूर्ति-सरलस्वभावी-आचार्य-देव
श्रीमद्‌विजय-भूपेन्द्रसूरीश्वर-महाराज-रचितम्

श्री चन्द्रराजचरित्रम्

संपादक : मुनि श्री जयानन्दविजयादि मुनि मण्डलः

।। श्री-गोडी-पार्श्वनाथाय नमः ।

।। प्रभु-श्रीमद्विजय-श्रीराजेन्द्रसूरीश्वराय नमः ।।

शांत-मूर्ति-सरलस्वभावी-आचार्य-देव
श्रीमद्विजय-भूपेन्द्रसूरीश्वर-महाराज-रचितम्

श्री चन्द्रराजचरित्रम्

.. दिव्याशिष ..

श्रीविद्याचन्द्रसूरीश्वराः • श्रीरामचन्द्रविजयाः

.. संपादक ..

मुनिराजश्री-जयानन्द-विजयादिमुनि-मण्डलः

.. प्रकाशिका ..

गुरुश्री-रामचंद्र-प्रकाशन-समिति, भीनमाल, (राज.)

.. मुख्य संरक्षक ..

(१) श्री संभवनाथ राजेन्द्र सूरि जैन श्वे. मू. ट्रस्ट, विजयवाडा A.P.

कुंडुलवरी स्ट्रीट

(२) मुनिराज श्री जयानंद विजयजी आदि ठाणा की निश्रा में

वि. २०६५ में शत्रुंजय तीर्थे चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते

लेहर कुंदन ग्रुप

मुंबई, दिल्ली, चेन्नई, हरियाणा

श्रीमती गेरोदेवी जेठमलजी बालगोता परिवार, मेंगलवा

(३) एक सद्गृहस्थ, भीनमाल

संरक्षक

(१) सुमेरमल केवलजी नाहर, भीनमाल, राज.
के. एस. नाहर, २०१ सुमेर टॉवर, लव लेन, मझगांव, मुंबई-१०.

(२) मीलियन ग्रुप, सूराणा, मुंबई, दिल्ली, विजयवाडा.

(३) एम. आर. इम्पेक्स, १६-ए, हनुमान टेरेस, दूसरा माला, ताराटेम्पल लेन, लेमीग्टन रोड, मुंबई-७. फोन : २३८०१०८६.

(४) श्री शांतिदेवी बाबुलालजी बाफना चेरीटेबल ट्रस्ट, मुंबई. महाविदेह भीनमालधाम, पालीताना-३६४२७०.

(५) संघवी जुगराज, कांतिलाल, महेन्द्र, सुरेन्द्र, दिलीप, धीरज, संदीप, राज, जैनम, अक्षत बेटा पोता कुंदनमलजी भुताजी श्रीश्रीमाळ, वर्धमान गौत्रीय आहोर (राज.) कल्पतरू ज्वेलर्स, ३०५, स्टेशन रोड संघवी भवन, थाना (प.) महाराष्ट्र.

(६) अति आदरणीय वडील श्री नाथालाल तथा पू. पिताजी चीमनलाल, गगलदास, शांतिलाल तथा मोंघीबेन अमृतलाल के आत्मश्रेयार्थे चि. निलांग के वरसीतप, प्रपौत्री भव्या के अट्ठाई वरसीतप अनुमोदनार्थ दोशी वीजुबेन चीमनलाल डायालाल परिवार, अमृतलाल चीमनलाल दोशी पांचशो वोरा परिवार, थराद-मुंबई.

(७) शत्रुंजय तीर्थे नव्वाणुं यात्रा के आयोजन निमित्ते शा. जेठमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, प्रेमचंद, गौतमचंद, गणपतराज, ललीतकुमार, विक्रमकुमार, पुष्पक, विमल, प्रदीप, चिराग, नितेष बेटा-पोता कीनाजी संकलेचा परिवार मेंगलवा, फर्म - अरिहन्त नोवेल्हटी, GF3 आरती शोपींग सेन्टर, कालुपुरटंकशाला रोड, अहमदाबाद. पृथ्वीचंद अेन्ड कं.,तिरुचिरापली.

(८) थराद निवासी भणशाळी मधुबेन कांतिलाल अमुलखभाई परिवार.

(९) शा कांतीलाल केवलचंदजी गांधी सियाना निवासी द्वारा २०६३ में पालीताना में उपधान करवाया उस निमित्ते.

(१०) 'लहेर कुंदन ग्रुप' शा जेठमलजी कुंदनमलजी मेंगलवा (जालोर)

(११) २०६३ में गुडा में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस समय पद्मावती सुनाने के उपलक्ष में शा चंपालाल, जयंतिलाल, सुरेशकुमार, भरतकुमार, प्रिन्केश,

केनित, दर्शित चुन्नीलालजी मकाजी काशम गौत्र त्वर परिवार गुडाबालोतान् जयचिंतामणि १०-५४३ संतापेट नेल्लूर-५२४००१ (आ.प्र.)

(१२) पू. पिताश्री पूनमचंदजी मातुश्री भुरीबाई के स्मरणार्थे पुत्र पुखराज, पुत्रवधु लीलाबाई पौत्र फुटरमल, महेन्द्रकुमार, राजेन्द्रकुमार, अशोककुमार मिथुन, संकेश, सोमील, बेटा पोता परपोता शा. पूनमचंदजी भीमाजी रामाणी गुडाबालोतान् 'नाकोडा गोल्ड' ७०, कंसारा चाल, बीजामाले, रूम नं. ६७, कालबादेवी, मुंबई-२

(१३) शा सुमेरमल, मुकेशकुमार, नितीन, अमीत, मनीषा, खुशबु बेटा पोता पेराजमलजी प्रतापजी रतनपुरा बोहरा परिवार, मोदरा (राज.) राजरतन गोल्ड प्रोड. के. वी. एस. कोम्प्लेक्ष, ३/१ अरुंडलपेट, गुन्टूर A.P.

(१४) एक सद्गृहस्थ, धाणसा.

(१५) गुलाबचंद डॉ. राजकुमार, निखीलकुमार, बेटा पोता परपोता शा छगनराजजी पेमाजी कोठारी, आहोर, अमेरिका : ४३४१, स्कैलेण्ड ड्रीव अटलान्टा जोर्जिया U.S.A.-३०३४२. फोन : ४०४-४३२-३०८६/६७८-५२१-११५०

(१६) शांतिरूपचंद रविन्द्रचंद, मुकेश, संजेश, ऋषभ, लक्षित, यश, ध्रुव, अक्षय बेटा पोता मिलापचंदजी महेता जालोर, बेंगलोर.

(१७) वि.सं.२०६३ में आहोर में उपधान तप आराधना करवायी एवं पद्मावती श्रवण के उपलक्ष में पिताश्री थानमलजी मातुश्री सुखीदेवी, भंवरलाल, घेवरचंद, शांतिलाल, प्रवीणकुमार, मनीष, निखिल, मित्तुल, आशीष, हर्ष, विनय, विवेक बेटा पोता कनाजी हकमाजीमुथा, शा. शांतिलाल प्रवीणकुमार एन्ड को. राम गोपाल स्ट्रीट, विजयवाडा. भीवंडी, इचलकरंजी

(१८) बाफना वाडी में जिन मन्दिर निर्माण के उपलक्ष में मातुश्री प्रकाशदेवी चंपालालजी की भावनानुसार पृथ्वीराज, जितेन्द्रकुमार, राजेशकुमार, रमेशकुमार, वंश, जैनम, राजवीर, बेटा पोता चंपालाल सांवलचन्दजी बाफना, भीनमाल. नवकार टाइम, ५१, नाकोडा स्टेट न्यु बोहरा बिल्डींग, मुंबई-३.

(१९) शा शांतिलाल, दीलीपकुमार, संजयकुमार, अमनकुमार, अखीलकुमार, बेटा पोता मूलचंदजी उमाजी तलावत आहोर (राज.) राजेन्द्र मार्केटींग, पो.बो.नं.१०८, विजयवाडा.

(२०) श्रीमती सकुदेवी सांकलचंदजी नेथीजी हुकमाणी परिवार, पांथेडी, राज. राजेन्द्र ज्वेलर्स, ४-रहेमान भाई बि. एस. जी. मार्ग, ताडदेव, मुंबई-३४.

(२१) पूज्य पिताजी श्री सुमेरमलजी की स्मृति में मातुश्री जेठीबाई की प्रेरणा से जयन्तिलाल, महावीरचंद, दर्शन, बेटा पोता सुमेरमलजी वरदीचंदजी आहोर, जे. जी. इम्पेक्स प्रा.लि.-५५ नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई-७९.

(२२) स्व. हस्तीमलजी भलाजी नागोत्रा सोलंकी की स्मृति में हस्ते परिवार बाकरा (राज.)

(२३) मुनिश्री जयानंद विजयजी की निश्रा में लेहर कुंदन ग्रुप द्वारा शत्रुंजय तीर्थे २०६५ में चातुर्मास उपधान करवाया उस समय के आरधक एवं अतिथि के सर्व साधारण की आय में से सवंत २०६५.

(२४) मातुश्री मोहनीदेवी, पिताश्री सांवलचंदजी की पुण्यस्मृति में शा पारसमल सुरेशकुमार, दिनेशकुमार, कैलाशकुमार, जयंतकुमार, बिलेश, श्रीकेष, दीक्षिल, प्रीष कबीर, बेटा पोता सोवलचंदजी कुंदनमलजी मेंगलवा, फर्म : Fybros Kundan Group, ३५ पेरुमल मुदली स्ट्रीट, साहुकार पेट, चेन्नई-१. चशपसरश्रुर, Chennai, Delhi, Mumbai.

(२५) शा सुमेरमलजी नरसाजी - मेंगलवा, चेन्नई.

(२६) शा दूधमलजी, नरेन्द्रकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता लालचंदजी मांडोत परिवार बाकरा (राज.) मंगल आर्ट, दोशी बिल्डींग, ३-भोईवाडा, भूलेश्वर, मुंबई-२

(२७) कटारीया संघवी लालचंद, रमेशकुमार, गौतमचंद, दिनेशकुमार, महेन्द्रकुमार, रविन्द्रकुमार बेटा पोता सोनाजी भेराजी धाणसा (राज.) श्री सुपर स्पेअर्स, ११-३१-३A पार्क रोड, विजयवाडा, सिकन्द्राबाद.

(२८) शा नरपतराज, ललीतकुमार, महेन्द्र, शैलेष, निलेष, कल्पेश, राजेश, महीपाल, दिक्षीत, आशीष, केतन, अश्वीन, रींकेश, यश, मीत, बेटा पोता खीमराजजी थानाजी कटारीया संघवी आहोर (राज.) कलांजली ज्वेलर्स, ४/२ ब्राडी पेठ, गुन्टूर-२.

(२९) शा लक्ष्मीचंद, शेषमल, राजकुमार, महावीरकुमार, प्रविणकुमार, दिलीपकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता प्रतापचंदजी कालुजी कांकरीया मोदरा (राज.) गुन्टूर.

(३०) एक सद्‌गृहस्थ (खाचरौद)

(३१) श्रीमती सुआदेवी घेवरचंदजी के उपधान निमित्ते चंपालाल, दिनेशकुमार, धर्मेन्द्रकुमार, हितेशकुमार, दिलीप, रोशन, नीखील, हर्ष, जैनम, दिवेश बेटा पोता घेवरचंदजी सरेमलजी दुर्गाणी बाकरा. हितेन्द्र मार्केटींग, 11-X-2-Kashi, चेटी लेन, सत्तर शाला कोम्प्लेक्स, पहला माला, चेन्नई-७९.

(३२) मंजुलाबेन प्रवीणकुमार पटीयात के मासक्षमण एवं स्व. श्री भंवरलालजी की स्मृति में प्रवीणकुमार, जीतेशकुमार, चेतन, चिराग, कुणाल, बेटा पोता तिलोकचंदजी धर्माजी पटियात धाणसा. पी.टी.जैन, रोयल सम्राट, ४०६-सी वींग, गोरेगांव (वेस्ट) मुंबई-६२.

(३३) गोल्ड मेडल इन्डस्ट्रीस प्रा. ली., रेवतडा, मुंबई, विजयवाडा, दिल्ली.

(३४) राज राजेन्द्र टेक्सटाईल्स, एक्सपोर्टस लिमीटेड, १०१, राजभवन, दौलतनगर, बोरीवली (ईस्ट), मुंबई, मोधरा निवासी.

(३५) प्र. शा. दी. वि. सा. श्री मुक्तिश्रीजी की सुशिष्या मुक्ति दर्शिताश्रीजी की प्रेरणा से स्व. पिताजी दानमलजी, मातुश्री तीजोबाई की पुण्य स्मृति में चंपालाल, मोहनलाल, महेन्द्रकुमार, मनोजकुमार, जितेन्द्रकुमार, विकासकुमार, रविकुमार, रिषभ, मिलन, ह्रितिक, आहोर. कोठारी मार्केटींग, १०/११ चितुरी कॉम्पलेक्ष, विजयवाडा.

(३६) पिताजी श्री सोनराजजी, मातुश्री मदनबाई परिवार द्वारा समेतशिखर यात्रा प्रवास एवं जीवित महोत्सव निमित्ते दीपचंद उत्तमचंद, अशोककुमार, प्रकाशकुमार, राजेशकुमार, संजयकुमार, विजयकुमार, बेटापोता सोनराजजी मेघाजी कटारीया संघवी धाणसा. अलका स्टील ८५७ भवानी पेठ, पूना-२.

(३७) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदी ठाणा की निश्रा में सवंत २०६६ में तीर्थेन्द्र नगरे-बाकरा रोड मध्ये चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते हस्ते श्रीमती मैतीदेवी पेराजमलजी रतनपुरा वोहरा परिवार-मोधरा (राजस्थान)

(३८) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदी ठाणा की निश्रा में सवंत २०६२ में पालीताना में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते शांतीलाल, बाबुलाल, मोहनलाल, अशोककुमार विजयकुमार, श्री हंजादेवी सुमेरमलजी नागोरी परीवार-आहोर.

(३९) संघवी कांतिलाल, जयंतिलाल गणपतराज राजकुमार, राहुलकुमार समस्त श्रीश्रीश्रीमाल गुडाल गोत्र फुआनी परिवार आलासण. संघवी इलेक्ट्रीक कंपनी, ८५, नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई-६०० ०७९.

(४०) संघवी भंवरलाल मांगीलाल, महावीर, नीलेश, बन्टी, बेटा पोता हरकचंदजी श्री श्रीमाल परिवार आलासन. राजेश इलेक्ट्रीकल्स ४८, राजा बिल्डींग, तिरुनेलवेली-६२७ ००१.

(४१) शा. कान्तीलालजी, मंगलचन्दजी हरण, दांसपा, मुंबई.

(४२) शा भंवरलाल, सुरेशकुमार, शैलेषकुमार, राहुल बेटा पोता तेजराजजी संघवी

कोमतावाला भीनमाल, एस. के. मार्केटींग, राजरतन इलेक्ट्रीकल्स - २०, सम्बीयार स्ट्रीट, चेन्नई-६०००७९.

(४३) शा समरथमल, सुकराज, मोहनलाल, महावीरकुमार, विकासकुमार, कमलेश, अनिल, विमल, श्रीपाल, भरत फोला मुथा परिवार सायला (राज.) अरुण एन्टरप्राइजेस, ४ लेन ब्राडी पेठ, गुन्टूर-२.

(४४) शा गजराज, बाबुलाल, मीठालाल, भरत, महेन्द्र, मुकेश, शैलेस, गौतम, नीखील, मनीष, हनी बेटा-पोता रतनचंदजी नागोत्रा सोलंकी साँथू (राज.) - फूलचंद भंवरलाल, १८० गोवींदाप्पा नायक स्ट्रीट, चेन्नई-१

(४५) भंसाली भंवरलाल, अशोककुमार, कांतिलाल, गौतमचंद, राजेशकुमार, राहुल, आशीष, नमन, आकाश, योगेश, बेटा पोता लीलाजी कसनाजी मु. सुरत. फर्म : मंगल मोती सेन्डीकेट, १४/१५ एस. एस. जैन मार्केट, एम. पी. लेन, चीकपेट क्रोस, बेंगलोर-५३.

(४६) बल्लु गगनदास विरचंदभाई परिवार, थराद.

(४७) श्रीमती मंजुलादेवी भोगीलाल वेलचन्द संघवी धानेरा निवासी. फेन्सी डायमण्ड, ११ श्रीजी आर्केड, प्रसाद चेम्बर्स के पीछे, टाटा रोड नं.१-२, ऑपेरा हाऊस, मुंबई-४.

(४८) शा शांतिलाल उजमचंद देसाई परिवार, थराद, मुंबई. विनोदभाई, धीरजभाई, सेवंतीभाई.

(४९) शा भंवरलाल जयंतिलाल, सुरेशकुमार, प्रकाशकुमार, महावीरकुमार, श्रेणिककुमार, प्रितम, प्रतीक, साहील, पक्षाल बेटा पोता-परपोता शा समरथमलजी सोगाजी दुरगाणी बाकरा (राज.) जैन स्टोर्स, स्टेशन रोड, अंकापली-५३१ ००१.

(५०) बंदा मुथा शांतिलाल, ललितकुमार, धर्मेश, मितेश, बेटा पोता मेघराजजी फुसाजी ४३, आइदाप्पा नायकन स्ट्रीट, साहुकार पेट, धाणसा हाल चेन्नई-७९.

(५१) श्रीमती बदामीदेवी दीपचंदजी गेनाजी मांडवला चेन्नई निवासी के प्रथम उपधान तप निमित्ते. हस्ते परिवार.

(५२) श्री आहोर से आबू-देलवाडा तीर्थ का छरि पालित संघ निमित्ते एवं सुपुत्र महेन्द्रकुमार की स्मृति में संघवी मुथा मेघराज, कैलाशकुमार, राजेशकुमार, प्रकाशकुमार, दिनेशकुमार, कुमारपाल, करण, शुभम, मिलन, मेहुल, मानव, बेटा पोता सुगालचंदजी लालचंदजी लूंकड परिवार आहोर. मैसुर पेपर सप्लायर्स, ५, श्रीनाथ बिल्डींग, सुल्तान पेट सर्कल, बेग्लोर-५३.

(५३) एक सद्गृहस्थ बाकरा (राज.)

(५४) माइनोक्स मेटल प्रा. लि., (सायला), नं. ७, पी. सी. लेन, एस. पी. रोड क्रॉस, बेग्लोर-२, मुंबई, चेन्नई, अहमदाबाद.

(५५) श्रीमती प्यारीबाई भेरमलजी जेठाजी श्रीश्रीश्रीमाल अग्नि गौत्र, गांव-सरत.

सह संरक्षक

(१) शा तीलोकचंद मयाचन्द एन्ड कं. ११६, गुलालवाडी, मुंबई-४

(२) स्व. मातृश्री मोहनदेवी पिताजी श्री गुमानमलजी की स्मृति में पुत्र कांतिलाल जयन्तिलाल, सुरेश, राजेश सोलंकी जालोर. प्रविण एण्ड कं. १५-८-११०/२, बेगम बाजार, हैदराबाद-१२.

(३) श्रीमती फेन्सीबेन सुखराजजी चमनाजी कबदी धाणसा, गोल्डन कलेक्शन, नं-५ चांदी गली, ३रा भोईवाडा, भूलेश्वर, मुंबई-२.

(४) १९९२ में बस यात्रा प्रवास, १९९५ में अट्ठाई महोत्सव एवं संघवी सोनमलजी के आत्मश्रेयार्थे नाणेशा परिवार के प्रथम सम्मेलन के लाभ के उपलक्ष्य में संघवी भबुतमल जयंतिलाल, प्रकाशकुमार, प्रविणकुमार, नवीन, राहुल, अंकूश, रितेश नाणेशा, प्रकाश नोवेल्टीज्, सुन्दर फर्नीचर, ७९४ सदाशीव पेठ, बाजीराव रोड, पूना-४११ ०३० (सियाणा)

(५) सुबोधभाई उत्तमलाल महेता धानेरा निवासी, कलकत्ता.

(६) पू. पिताजी ओटमलजी मातुश्री अतीयाबाई प. पवनीदेवी के आत्मश्रेयार्थ किशोरमल, प्रवीणकुमार (राजु) अनिल, विकास, राहुल, संयम, ऋषभ, दोशी चौपड़ा परिवार आहोर, राजेन्द्र स्टील हाउस, ब्राडी पेठ, गुन्टुर (A.P.)

(७) पू. पिताजी शा प्रेमचंदजी छोगाजी की पुण्यस्मृति में मातुश्री पुष्पादेवी. सुपुत्र दिलीप, सुरेश, अशोक, संजय वेदमुथा रेवतडा, (राज.) चेन्नई. श्री राजेन्द्र टॉवर नं.१३, समुद्र मुद्दाली स्ट्रीट, चेन्नई.

(८) पू. पिताजी मनोहरमलजी के आत्मश्रेयार्थ मातुश्री पानीदेवी के उपधान आदि तपश्चर्या निमित्ते सुरेशकुमार, दिलीपकुमार, मुकेशकुमार, ललितकुमार, श्रीश्रीश्रीमाल, गुडाल गोत्र नेथीजी परिवार आलासण. फर्म : M. K. Lights, ८९७ अविनाशी रोड, कोइम्बटूर-६४१ ०१८.

द्रव्य सहायक

श्री भूपेन्द्रसूरीश्वरजी
जैन साहित्य संचालक समिति
आहोर

संचालक

श्री गौडी पार्श्वनाथ जैन पेढ़ी

आहोर (जालोर)

(राज.) - ३०७ ०२९.

श्री चन्द्रराजचरित्रम्

प्रस्तावना

प्रिय सज्जनवृन्द! स्वर्गीय पूज्यपाद साहित्यविशारद-विद्याभूषण-आचार्यदेव श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज विरचित संस्कृत गद्यमय श्रीचन्द्रराजचरित्र ८ वाँ पुष्प प्रकाशित किया जा रहा है। यों तो श्रीचंद्रराजचरित्र के संस्कृत पद्यमय, गद्यमय, तथा हिन्दी, गुजराती भाषात्मक कवितारूप रास में संस्करण निकले हुए हैं, तथापि आचार्यदेव ने पण्डित-काशीनाथ जैन-संकलित हिन्दी चरित्र के आधार से इस ग्रंथ को सरल एवं मधुर संस्कृत गद्यमय में रचकर सर्वजनलाभार्थ परिश्रम उठाया है। जगह-जगह पर प्रासंगिक श्लोकों को रखकर ग्रन्थ की महत्ता और भी बढ़ा दी है। प्रस्तुत चरित्र २८ परिच्छेदों में विभाजित किया है जो कि सम्पूर्ण २० फार्म में २२X३० साइज के १२ पेजी पत्राकार में निकल रहा है। स्वर्गस्थ आचार्यदेव के रचित ग्रंथ प्रकाशनार्थ आहोर (मारवाड़) में सं. १९९५ में चैत्र वदि २ को वर्तमानाचार्य पू.पा. व्या.वा. आचार्यदेव श्रीमद्विजय-यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज आदि मुनिमण्डल ने एकत्रित हो 'श्रीभूपेन्द्रसूरि-जैन साहित्य प्रकाशक समिति' नामक संस्था स्थापित की, और आचार्य महाराज रचित ग्रंथों का संशोधन एवं प्रकाशनकार्य पू.पा. उपाध्यायजी श्रीमान्

गुलाबविजयजी महाराज, मुनिराज तपस्वी श्री हर्षविजयजी, मुनिराज श्री हंसविजयजी और मुनिश्री कल्याणविजयजी इन चार मुनिवरों को सोंपा गया। उक्त समिति की ओर से यह समिति का ८ वां पुष्प आप महानुभावों के सामने उपस्थित हो रहा है, इसी तरह अन्य ग्रन्थ भी क्रमशः प्रकाशित होकर पाठकवर्ग के हाथों में यथासमय पहुँचते रहेंगे। पाठकवर्ग भी उन्हें अपनाकर सद्गत आचार्यदेव के महान् परिश्रम का तथा समिति के मुनिवरों का प्रयत्न सफल करेंगे। यदि प्रेसदोष या दृष्टि प्रमाद दोष के कारण त्रुटियाँ रह गयी हो तो सज्जन पाठकवर्ग सुधारकर पढ़े। विज्ञेषु किमधिकम् ?।

यतः-गच्छतः स्खलनं क्वापि, भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र, समादधति सज्जनाः ॥१॥

निवेदिका
श्रीभूपेन्द्रसूरि
जैन साहित्य संचालक समिति
श्री गोडी पार्श्वनाथ जैन पेढ़ी
श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छिय त्रिस्तुतिक संघ
मु.पो. आहोर (राज.)

प्रस्तावना

प्रिय सज्जनवृन्द! स्वर्गीय पूज्यपाद साहित्यविशारद-विद्याभूषण-आचार्यदेव श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज विरचित संस्कृत गद्यमय श्रीचन्द्रराजचरित्र ८ वाँ पुष्प प्रकाशित किया जा रहा है। यों तो श्रीचंद्रराजचरित्र के संस्कृत पद्यमय, गद्यमय, तथा हिन्दी, गुजराती भाषात्मक कवितारूप रास में संस्करण निकले हुए हैं, तथापि आचार्यदेव ने पण्डित-काशीनाथ जैन-संकलित हिन्दी चरित्र के आधार से इस ग्रंथ को सरल एवं मधुर संस्कृत गद्यमय में रचकर सर्वजनलाभार्थ परिश्रम उठाया है। जगह-जगह पर प्रासंगिक श्लोकों को रखकर ग्रन्थ की महत्ता और भी बढ़ा दी है। प्रस्तुत चरित्र २८ परिच्छेदों में विभाजित किया है जो कि सम्पूर्ण २० फार्म में २२X३० साइज के १२ पेजी पत्राकार में निकल रहा है। स्वर्गस्थ आचार्यदेव के रचित ग्रंथ प्रकाशनार्थ आहोर (मारवाड़) में सं. १९९५ में चैत्र वदि २ को वर्तमानाचार्य पू.पा. व्या.वा. आचार्यदेव श्रीमद्विजय-यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज आदि मुनिमण्डल ने एकत्रित हो 'श्रीभूपेन्द्रसूरि-जैन साहित्य प्रकाशक समिति' नामक संस्था स्थापित की, और आचार्य महाराज रचित ग्रंथों का संशोधन एवं प्रकाशनकार्य पू.पा. उपाध्यायजी श्रीमान्

हिंसां वीक्ष्य मृगादिजन्तुनियहस्यानन्तदुःखप्रदां,
तं श्रीनेमिजिनेश्वरं प्रतिदिनं भक्त्याऽतियन्दामहे ॥३॥

शोभां योऽदधदुत्तमाङ्गनिहितव्यालाधिराजस्फटा,
-रत्नानां मिषतस्त्रिलोकमहितां नम्रैर्निलिम्पव्रजैः ।
यत्पादाब्जमरञ्जि मौलिमुकुटप्रद्योतिसन्मौक्तिकै,
-स्तं श्रीपार्श्वजिनेश्वरं प्रतिदिनं भक्त्याऽतियन्दामहे ॥४॥

पीयूषातिशयां श्रवःसुखकारीं यद्धारतीं भारती,
श्रोतुं कामयते हरिश्च सुषमां दृष्ट्वा यदीयां गतः ।
नेत्राणां च सहस्रतां मृगपतिः सत्त्वं यनं गाहते,
तं श्रीवीरजिनेश्वरं जनहितं भक्त्याऽतियन्दामहे ॥५॥

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगणगिरौ मार्तण्डयद्धास्वरो,
विश्वेषामुपकारकः सममती राजेन्द्रसूरीश्वरः ।
तत्पट्टे धनचन्द्रसूरियिबुधश्चासीन्मुदाऽऽनम्य तौ,
सद्गद्ये विरचामि चन्द्रचरितं भूपेन्द्रसूरिर्वरम् ॥६॥

अथ श्रीचन्द्राराजसंस्कृतचरित्रस्य प्रथमे परिच्छेदे श्रीचन्द्रकुमारस्य जन्म

अस्ति किलास्मिंस्त्रिलोके चतुर्दशराजलोकानां मध्ये तिर्यग्लोकः, यस्य विस्तार एकस्य राजलोकस्याऽस्ति । अस्योर्ध्वाधोविस्तारोऽष्टादशशतयोजनप्रमाणोऽस्ति । अस्य मध्ये जम्बूनामद्वीपो वर्तते, अयं स्थालीव वर्तुलाकारो लक्षयोजनप्रमाणश्चकास्ति । अस्य चतुर्दिक्षु अगणितद्वीपसमुद्राः सन्ति ते च वलयाकृतयः । जम्बूद्वीपस्योत्तरे भागे जम्बूवृक्षैः सुशोभितं कुरुक्षेत्रमस्ति, अतोऽस्य जम्बूद्वीपमिति नाम प्रसिद्धम् । जम्बूद्वीपे सप्तक्षेत्राणि मध्ये मेरुरन्ये च षड्वर्षधरपर्वताः सन्ति । अस्य दक्षिणभागेऽष्टम्याश्चन्द्राकृति भरतक्षेत्रमस्ति, तच्च सिद्धाचलादिमहातीर्थानामाश्रयत्वात्सर्वक्षेत्रेषु श्रेष्ठतमं गण्यते । वैताढ्यपर्वतेन गङ्गासिन्धुनदीभ्यां च षड्भागेषु विभक्तमस्ति, उक्तयोर्नद्योश्चतुर्दशसहस्रमिता नद्यः पतन्ति । भरतक्षेत्रे द्वात्रिंशत्सहस्र प्रमिता देशा विराजन्ते, येषु सार्धपञ्चविंशतिदेशा आर्याश्चान्ये सर्वेऽनार्याः सन्ति । भरतक्षेत्रस्य षट्खण्डेषु दाक्षिणात्यमध्यखण्डस्य प्राच्यप्रदेशो रमणीयतरोऽस्ति, सूर्याचन्द्रमसौ तत्रैवोदयेते । चन्द्रस्य तद्देशसंचरणादेव षोडशकलाप्राप्तिर्भवति। जगत्पावनी गङ्गापि तत्रैव भरते प्रवहति, अस्य महामहिमदेशस्य मध्यभागे रमणीयतराऽ*ऽभापुरी*नामनगरी बभूव। यस्याः सौन्दर्यं विलोक्य लङ्काऽलकादिनगर्योऽपि लज्जां प्राप्तवत्यः। अस्यां चतुरशीतिसङ्ख्याकं चतुष्पथं, चतुर्भागेषु महोन्नतः प्राकारो मध्ये महेभ्यानां निवासश्चासीत् । तत्रत्याः सर्वे दानवीराः कृपणास्तु

तत्रान्विष्यमाणा अपि नामिलन् । व्यापारिणो धनवन्तः स्त्रियश्चाति-रूपवत्य आसन्। सहैव जिनमन्दिरैः सा नगरी सुशोभिताऽऽसीत्। अस्यां नीतिज्ञो यत्नेन प्रजापालको *वीरसेनो* नाम राजा राज्यं चकार। यतः-

दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा, न्यायेन कोशस्य च संप्रवृद्धिः ।
अपक्षपातो रिपुराष्ट्ररक्षा, पञ्चैव यज्ञाः कथिता नृपाणाम् ॥१॥

तस्य *वीरमती* नाम्नी पट्टराज्ञी बभूव । एकस्मिन् दिवसे तस्यां नगर्यां घोटकव्यापारिणः समायाताः, तेषां पार्श्वेऽनेकजातीया उत्तमोत्तमघोटका आसन् । राज्ञा समुचितमूल्यदानेन सर्वे घोटकाः क्रीताः । तेष्वेकोऽतीव सुन्दरः शिक्षितवक्रगतिः परमेतद्वृत्तं राज्ञोऽविदितमासीत् । एकदा राजा सैन्यैः सह मृगयार्थं तमश्वमारुह्य वनं जगाम । तत्रानेकविधानां वन्यपशूनामाखेटं कृत्वा दृष्टिपथ-मागतमेकं मृगमन्वधावत् । जिघांसुं तं ज्ञात्वा मृगोऽप्युच्छलन्नदुद्रुवत्। कृतानेकोपायोऽपि राजा तमात्मसात् कर्तुं न शशाक । प्रान्ते प्राप्तश्रमो राजा धावन्तमश्वं रोद्धुं मनश्चक्रे तथा कृतेऽपि मुखरज्जु-संयमनेऽश्वो द्विगुणजवेन धावितुं लग्नो वस्तुतोऽस्यैतादृशी शिक्षैव विपरीताऽऽसीत् । अतो रोद्धुं चेष्टमानेऽपि राजनि सोऽधिकतरं धावितुमलगत् । राज्ञः सैनिकाः सहचराश्च पश्चादेव स्थितास्तदाश्वस्तु धावन्नेव गतवान्, स कुत्र कदा वा स्थास्यतीति निश्चयोऽपि नासीत् । इत्थं चिन्ताविष्टस्य राज्ञो नातिदूरे सुशोभितस्तडागस्तस्य समीपस्थ एको वटवृक्षो नेत्रगोचरोऽभूत् । अस्य वृक्षस्याधोभागे गते सति वृक्षशाखामवलम्ब्य घोटकं त्यक्ष्यामीति राजा मनसि निश्चिकाय । दैवयोगादश्वोऽपि तद्वृक्षाधस्त एव निःसृतवान् ।

राजा वृक्षाधो गच्छन्नेव शाखां गृहीतवान्, इतोऽदृढमुखरश्मिरश्वोऽपि स्वयमेव तत्रैव तस्थौ । एतेन साश्चर्यो राजा तस्य वक्रगतिशिक्षा-मवेदीत् ।

मार्गपरिश्रमेण क्लिन्नदेहो नृपतिस्तमश्वं तस्मिन्नेव वृक्षे बद्ध्वा तडागमभिययौ । निर्मलशीतलजलेनाऽऽपूर्णः परितः स्फटिकबद्ध-घट्टस्तडाग आसीत् । पुनरसौ यथा ग्रीष्मार्तान् पथिकानाहूय शीतलच्छायाप्रदानेन स्वागतं प्रकुर्वन्निवासीदिति । राजा हस्तौ पादौ मुखं च प्रक्षाल्य किञ्चित्कालं विश्रामं कृत्वा जलं च पीत्वा श्रमेऽपनीते सति तडागमभितो भ्रामं भ्रामं तस्य मनोहारिणीं शोभां द्रष्टुं लग्नः । एवं परिभ्रमतो राज्ञो दृष्टिर्लोहजालिकोपरि पतिता । तस्या अधस्तले कतिचिन्निश्रेणयोऽपि दृष्टिपथमागताः। राज्ञा कौतुकाज्जालमपनीय निर्भीकतया खड्गं हस्ते कृत्वा निःश्रेणिमार्गेण तस्मिन् गुप्तस्थाने प्रविवेश । निःश्रेणिरचना च नातिदूरं यावदासीदिति किञ्चिदेव दूरं गते राजनि पातालाभ्यन्तरे विशालमेकं वनं राज्ञो नेत्रगोचरमभूत् । धैर्यधर्मपुण्यपुरुषार्थाश्चैते चत्वार एव तस्य सहचराः सद्रक्षका आसन् । यतो नीतिशास्त्रे-प्युक्तम् -

उद्यमं साहसं धैर्यं, बलं बुद्धिः पराक्रमः ।
षडेते यस्य विद्यन्ते, तस्माद्देवोऽपि शङ्कते ॥२॥

अतो निरन्तरमग्रे गमनान्न विरराम । वने कियद्दूरे गते रुदत्याः कस्याश्चित्कन्यायाः स्वरस्तस्य कर्णे निपतितः । अनेन साश्चर्यो राजा चकितः सन् मनसि विचारयामास, अस्मिन्पाताले वनमेतत्, वने चैतत्कन्याया रोदनं कथम् ? अस्त्यस्मिन् किञ्चिद्र-

हस्यमिति निश्चयन् कन्यायाः करुणस्वरो मर्मस्पर्शी वर्त्तते । साऽऽपदि पतिता स्यान्नकिम् ? कोऽपि तस्यामत्याचरेन्न वा किम्? समयातिक्रमस्यावसरो नासीदिति, यद्दिशातः स स्वर आगत-स्तस्यामेव दिशि स शीघ्रतया चचाल । खड्गहस्तश्च स क्षणमात्रेणैव तं देशं प्राप ।

तत्रोपविष्टः कश्चिद्योगी राज्ञा दृष्टो यस्य नेत्रे पिहिते स्तः। हस्ते पुष्पस्रक् चाग्रे पुष्पधूपादिपूजासामग्री निहितास्ति । समीपेऽग्निकुण्डमस्ति यस्मादग्निज्वाला निःसरति । पार्श्वे खड्गोऽ-परस्मिन् भागे काचित्कन्योपविष्टास्ति, तस्या हस्तौ पादौ च दृढबन्धनेन बद्धौ स्तः । सा च तस्यामेवावस्थायामुपविष्टा सती करुणाक्रन्दनं कुर्वत्यस्ति । एवंविधां सज्जितसामग्रीं पश्यत एव राज्ञः सर्वं वृत्तं स्वत एव विदितमभूत् । स च कन्यामभिचचाल तमागच्छन्तमेव सा कन्याऽऽहूयाऽवादीत्- हे आभानरेश ! शीघ्रं मे प्राणान् रक्ष, अयं नराधमो योगी मां बलिदानं कर्तुमिच्छति । एकस्या अपरिचितायाः कन्याया मुखात्स्वनाम श्रुत्वा राज्ञ आश्चर्यं समजायत । स च शान्ततया स्थातव्यमिति कन्यायै संकेतं कृत्वा, योगिनः समीपे निहितं खड्गं तूष्णींभावेनोत्थापितवान् । पश्चात्तारस्वरेण तं योगिनं प्रत्युवाच-अरे निर्दय ! निर्लज्ज ! पापिष्ठ ! दुरात्मन् ! अधुना बकध्यानेन कार्यं न चलिष्यति । उत्तिष्ठ मुञ्चैनां बालिकां, मया सह युद्धं कुरु, मम समक्षेऽस्या बलिदानं तु भवितुमेव कथमर्हति ? परं चाहं त्वां जीवन्तं न त्यक्ष्यामि ।

यतः -

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा, दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति, नरकं चाधिगच्छति ॥३॥

राज्ञश्चैतादृशं वचनं श्रुत्वा योगी संक्षुभ्योत्तस्थौ । तेन परितो ददृशे परं तस्य स्वात्मरक्षार्थं कोऽप्युपायो दृष्टिगोचरो नाभूत् । स कथमपि प्राणान् गृहीत्वा पलायनमेवोचितं मेने ।

यतः -

वायुना यत्र नीयन्ते, कुञ्जराः षष्टिहायनाः ।
गावस्तत्र न गण्यन्ते, मशकस्य तु का कथा ? ॥४॥

राजा च योगिनं ज्ञात्वा तस्यानुधावनं समुचितं न मेने, तत्र तस्य कोऽपि सहचरोऽपि नासीत् । राजा च तत्क्षणमेव तां बन्धनान्मोचयित्वा सादरं तामपृच्छत् - अयि बाले ! त्वं कस्य पुत्र्यसि ? अस्य योगिनश्च जाले कथं पतिता ? कथं वा मां जानासि ? मयि तवायं प्रेमभावः कथम् ? सा तु *वीरसेन*नृपं पूर्वत एव ज्ञातवत्यासीत्, अतो मनसि किञ्चिल्लज्जावती बभूव ।

यतः-

असन्तुष्टो द्विजो नष्टः, संतुष्टश्च महीपतिः ।
सलज्जा गणिका नष्टा, निर्लज्जा च कुलाङ्गना ॥५॥

ततः सा भूमिं पश्यन्त्युवाच - हे स्वामिन् ! आभापुरीतः पञ्चविंशतियोजनदूरे *पद्मापुरी* नगरी, तस्या नृपः *पद्मशेखरो* मम पिता, पट्टराज्ञी *रतिरूपा* च मम माता, तत्पुत्र्याश्च*न्द्रावती* च मे नामास्ति । जैनधर्मे मे प्रीतिस्तस्यैवाराधनामहं करोमि । पूर्वस्मिन् कियत्काले यदा बाल्यमतिक्रम्य यौवने पदार्पणं कृतवती तदा मे

पिता मम विवाहस्य चिन्तां कर्तुं लग्नः ।

यतः-

कन्येति जाता महती हि चिन्ता, कस्मै प्रदेयेति महान् वितर्कः।
दत्ता सुखं यास्यति या न वेति, कन्यापितृत्वं खलु कष्टदायि॥६॥

तावदेवैकस्मिन् दिने कश्चिन्मौहूर्तिकस्तत्राजगाम, तातश्च मद्विवाहविषयं तं पर्यपृच्छत्, स च तव पुत्र्या आभानरेशेन सह परिणयो भविष्यतीति मे पितरं जगाद । श्रुत्वैतद् वृत्तं स मे जनको *पद्मशेखर*नृपो भृशं तुतोष, अहमपि स्वप्रियस्य नाम गुणशरीरसौन्दर्यसल्लक्षणादिकं ज्ञात्वाऽऽनन्दमगच्छम् । तदनन्तरं गणकाय वस्त्रभूषणद्रव्यादिकं पारितोषिकं दत्त्वा व्यसर्जयत् ।

अथाहमेकदा स्ववयस्याभिः साकं जलक्रीडार्थं गतवती, तत्रैव प्रथममहमेनं योगिनमपश्यम् । अयमिन्द्रजालं कृत्वा सखीनेत्रं बबन्ध, मां च संमोहयित्वोत्थाप्यानयत् । अस्य पूजाविधिं दृष्ट्वाऽहमस्योद्देशमवागच्छम् । स्वस्य च नाशं निकटं ज्ञात्वा रोदितुं लग्ना, सौभाग्यवशादुचितकाले भवानत्रागतोऽतःपरं यत्किञ्चिदभूत्तद् भवान् जानात्येव, परं हे गुणसागर! भवद्भिरन्या नहि किन्तु स्वकीयैव स्त्री रक्षिता ।

यदुक्तं-

पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रश्च स्थाविरे भावे, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥७॥

इति भवत इदं कार्यमुपकाररूपेण नाहं मन्ये, पुनर्नाहं याचिकास्मि, यतो याचिका चेत्स्यां धन्यवादमपि दद्यां भवतो

यशोगानं च कुर्याम् । मां कथमभिजानासीति यद्भवानप्राक्षीत्तत्तु मत्कृते भवतः सदाचरणसुलक्षणादिकमेव भवतोऽभिज्ञानाय पर्याप्तमासीत् ।

यतः-

आचारः कुलमाख्याति, देशमाख्याति भाषणम् ।
संभ्रमः स्नेहमाख्याति, वपुराख्याति भोजनम् ॥८॥

एतादृशि विपदि प्राणनाथमन्तरा कोऽन्यः सहायो भवितुमर्हेत्स्वप्रियायाश्च प्राणान् रक्षेत् । चन्द्रावत्या एतद्वचनं श्रुत्वा राजा वीरसेनः परं मुमोद । स तां गृहीत्वा तेनैव मार्गेण बहिर्निःससार येनान्तरगमत्तस्मिन्नेव क्षणे तस्य सेना सहचराश्च तत्पादचिह्नं पश्यन्तस्तत्राजग्मुः, सर्वे च राजानं प्रणेमुः । राज्ञः प्रियार्हाः कुशलवृत्तं पृच्छन्तो राजानं प्रोचुः-राजन् ! एकाकिनो भवत इत्थमाखेटानुधावनमुचितं नासीत् । जगति रत्नानि रत्नधियैव रक्षणीयानि । भवन्तश्चास्मादृशाममूल्यरत्नान्येव सन्ति । पुनः संसारे सज्जनापेक्षया दुर्जना एव बहुला भवन्ति । भवन्तश्चातीव भाग्यशालिनोऽतो भवतां कष्टमनायासेन दूरीभूय संपत्तिप्राप्तिमेव विदधाति । परमस्माभिः स्वस्थैः कथं भाव्यं ? कुशलिनं भवन्तं दृष्ट्वाऽस्माकं नूतनं जीवनमिवावाप्तमस्ति । परं हे राजन्! भवांस्त्वेकाक्येवागतवानासीदिदानीं भवता सह रमणीवरेयं कास्ति? राजा सर्वमात्मवृत्तं कथयति स्म । तन्निशम्य सर्वे सानन्दा बभूवुः। राजा *वीरसेनः* स्वसैन्यै राजकन्यया च सह निजनगरीमाजगाम । आगच्छन्नेव स्वदूतं प्रेषयित्वा राज्ञे *पद्मशेखराय* विज्ञापितवान् तव पुत्री *चन्द्रावती* सात्रागता श्रीमता सह

मिलितुमुत्कण्ठितास्ति । भवान् यद्यत्रागमनकष्टमुदवक्ष्यत् तर्हि महती कृपाऽभविष्यत् । एतद् वृत्तं शृण्वन्नेव राजा *पद्मशेखर आभापुरी*माजगाम, तत्र पितापुत्र्योर्मिलनमभूत् । सा सर्वां वार्तां पित्रे निवेदितवती, तां श्रुत्वा *पद्मशेखरस्य* हृदि हर्षं न ममौ । स च *वीरसेनाय* धन्यवादं दददुवाच-भवता यदस्माकमुपकृतं तस्य प्रत्युपकारं तु कथमपि कर्त्तुं नार्हामि । एतदर्थं भवतश्चिराय ऋणीभूतोऽस्मि । किन्त्वहमेवमिच्छामि यद् भवानस्मत्कन्यायाः पाणिग्रहणं कृत्वा, मह्यं स्वकृतज्ञतां व्यक्तीकर्तुमवसरप्रदानं कुर्यात्। याथार्थ्यं तु हे राजन्! गणकस्य कथनानन्तरमेव मयेयं योग्यवराय भवते समर्पितेति जानीहि ।

यतः-

कुलं च शीलं च सनाथता च, विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च ।
वरे गुणाः सप्त विलोकनीया-स्ततःपरं भाग्यवशा हि कन्या॥९॥

इत्थं राजा *वीरसेनः पद्मशेखर*नृपस्यात्याग्रहं ज्ञात्वा तस्येमां प्रार्थनां स्वीचकार । मौहूर्तिकमाकारयित्वा शुभमुहूर्तं निश्चित्योभयोर्विवाहो महोत्सवेन सम्पन्नोऽभूत् । अस्मिन्नवसरे समस्तैरपि नगरवासिजनैर्विवाहमहोत्सवः कारितः । सर्वे नागरिका अनेन विवाहेन परमानन्दं प्रापुः । परं खलप्रकृतिरेका *वीरमत्ये*वैतादृशेन माङ्गलिकेन शुभकर्मणापि मनसि दुःखिनी बभूव ।

यतः -

उज्ज्वलगुणमभ्युदितं, क्षुद्रो द्रष्टुं न कथमपि क्षमते ।
हित्या तनुमपि शलभः, शुभ्रं दीपार्चिरपहरति ॥१०॥

समाप्ते सर्वविवाहशुभकार्ये *पद्मशेखरः* स्वनगरं प्रत्याययौ। इति दम्पत्योः कालः सुखेन व्यत्येतुं लग्नश्चोभयोः प्रेम प्रतिदिनं वर्धमानमेवासीत् । एतेन *वीरमत्या* मनसि सपत्नीं प्रति द्वेषानलो जज्वाल । *चन्द्रावती* तु सरलस्वभावाऽतः सा *वीरमतीं* स्वभगिनी-मिव मन्यते स्म । स्वामिनः सुखसम्बन्धे च सदैव तत्पराऽऽसीदतो राजापि सद्गुणवत्या तयैवात्मानं धन्यं मन्यते स्म ।

यतः-

क्रोधे दासी रतौ वेश्या, भोजने जननीसमा ।
आपत्तौ मन्त्रदात्री च, सा भार्या भुवि दुर्लभा ॥११॥

इत्थं तस्या जीवनं सुखेन गन्तुं लग्नं परं वीरमत्याः सर्वं चेष्टितं विपरीतमेवासीत् । सा चोभाभ्यां मनसा क्रुध्यति स्म । तस्मिन्नेव समये *चन्द्रावत्या* गर्भे पुण्यवतः कस्यचिज्जीवस्यागमनं बभूव । तद्रात्रावेव सा स्वप्ने चन्द्रं ददर्श स्वप्नश्चायं सर्वथा शुभ-सूचकोऽभूत्, ततोऽवगते राजनि स परं मुमुदे । पूर्णे च गर्भसमये योग्यकाले सा पुत्ररत्नं सुषुवे । तेन चाखिलेऽपि नगरे महानन्द-कल्लोल उच्छ्रयते स्म । नगरे प्रतिगृहे मङ्गलाचरणं जातम्, राजा च दीनजनेभ्यः प्रभूतं दानं पशुभ्यो घासादिकमाश्रितेभ्यो मित्रेभ्य-श्चोपायनं सज्जनेभ्यः सत्कारप्रदानमेवं सर्वानपि नागरिकान् यथा-योग्यं सन्तोषयामास । द्वादशे दिने सर्वेषां सभ्यानां समक्षे राज्ञ्याः स्वप्ने चन्द्रदर्शनादस्य बालस्य '*चन्द्रकुमार*' इति नाम चकार । पित्रोः प्रयत्नेन शुक्लपक्षस्य चन्द्रमिव तं कुलदीपकं *चन्द्रकुमारं* सुखेनैधमानं सर्वे दृष्ट्वा मुमुदिरे ।

यतः-

शर्वरीदीपकश्चन्द्रः, प्रभाते रविदीपकः ।
त्रैलोक्ये दीपको धर्मः, सुपुत्रः कुलदीपकः ॥१२॥

परं पुण्यशाली सकलजनमनोरञ्जकोऽपि स *चन्द्रकुमारो वीरमत्या* द्वेषाग्नावाज्याहुतिपात इवाऽजनि ॥

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्य द्वितीयपरिच्छेदे वीरमत्याः पुत्रकामना

दिने दिने शुक्लपक्षीयचन्द्रमिव वर्धमानं रमणीयतरं तं सुबालं दृष्ट्वा राजा वीरसेनो मनस्येव मुदमावहन्स्वजीवनं सार्थकममंस्त। *चन्द्रकुमारः* प्रतिदिनं नवां नवां क्रीडामक्रीडदिति पितरौ तस्य रक्षणार्थं सयत्नावास्ताम्। *वीरमती* मनस्येव क्रुध्यन्ती तथावसरे प्राप्ते सा कुमारस्य जीवनोपरि विपद्गिरिमपि पातयितुमिच्छतीति पित्रोर्न विदितमासीत्किम्? तया चन्द्रावत्याः परिणय एवासह्यमान आसीत् किं पुनस्तस्या गर्भतः पुत्रजन्मेति, तत्तु नितरामसह्यं भूत्वाऽऽपतितम्। शुद्धराजवीर्यप्रभवत्वादतीवमनोहरश्चन्द्रकुमारो बाल्यावस्थाया अस्फुटवचनेनासमग्रां वार्तां कथयित्वा सर्वेषां मनांस्यानन्दयति स्म। किन्त्वेका *वीरमत्येव* तत्रापवादरूपाऽभूत्। जैनधर्मे नितरामनुरक्ता सा *चन्द्रावती* विविधैः प्रकारै राजानं प्रतिबोध्याऽऽखेटकादिसप्तव्यसनेभ्यो न्यवारयत्। तस्या वचनप्रभावेण राज्ञोऽपि हृदये जैनधर्मे रतिः प्रादुर्बभूव। अतोऽसौ सदाचरणं कुर्वन् मानुष्यं जन्म सफलं करोति स्म।

यतः –

पूजामाचरतां जगत्त्रयपतेः सङ्घार्चनं कुर्वतां,
तीर्थानामभिवन्दनं विदधतां जैनं वचः शृण्वताम्।
सद्दानं ददतां तपश्च चरतां सत्त्वानुकम्पाकृतां,

येषां यान्ति दिनानि जन्म सफलं तेषां सुपुण्यात्मनाम्॥१३॥

ततः सोऽपि बहूनि जिनचैत्यान्यचीकरत् । स्वबन्धूनिव श्रावकान् भृशं सन्तोषयति स्म, मुनीनामपि भक्तिं चकार । यतः सत्सङ्गात् किं न सिध्यति ।

तथोक्तम् -

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं,
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम् । ॥१४॥

इति लोकोक्तिरपि यथार्थतामाप । यदा शनैः शनैश्चन्द्र-*कुमारो*ऽष्टवार्षिको जातस्तत एव सुयोग्यस्य कस्यचिद् गुरोः समीपे विद्याभ्यासं कर्तुं लग्नः । स्वल्पकालेनैव स बृहस्पतिरिव सुबुद्धिबलेन सकलविद्याकलादीनां पारं जगाम ।

यतः-

श्रियं प्रसूते विपदं रुणद्धि, श्रेयांसि सूते मलिनं प्रमार्ष्टि ।
संस्कारयोगाच्च परं पुनीते, शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः ॥१५॥

अतः प्रकर्षमाधारवशं गुणानामिति सत्यमस्ति, तत्र गुरुः केवलं साक्षिमात्रो भवति । कियद्दिनानन्तरं ऋतुराजवसन्तस्या-गमनं बभूव । सर्वाण्युपवनानि फलपुष्पसमृद्धिवन्ति सुशोभितानि चासन् । कामोद्दीपकसाधनेषु वृद्धिर्बभूव, आम्रमञ्जरीर्भुक्त्वा कोकिला अपि मधुरं चुकूजुः । वातप्रेरिताः सपुष्पा लता विलासिनो रत्यर्थं प्रेरयन्तीति मन्ये, अस्मिन्नेव समय आभानरेशः सह पत्नीभ्यां

परिवारश्चोद्याने क्रीडनार्थं जगाम । तत्र च स्वेच्छया क्रीडितुं लग्नः । केचित्कुङ्कुमोत्क्षेपणं केचित्केशरोत्पाटनं केचन वृक्षेषु हिन्दोलक्रीडयाऽऽनन्दमापुः । *चन्द्रकुमारः* स्ववयस्यै राजपुत्रैः सह पुष्पकन्दुकं निर्माय क्रीडायां निमग्नो बभूव । चैवं सर्वेऽपि विविधासु क्रीडासु तत्परा अभूवन् परमेतत्सर्वं दृष्ट्वा खलप्रकृतित्वाद् *वीरमत्या* मनसि द्वेषाग्निः प्रजज्वाल ।

यदुक्तम्-

उपकारिण्यपि सुजने, स्निग्धेऽपि खलास्त्यजन्ति न प्रकृतिम्।
ज्वलति जलैरपि सिन्धो-रङ्के निहितोऽपि वडवाग्निः ॥१६॥

अपि च तस्या मनोदुःखं नेत्राम्बुरूपेणोच्छलदिव बहिर्निरगलदिति *वीरमतीं* विमनस्कां दृष्ट्वा सख्यः पप्रच्छुः-वयस्ये ! अस्मिन्नानन्दसमये भवती कथं विमना लक्ष्यते ? कन्दर्पोपमस्तव पतिः क्रीडति, *चन्द्रकुमारोऽ*पि तव समीप एव रमते तत्पश्य, पुनः कथं भवती शोकमग्नेव दृश्यते ? किं केनापि किमपि कथितमुत केनाप्यपराद्धम् ? एतन्निशम्याऽपि वीरमती किमपि प्रत्युत्तरं नाऽदात्तस्या मनः सम्प्रत्यन्यविषयासक्तमासीत् । *चन्द्रकुमारः* सहचरैः सहाऽरंस्त, तस्या अङ्कं शून्यमासीत् ।

यतः-

उत्पतन्निपतन् रिङ्खन्, हसंल्लालायलीर्वमन् ।
कस्याश्चिदेव धन्यायाः, क्रोडमायाति नन्दनः ॥१७॥

अतः सा शीतलमुच्छ्वसन्ती दुर्भाग्यमुपगर्हन्ती मनस्येवाऽवक्- हे दैव ! अहं पूर्वजन्मनि किं पापं कृतवती ? येन

ममाङ्कं शून्यमस्ति, यथा मनो विना प्रेम निःसारं भवति, तथैव पुत्ररहितं मे जीवनमपि निःसारं प्रतिभाति ।

यथा वा जीवितं विना शरीरं, दीपं विना गृहं, गन्धं विना पुष्पं, जलं विना सरः, दयां विना ज्ञानं धर्मं च, प्रियवाक्शून्यं दानं, मूर्तिं विना मन्दिरं, विना दन्तैर्भोजनं, पानीयं विना मेघः, चन्द्रं विना रात्रिः शोभां नैवाऽऽवहति, तथैव पुत्रं विना कामिन्यपि शोभां न प्राप्नोति । एते देशनगरभाण्डागारप्रासादोपवनर्द्धि-सिद्धिप्रभृतयः कदा कस्मिन् वा कार्ये ममोपभोगं यास्यन्ति ? पुत्रशून्यगृहे केऽपि पदमपि न निदधति, इह संसारे यस्य गृहे सुपुत्रोऽस्ति तस्यैव जीवनं सफलमस्ति सुगतिश्चापि जायते । उक्तमपि-

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च ।
तस्मात्पुत्रमुखं दृष्ट्वा, स्वर्गं गच्छन्ति मानवाः ॥१८॥

तच्छून्यस्य तु सर्वथा निष्फलमेव गार्हस्थ्यमित्थं मनसि विचारयन्ती *वीरमती* विविधान् कुतर्कान् कृतवत्यासीत्तस्मिन्नेवाव-सरेऽकस्मात्समीपस्थमाम्रवृक्षमेकः शुक आगत्याऽधितष्ठौ, विमन-स्कां राज्ञीं दृष्ट्वा तस्य कीरस्य हृदयं सिष्विदे । स मनुष्यवाचो-वाच-अयि सुन्दरि ! कस्मात्त्वमेतस्मिन्नानन्दसमय इत्थं शोकमाव-हसि, कथं वा रोदिषि ? किं ते दुःखं, का वा चिन्तास्ति ? शुकस्यैतद्वचनं श्रुत्वा ऊर्ध्वं पश्यन्त्या राज्ञ्या दृष्टिः शुकोपर्यपत-त्सचकितया तया प्रोचे - हे शुक ! त्वमस्येकः पक्षी, वने निवास आकाशे विचरणं च ते कार्यमस्ति, वनवासिनस्तिर्यञ्चः प्रायेण

विवेकशून्या भवन्ति, तन्मां दुःखवार्तां पृष्ट्वा किं करिष्यसि ? त्वां विज्ञाप्य को वा लाभः ? यदि त्वं मे दुःखं न्यवारयिष्यत्तदाहमकथयिष्यम्, किन्तु नाहं तथा यत्सर्वेषां समक्षं दीनं वचो ब्रवीमि।

यतः-

रे रे चातक ! सावधानमनसा मित्र ? क्षणं श्रूयताम्,
अम्भोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः ।
केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति धरणीं गर्जन्ति केचिद् वृथा,
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ॥१९॥

राज्ञ्याः साभिमानमेतद्वचो निशम्य शुकः किञ्चित्क्रुध्यन्नवदत्- अरे ! त्वमात्मानं कुशलं मन्वाना कथं गर्वं करोषि ? त्वया मनसि विचारितमासीद्यदेकः पक्षी किं कर्तुं प्रभविष्यति, परमहं तुभ्यं ज्ञापयितुमिच्छामि यद्यत्कार्यं मनुष्यः कर्तुं न शक्नुयात्तत्पक्षी कर्तुं शक्नोति । नाहं तवैतद्वचनं कदाचिदपि मंस्ये, इति *वीरमती*कथनान्तरं शुको जगाद-तवैतन्मौढ्यमस्ति, त्वं पक्षिणं तुच्छं जानासि । परं पश्य-*श्रीकृष्ण*स्येव पुरुषोत्तमस्यापि वाहनं गरुडोऽस्ति, *सरस्वत्याश्च* हंसः । त्वया श्रुतमासीत् यदेकस्य पक्षिणोऽण्डानि समुद्रोऽहार्षीत्तदा सर्वान् पक्षिणः सङ्घीकृत्य समुद्रात्पश्चादानिन्ये, क एकः पक्षी एव ? एका वणिग्भार्या कामातुरा सती कुमार्गं गन्तुं प्रवृत्ता ।

यतः-

अर्थाऽऽतुराणां न सुहृन्न बन्धुः,
क्षुधाऽऽतुराणां न वपुर्न तेजः।

कामाऽऽतुराणां न भयं न लज्जा,
चिन्ताऽऽतुराणां न सुखं न निद्रा ॥२०॥

तदानेकां वार्तां श्रावयित्वा कुपथात्को न्यवारयत् ? शुक एव। नलदमयन्त्योर्मिलनमपि हंसस्यैव कृपयाऽभूत् । अस्म्यहं पक्षी तेन किमभूत् ? यद्येकमप्यक्षरं पठामि, तथापि तत्कदापि नैव विस्मरामि । मनुष्यास्तु शास्त्राण्यधीत्यापि तेषां सारं न गृह्णन्ति । शास्त्रकारेणास्मभ्यमपि तदेव पदं दत्तं यच्च मानवेभ्यो, न वयं केभ्योऽपि न्यूना इति तत्तात्पर्यम्। केवलं न्यायार्थमेव मया स्वजातिप्रशंसा कृता । विश्वसनीयं त्वया यन्नाहं किञ्चिन्मिथ्या ब्रवीमि । चातुर्यगर्भितं शुकस्यैतद्वचनं श्रुत्वा *वीरमती* परमानन्दं प्राप्य जगाद–त्वमतीव साधुश्चतुरश्च संलक्ष्यसे तव वचनं च परं मधुरमस्ति । त्वं च सच्चरित्रः प्रतिभासि, अवश्यं तेऽहं स्वदुःखं कथयिष्यामि । परमेतत्पूर्वं कथय त्वयेयं शिक्षा कुत्र कस्माच्च प्राप्ता ?

शुकोऽवदत्–एको विद्याधरो मां स्वर्णपञ्जरे निगृह्य स्वपार्श्वे यत्नेन रक्षितवानासीत् । एकदा स मां सपञ्जरं गृहीत्वा साधुवन्दनार्थं गतस्तत्र मुनिवन्दनया सर्वं मे पापं ननाश । मुनेरुपदेशो मे प्रियतरोऽलगत्सो मां पञ्जरे रुद्धं दृष्ट्वा तिर्यग्बन्धनजन्यं पापं व्यवर्णयत् । विद्याधरश्च मुनेरुपदेशं श्रुत्वा मां बन्धनमुक्तं चकार, मुनिराजेनाप्येवं मे बहूपकृतम् । तदारभ्यैवाहं स्वतन्त्रतया विचरामि तथाद्याहमस्यामेव दिशि निःसृतः, सुन्दरं चेमं वृक्षं दृष्ट्वोपाविशं, तदनन्तरं यदभूत्तदवगच्छस्येव । अतःपरं त्वं स्वदुःखकारणमावेदय, तुभ्यं मृषा सान्त्वनां नाहं ददामि, यावत्साध्यमहं ते दुःखमवश्यं निवारयिष्यामि ।

शुकोक्तं श्रुत्वा प्रसन्नीभूय निजमान्तरिकं दुःखं *वीरमती* निवेदयिष्यन्त्युवाच-अये भ्रातः *शुक* ! यदि मन्त्रयन्त्रौषधयस्तव ज्ञाताः स्युस्तर्हि मां कथय, येनाहं पुत्रमुखं द्रष्टुं शक्नुयाम् । यदि तव विद्यास्मिन् संकटे नोपयोगं यास्यति तर्हि कदाऽऽगमिष्यति? अतोऽधिकतरं निवेदनमनुचितमिति त्वं मे दुःखं दूरीकुर्याश्चेदद्यप्रभृति त्वां भ्रातृसमं मंस्ये । नवलक्षमूल्यकं हारं ते परिधापयिष्यामि, पुनरुत्तमं भोजनं खादयिष्यामि, तवोपकारं च स्वीकरिष्यामि । शरणागताहं ते निष्कपटभावेन सर्वं वृत्तं निवेदितवती ततोऽधुना त्वं केनापि प्रकारेण पुत्रमेकं दत्त्वा सनाथं मे जीवनं कुरु । श्रुत्वैतत्सर्वं वृत्तान्तं शुकोऽकथयत् - देवि ! दुःखिनी मा भूः । का मे शक्तिर्ययाहं किञ्चित्कर्तुं शक्नुयां परमीश्वरः सर्वेप्सितं पूरयिष्यति। केवलमहं तूपायं दर्शयिष्यामि, पुनरद्यारभ्य त्वयि स्वसृवदाचरिष्यामि । त्वत्कृते बन्धुत्वेन यथाशक्ति चेष्टिष्येऽतस्त्वं दुःखचिन्तां विहाय शान्तिं धेहि ।

यदुक्तम्-

स बन्धुर्यो विपन्नाना-मापदुद्धरणक्षमः ।
न तु भीतिपरित्राण-वस्तूपालम्भपण्डितः ॥२१॥

शुकोक्तवचनेन *वीरमत्याश्चे*तः किञ्चिच्छान्तिमाप, शुकः स्तोकं विरम्य पुना राज्ञीमुवाच- देवि ! साम्प्रतमहमेकमुपायं दर्शयामि तच्छृणु-अस्यारण्यस्योत्तरे भागे एकस्मिन्नुद्याने श्रीऋषभदेवस्वामिनश्चैत्यमस्ति । तत्र चैत्रपूर्णिमादिने नृत्यसामग्रीं गृहीत्वा बह्व्योऽप्सरसो महोत्सवं कर्तुमागच्छन्ति । तासु या प्रधाना सा

नीलवस्त्रभूषणादिकं परिधत्ते, यदि तस्यास्तद्वस्त्रं केनाप्युपायेन करस्थं स्यात्तदा तव कार्यं सेत्स्यति । कथमयं जानातीति कदाचित्ते संदेहो भवेत् ? तर्हि गतवर्षेऽहं तेन विद्याधरेण सह तत्रागत आसमतोऽहं सर्वं जानामि तद्विद्धि । अस्मिन् वर्षे चैत्रपूर्णि-मायां त्वयैकाकिन्यैव तत्रावश्यं गन्तव्यं, कथमपि स्वकार्यं साधनी-यम् । एवमुक्त्वा शुकस्तत उत्पपात । तद्वियोगाद्वीरमत्या नयनेऽश्रुपूर्णे बभूवतुः । पश्चाच्छनैः शनैः सन्ध्या जाता स *वीरसेनो* राजा सपरिवारो नगरमाययौ, *वीरमती* स्वहर्म्यं जगाम । अल्पकालेनैव सा चैत्रीपूर्णिमा समुपस्थिता । स्मृतशुकवचना *वीरमती* कथमपि दिवसं व्यतीत्य समागतायां रात्रावन्यवेषं कृत्वा, हर्म्यं दास्यै समर्प्यैकाकिन्येव ततश्चचाल । यद्यपि साऽबलासी-त्तथापि स्वार्थ-वशेन पुरुषोचितकार्यकरणात्तस्याः साहसस्य वीरत्वस्य चावश्यकताऽऽसीत् । लोके खलु स्वार्थोऽपूर्वः पदार्थो-ऽस्ति, यस्य सिद्ध्यर्थं मनसा वाचा कायेन च प्राणिनश्चेष्टन्ते। परं सिद्ध्यसिद्धी तु दैवाधीने भवतः ।

यतः-

उद्यमं कुर्वतां पुंसां, भाग्यं सर्वत्र कारणम् ।
समुद्रमथनाल्लेभे, हरिर्लक्ष्मीं हरो विषम् ॥२२॥

तथापि सत्पुरुषाः स्वोद्योगान्न स्खलन्ति ।

यदुक्तम् -

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
र्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।

दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥२३॥

वीरमती त्वेका राज्ञ्यासीत्तया कदाचिदप्येकाकिन्या हर्म्याद्बहिः पादौ न निहितौ, तथापि निर्भीकतया नगराद्बहिर्निःसृत्य तस्योद्यानस्याभिमुखं सा चचाल, यच्छुकोऽदर्शयत् । आकाशे निर्मलश्चन्द्रो हसन्निवाऽऽसीत् भूमौ लतावकाशेषु चन्द्रिका रममाणेवासीत्, परितो मनोरमं सर्वं दृश्यं दृश्यते स्म, सत्स्वप्येतेषु मनोज्ञवस्तुषु राज्ञ्या मनो नासक्तम् । सा त्वरया स्वमार्गं निःशेषं कुर्वती, शीघ्रमेव दूरात्तच्चैत्यं ददर्श । शिखरस्थस्वर्णकलशेन वायुकम्पितवैजयन्त्या च तदवगन्तुं कालो नालगत् । तत्र गच्छन्त्येव *वीरमती* प्रथमं श्रीऋषभप्रभोर्दर्शनं कृत्वा, स्वाविनयक्षमापणार्थं प्रार्थितवती, चानन्तरं गुह्येन तूष्णीं सा तत्रैव तस्थौ ।

क्षणान्तरेणैवाप्सरोगणस्तत्रागत्योपस्थितो बभूव । आदावादीश्वरं प्रभुं नमस्कृत्य केशरचन्दनाद्युत्तमद्रव्यैर्वाञ्छितप्रदं तमानर्च। यतः -

स्वर्गस्तस्य गृहाङ्गणं सहचरी साम्राज्यलक्ष्मीः शुभा,
सौभाग्यादिगुणावलिर्विलसति स्वैरं वपुर्वेश्मनि ।
संसारः सुतरः शिवं करतलक्रोडे लुठत्यञ्जसा,
यः श्रद्धाभरभाजनं जिनपतेः पूजां विधत्ते जनः ॥२४॥

ततो भावपूजामारेभे-नानाजातीयकं वाद्यं सज्जीकृत्य तेषां स्वरं परस्परं संगमय्य, सुसज्जितेषु सर्वेषु गानवाद्यनृत्यादिकं सर्वं क्रमशः स्वां स्वां कलां प्रकटीचकार । तत्रैवं बहुकालपर्यन्तं

नृत्यादिकं बभूव तथाप्सरसां कोकिलालापिनीनां कलरवेण मन्दिरं गुञ्जितम् । प्रान्ते श्रान्त्वा ताः सर्वास्ततो बहिर्जग्मुः । मन्दिरादारादेवैका पुष्करिणी वर्तते स्म, तत्र स्नानाय सर्वासां विचारोऽभूत्। पुनः सर्वाः स्वकं स्वकं वस्त्रं मुक्त्वा पुष्करिणीं विविशुः । इतश्च *वीरमती* कालमपेक्षमाणा तत्रोपविष्टाऽऽसीदेव, अतः परं समयं सा कथं लब्धुं शक्नुयात् ? किञ्चिद् व्यवहितेऽप्सरोगणे सा शुकादेशानुसारेण प्रधानाप्सरसो नीलं वस्त्रमुत्थाप्य पुनर्जिनमन्दिरं गुप्तेनाध्यासांचक्रे, अस्मिन्नवसरे मन्दिरस्य द्वारमपि सार्गलं पिहितं चकार । साम्प्रतमनायासेन स्वकार्यसिद्धिं विभाव्य सा परां मुदमाप । अप्सरसश्च निश्चिन्ततया पुष्करिण्यां चिरं स्नानादिजलक्रीडां कृत्वा ततो निरीयुः सर्वाः स्वं स्वं वस्त्रं च परिदधुः । किन्तु प्रधानाप्सरसः वस्त्रमनवाप्य रुष्टाः सत्यः, सर्वाः सखीः प्रति निर्भर्त्सयन्त्यो जगदुः ? असमये कया हास्यं कृतं नेदं हास्यं मे रोचते, शीघ्रमेव देहि, नो चेदन्तेऽस्य फलमनिष्टं भवेदिति स्वामिन्या वचनं निशम्य कम्पमानाः सर्वा इतस्ततोऽन्वेषयन्त्यो वस्त्रमनाप्य हताशाः प्रोचुः- देवि ! सशपथं कथयामो नैतासु कयापि भवद्वस्त्रं गृहीतं, भवती स्वामिनी, स्वामिन्या सह हास्यं वयं कथं कुर्याम ? पुनरित्थं हास्यं तु सर्वथानुचितमेवेत्यस्मासु संदेहं मा कृथाः । परन्तु पश्य-अस्माकं स्नानसमये मन्दिरस्य द्वारमुद्घाटितमासीत्तच्चेदानीं पिहितमस्ति, ततः संभावयामो यद्वस्त्रं गृहीत्वा कश्चिन् मन्दिराभ्यन्तरे छन्नो भवेत् । सखीनां वचनमाकर्ण्य स्वामिन्याश्चेतस्तत्राकृष्टमभूत्, शीघ्रमेव तत्र धावन्ती काचिन्मन्दिरकपाटं ताडयन्ती यदा प्रत्युत्तरं न लेभे तदा प्रधाना

स्वयमेव तत्र गत्वाऽगादीत्-मन्दिरे कोऽस्ति ? बहिर्निर्गच्छ, रात्रि-शेषोऽभूदरं गन्तव्यमस्ति, पुनश्च देववस्त्रं मनुष्योपयोगं नायाति, अधुना मम वस्त्रं मिलिष्यति चेत्त्वया दत्तं दानमहं मंस्ये । असह्यं मे विलम्बं मा कुरु, यदि ते किञ्चित्कार्यं भवेत्तदप्यरं करिष्यामि। मद्वचने विश्वासं कुरु, मन्दिराभ्यन्तरे यः कश्चित् पुरुषः स्त्री वा भवेद् बहिरागच्छ, मद्वस्त्रं गृहीतं चेद्देहि । प्रधानाया वचनमाकर्ण्य *वीरमती* झटिति मन्दिरद्वारमुद्घाट्य बहिराजगाम, तां दृष्ट्वा-प्सरस आश्चर्यमीयुः । *वीरमत्यु*वाच-भगवति ! भवद्वस्त्रं दातुं तत्पराहं किन्तु पूर्वं मम कार्यं कुरु । साऽवदत्साधु साधु, किमिच्छसीति कथय ? वीरमती जगाद मम सपत्न्या*श्चन्द्रकुमार*नामा पुत्रोऽस्ति किन्तु ममोत्सङ्गं शून्यमस्ति, शुकवचनादहमत्रागताऽस्मि, मयैव भवत्या वस्त्रं नीतं ममागः क्षमस्व, पुत्रमेकं चावश्यं मे देहि, पुत्रं विना मे जीवनं भारायते । एतन्मात्रमेव मेऽभिलाषः, वीरमत्याश्चैतां याचनां श्रुत्वाऽप्सरा विचारमग्ना बभूव। साऽवधिज्ञानेन विचार्योवाच हे *वीरमति* ! तव भाग्ये पुत्रयोगो न वर्तते ।

कथितमपि-

महतां स्थानसङ्गेऽपि, फलं भाग्यानुमानतः ।
ईश्वरकण्ठलग्नोऽपि, वासुकिर्मारुताशनः ॥२५॥

तस्मात्ते पुत्रदानेऽसमर्थाहं परन्त्वहमाकाशगामिनीं शत्रुबल-हारिणीं विविधकार्यकारिणीं जलतारिण्यादिविद्यां ददामि, सिद्धा-यामेतस्यां राजा प्रजाश्चन्द्रकुमारश्च तव वशे स्थास्यन्ति । किन्तु तस्मै दुःखं न देयं, सपत्नीजोऽयमिति विचारस्त्वया त्याज्यस्ततस्ते

कल्याणं भूयात् । श्रुत्वैतद् *वीरमती* परमं तुतोष ततो विद्याग्रहणानन्तरं वस्त्रं ददौ । अप्सरसां कार्यं सम्पन्नमासीदेव, अतस्ता नृत्यसामग्रीमादाय शीघ्रं ततश्चेलुः । *वीरमत्यपि ऋषभप्रभुं* नत्वा स्वहर्म्यं प्रत्याययौ नृपादयः केऽप्येतद् वृत्तं नाऽजानन् । द्वितीयदिनादेव *वीरमती* विद्यासाधनं प्रारेभे । कतिचिद्दिनैः सिद्धायां विद्यायां सा सकलं दुःखजालं विस्मृत्याऽऽनन्देन दिनानि व्यतीयाय।

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्य तृतीयपरिच्छेदे, चन्द्रावतीवीरसेनयोर्दीक्षाग्रहणम् -

विद्याप्राप्तिकारणादुन्मत्ता निर्भया *वीरमती* लब्धपक्षः सर्प इव, प्राप्तास्त्रः सिंह इव, स्वभावक्रूरा सातीव भीषणा बभूव ।
यतः -

ज्ञानं मददर्पहरं, माद्यति यस्तेन तस्य को वैद्यः ? ।
अमृतं यस्य विषायति, तस्य चिकित्सा कथं क्रियते?॥२६॥

मन्त्रादिप्रयोगेण स्वपतिमन्यानपि वशीचकार सर्वत्र तन्नामख्यातिश्च जज्ञे । इतश्च*न्द्रकुमारो*ऽपि शैशवमतिक्रम्य, यौवने पदं न्यधात् । विवाहयोग्यं तं दृष्ट्वा राज्ञो *गुणेश्वरस्य गुणावली*-नाम्न्या पुत्र्या सह पित्रा परिणिन्ये । मणिकाञ्चनयोः संयोग इव स्वानुरूपां पत्नीं प्राप्य *चन्द्रकुमारः* सुखेन कालमतिवाहयति स्म। अप्सरसः कथनानुसारेण तस्मिन्प्रेमपरायणा वीरमती कदाचित्स्वमातृतोऽप्यधिकं प्रेम प्रकटीचकार । अन्यदा *चन्द्रावत्या* सहोपविष्टस्य *वीरसेन*स्य चिकुरे सुगन्धितैलाभ्यङ्गं कुर्वती *चन्द्रावती* पलितमेकं बालं दृष्ट्वा दिवा कुमुदिनीव म्लानमुखी बभूव । विषादकालिम्ना व्याप्तमुखी सा पतिमुवाच स्वामिन् ! पराजिताखिलशत्रुर्भवान् कस्मा अपि स्वनिकटे स्थातुमवकाशं नाऽदात्, परं भवताऽप्यनिराक्रियमाणोऽयं धूर्तो निर्भयः साहसिक-

श्चास्तीति निशम्य परितोऽवलोकयन् राजा कमप्यदृष्ट्वा रुष्टः सन्नभाषत-कश्चैतादृशो य आज्ञां विनान्तःपुरप्रवेशसाहसमकरोत्? अस्यापराधस्य कृते तं पूर्णं दण्डं दास्यामि । राज्ञ्युवाच नाथ ! क्रोधं जहीहि, अत्राङ्गुष्ठमपि प्रवेष्टुं न केऽपि समर्थाः सन्ति किं पुनः पादप्रक्षेपणे ? किन्तु श्रीमतः शिरोबालं पलितमहमद्राक्षं तदेव जरादूतस्तस्यैव संकेतो मया कृतः । श्रुत्वैवं राज्ञः क्रोधः शशाम, राज्ञा मनसि चिन्तितमहो! जरयाऽहमपि न त्यक्तः, शिवेन कामदेवदाहः कृतः श्रूयते, स च जरामपि दहेच्चेत्तदा न कोऽपि जरापीडितो भवेत् । रजको यथा वस्त्रं सितीकरोति तथेयं जराऽपि केशान् शुक्लीकरोति । रे चित्त ! अतः सावधानं भव, अयमेव समयोऽस्ति ।

उक्तञ्च -

यावत्स्वस्थमिदं कलेयरगृहं यावच्च दूरे जरा ?,
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ? ॥२७॥

बहिर्यदा जराप्रकाशो भवेत्तदा त्वयाप्यन्तःप्रकाशने सोद्यमेन भवितव्यम् । राज्यान्ते नरकं व्रजेदिति कथं त्वमनेन बद्धोऽसि ? हे आत्मन् ! सद्बुद्ध्येकधनेन त्वया जराया उपदेश उपकारश्च सदैव हितकारितया मन्तव्यः । यतः -

प्रथमे नार्जिता विद्या, द्वितीये नार्जितं धनम्,
तृतीये नार्जितो धर्मः, चतुर्थे किं करिष्यति ? ॥२८॥

इयमेव परमात्मनो गुणगानं कारयितुं सहायिकास्ति। अस्मिञ्जगति जराया एव साम्राज्यं दुस्त्याज्यं वर्तते। अस्याः शासनोल्लङ्घने न केऽपि समर्था भवेयुः काकवदतिकृष्णानपि केशान् स्वप्रभावाद्धंसवत् शुक्लीकरोति। किमधिकं ? वार्द्धक्ये तु पुरुषमतिविडम्बयति सा।

यदुक्तम् -

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशं गता,
दृष्टिर्भ्राम्यति वर्धते बधिरता वक्त्रं च लालायते।
वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते,
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यवज्ञायते ॥२९॥

दन्ता रसना च परस्परमुपकुरुतः, जरा दन्तानपि निपात्य रसनामसहायां करोति। पलितं चास्या वायुकम्पितपताकास्ति। आगतायामेवास्यां कामसुभटाः कान्दिशीका भवन्ति। मयाप्यस्याः सत्ता मन्तव्या, अतः स्त्रियं बान्धवांश्च त्यक्त्वोभयलोकस्वार्थसाधिकानन्तभवभ्रमणैकबाधिका सप्तकुलावधिशंप्रसाधिका वीतभया जिनदीक्षा स्वीकर्त्तव्या। मनस्येवं विचिन्त्य राजा न्यगादीत् -

यतः-

न च राजभयं न च चौरभयं, इह लोकहितं परलोकसुखम्।
नरदेवनतं वरकीर्तिकरं, श्रमणत्वमिदं रमणीयतरम् ॥३०॥

ततोऽहं अयि प्रिये ! साम्प्रतं राज्यभारं संत्यज्य संयमभारमङ्गीकर्तुमिच्छामि। एतावत्कालं यावद् भोगात्तृप्तिर्न जाता।

यतः-

न जातु कामं कामाना-मुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव, भूय एवाभिवर्धते ॥३१॥

परन्त्वेनं जरादूतं विलोक्य मे मनो भोगात्परावर्तते । एतदैश्वर्यं भोगाश्चाऽनित्या नीरसाश्च प्रतिभान्ति ।

यदुक्तम् -

चेतोहरा युवतयः स्वजनोऽनुकूलः,
सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः ।
वल्गान्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः,
संमीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति ॥३२॥

राज्ञो वचनं श्रुत्वा *चन्द्रावती* औदासीन्यमाप । सा चैतादृश-विरागोत्पादकवचनकथनेन पश्चात्तापवती जाता । विषयोत्पादका-नेकवार्तालापेन राज्ञो विचारस्य परावर्तने भृशं चेष्टमानायामपि राजा ततो न न्यवर्तत । निरुपाया स्वोक्तौ खेदमावहन्ती *चन्द्रावती* सकलकार्यसम्पादनातिपटीयसीं *वीरमती*मानिन्ये, उभाभ्यां निवा-रितो राजा यदाऽऽत्मनः संकल्पितादचल इव न चचाल ।

यतः-

अद्यापि नोज्झति हरः किल कालकूटं,
कूर्मो बिभर्ति धरणीं खलु पृष्ठभागे ।
अम्भोनिधिर्वहति दुस्सहवाडवाग्निं,
-मङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति ॥३३॥

तदा *चन्द्रावती* राजानमुवाच-प्राणनाथ ! भवन्निश्चितदीक्षा-ग्रहणे नाऽहं बाधिकाऽस्मि, किन्तु मामपि चारित्र्यग्रहणायाऽऽज्ञापय।

अहमपि श्रीमता सहैव प्रव्रजिष्यामि, स्वजीवनस्याऽवशेषसमयं धर्मकार्ये नियोज्यात्महितं साधयिष्यामि ।

यदुक्तम्-

शशिना सह याति कौमुदी, सह मेघेन तडित्प्रलीयते ।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति, प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥३४॥

राजाऽपि *चन्द्रावत्या* इमां प्रार्थनां स्वीचकार, द्वावपि मनसि वैराग्यमादधानौ चारित्रग्रहणे तत्परौ जातौ । यतः-

कश्चिन्नृजन्मप्रासादे, धर्मस्थपतिनिर्मिते ।
सद्गुणं विशदं दीक्षा-ध्वजं धन्योऽधिरोपयेत् ॥३५॥

चन्द्रकुमारं वीरमत्यै समर्प्य, राजसिंहासने संस्थाप्य, विविधोपदेशं दत्त्वा, शुभमुहूर्ते राज्ञ्या सह शुभङ्करीं दीक्षां ललौ। यतः-

दत्ते महत्त्वमृद्ध्यादि, जनस्य ननु जीवतः ।
महानन्दपदं नित्यं, दत्ते दीक्षा परत्र च ॥३६॥

पश्चाद्राजर्षि*र्वीरसेनः* साध्व्या *चन्द्रावत्या* सह निरतिचारं चारित्रं प्रपाल्य, कालान्तरे *श्रीमुनिसुव्रतस्वामि*नोऽनुकम्पया केवलज्ञानं प्राप्य, सिद्धिसुखाधिकारी बभूव ।

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्य चतुर्थपरिच्छेदे गुणावलीवीरमत्योर्वार्ता-

पत्युः सपत्न्याश्च दीक्षाग्रहणानन्तरं स्वतन्त्रा *वीरमती* रहस्येकदा चन्द्रकुमारमाहूयाऽवोचत्- प्रियपुत्र ! त्वमिदानीं बालकोऽसि, पितरौ दुर्वहं राज्यभारं त्वयि न्यस्य जग्मतुः, परं मयि जीवितायां त्वया चिन्ता न कार्या, मयि चैतादृशी दिव्याऽलौकिकी शक्तिरस्ति, यया त्वत्कृते देवेन्द्रासनमपि समानयितुं शक्नोमि, सूर्य्यस्य रथ्यं, रेवन्ताख्यमश्वं तवाश्वशालायां बन्धयेयं, निखिलं काञ्चनगिरिमपि समुत्थाप्यानयेयं, देवकन्यया सह त्वां विवाहयेयं, चैतेषु वृत्तेषु किञ्चिन्मात्रमपि सन्देहो नास्तीति त्वमवेहि । त्वदर्थमहं सर्वं कर्तुं शक्नोमि, परन्त्वेतदपि जानीहि, यत्प्रसन्नाऽहं त्वदर्थे पीयूषरसवल्ली चाप्रसन्ना विषवल्ली भवितुमर्हामि । यदि यौवनोन्मत्तः सन् मदाज्ञोल्लङ्घनं कुर्याः, मदाज्ञां विना किञ्चित्कार्यं कुर्याश्चेदथवा मच्छिद्रान्वेषी भविष्यसि तदा परिणामः शुभो न भविष्यति। तस्यामवस्थायां त्वां शत्रुं ज्ञास्यामि, ते निष्ठुरादपि निष्ठुरं दण्डं दातुं संकोचरहिता भविष्यामि ।

नम्रश्चन्द्रकुमारो मातुर्वचनं निशम्य बद्धाञ्जलिः सन्नुवाच- मातः ! मत्तो निरातङ्का तिष्ठ । सर्वदाऽहं तवाज्ञां शिरसा पालयिष्यामि, यतो भवत्येव मम माता, पिताऽन्नदाता, राजा सदैव

त्रियोगेन त्रिकालमान्या चेश्वरस्वरूपाऽस्ति, पुनरन्नवस्त्रमात्रेणैव मे प्रयोजनमस्ति । एतत्सर्वं राज्यं सम्पत्तिः समस्तभोगा भवत्या एव सन्ति। मदर्थं भवत्कृपैवापेक्ष्यते, तयैवाहं प्रसन्नो भविष्यामि, नान्यत्किञ्चिदिच्छामि । इत्थं *चन्द्रकुमार*स्य विनयान्वितं वचनं श्रुत्वा *वीरमती* प्रसन्नाऽभवत्तराम् ।

यतः-

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं, गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणाधिके पुंसि जनोऽनुरज्यते, जनानुरागप्रभवा हि संपदः ॥३७॥

*वीरमत्यु*वाच- प्रियपुत्र ! त्वं समस्तसुखभोगान् भुङ्क्ष्व, मम जीवनमपि त्वदर्थमेवाऽस्ति, तव कल्याणं भूयादित्येव ममाशीरमरगणस्ते कल्याणं क्रियात्त्वं च दीर्घाऽऽयुर्भवैवं निगद्य तं प्रस्थापयामास । चन्द्रकुमारश्च शनैः शनैः राज्यभारमुवाह - स च पूर्वसुकृतयोगात्सौन्दर्यसद्गुणराशिं गुणावलीं पत्नीं प्राप्य तया सह हंसो हंस्येव सांसारिकसुखास्वादनं कृतवानासीत् ।

यतः-

उरसि निपतितानां स्रस्तधम्मिल्लकानां,
मुकुलितनयनानां किञ्चिदुन्मीलितानाम् ।
सुरतजनितखेदस्वेदगण्डस्थलीना-
मधरमधु वधूनां भाग्यवन्तः पिबन्ति ॥३८॥

कामकलानिपुणा *गुणावल्य*पि तमनिर्वचनीयसुखरसास्वादनं कारितवत्यासीत् । नीरक्षीरयोरिव दम्पती साम्यस्वरूपौ भूत्वा देहभेदेऽपि प्राणैक्यमित्युक्तिसार्थक्यं चक्रतुः ।

यतः-

सह[1] जागराणं सह सुअणाणं, सह हरिससोअवंताणं ।
नयणाणं य धन्नाणं, आजम्मं निच्चलं पिम्मं ॥३९॥

एतत्सर्वं पूर्वजन्मकृतसुकृतस्यैव शुभफलमासीत् । सर्वे जनाश्चन्द्रकुमारे स्नेहाधिक्यात्तं *चन्द्रराजे*ति नाम्नाऽऽहूतवन्त आसन्। स यथैश्वर्यसुखोपभोगकुशल आसीत्तथैव प्रजापालनेऽपि सावधानेन तत्परोऽभूत् ।

यतः-

यस्तेजस्वी यशस्वी शरणगतजनत्राणकर्मप्रवीणः,
शास्ता शश्वत्खलानां क्षतरिपुनिग्रहः पालकः स्वप्रजानाम् ।
दाता भोक्ता विवेकी नयपथपथिकः सुप्रतिज्ञः कृतज्ञः,
प्राज्यं राज्यं स राजा प्रथयति पृथिवीमण्डलेऽखण्डिताज्ञः॥४०॥

अतस्तस्य यशो चतुर्दिक्षु प्रससार । तस्य सभा दर्शनीया-ऽऽदर्शरूपा च जनैरमन्यतेति कविस्तस्याः साम्यं षड्भिर्ऋतुभिश्च-कार तथाहि-अनिर्वचनीयसौन्दर्यशाली कन्दर्पोपमस्तरुणो राजा *चन्द्रः* सिंहासने तथाऽशोभत, यथोदयाचलं प्राप्य भानुः शोभते । तदग्रे जलदाकारा, असितवर्णा, मदजलं वर्षन्तः, शुभ्रदन्तैः सौदामि-नीशङ्कामुत्पादयन्तो बृंहितैरभ्रध्वनिमनुकुर्वन्तः, क्राम्यन्तः, करिगणा आसन्, तेन तत्र वर्षर्तुर्विराजत इव । तस्य सभासमक्षेऽश्वप्रवराः स्वस्वगतिधाराः दर्शयन्तः, स्वस्वनासिकाभ्यो झारयद्भी रसैः

1. सह जागरतोः सह स्वपतोः सह हर्षशोकवतोः ।
नयनयोरिव धन्यानामाजन्म निश्चलं प्रेम (भवति) ॥३९॥

केसरसन्देहं जनयन्त, आस्याद् निर्गलद्भिः फेनैः शुभ्रपुष्पौघव्यामोह-माभासयन्त इवाऽऽसन्, तेन वसन्तर्तुप्रादुर्भावो जनैरशङ्कि । राज्ञश्चन्द्रस्य मुखोद्गतं वचनामृतं कर्णशुक्तिकैः सुजनाः पिबन्त आसन्, तत्फलं तेषामभिनवविचार एव मुक्ताफलवदुदपद्यत, तेन तस्य सभायां साक्षाच्छरदृतुरासीदिव । समन्ताद्राज्ञे प्रहितानामुपायनानां राशिस्त-थाऽभवद्, यथा कृषकाः खले धान्यानि राशीकुर्वन्ति, अमुना दृश्येन राजसभायां प्रत्यक्षो हेमन्तर्तुर्विराजते स्मेव । तत्राऽहर्निशं राज्ञश्चन्द्रस्याज्ञामुरीकर्तुमागच्छन्तस्तुहिनैः संकुचितानि कमलानीव भयम्लानमुखाः शीतपीडिता जना इव भयात्कम्पमानविग्रहा राजा-नोऽभवन्, तैः शिशिरर्तोर्दृश्यं परिषद्यजनिष्ट । ग्रीष्मार्तैः प्राणिभिर्यथा कुत्रचिदपि शान्तिर्न लभ्यते, तथा चन्द्रराजस्य शत्रवो गृहे नगरे वने वा शान्तिं नैवाऽऽपुः, किन्तु यदा तस्य च्छत्रच्छायामशिश्रियन् तदैव शर्माऽलभन्त । एतच्चमत्कारिकं दृश्यं पश्यद्भिर्जनैस्तत्र ग्रीष्मर्तोराविर्भावोऽमन्यत । इत्थं तत्सभायां युगपत् षड्तूनां ज्ञानेना-ऽभासि । षट्शास्त्रवेत्तारः सुरगुरुरिव बुद्धिमन्तः स्वस्वपाण्डित्यप्र-कटनाय राज्ञो मनोरञ्जनाय च परस्परं विवदमानाः पञ्चशतविद्वांस-स्तत्र सर्वदाऽऽसन् । तेषु षड्दर्शनज्ञाः स्वस्वदर्शनविशेषतां प्रकट-यितुं संलग्नाः-प्रत्यक्षप्रमाणवादिनश्चार्वाकाः सर्वं प्रत्यक्षमेव सत्य-मित्येवाकथयन् । क्षणिकवादिनः सौगताः सर्वं क्षणिकं प्रतिपादयन्त आसन् । वैशेषिकाः शब्दमेव प्रमाणममन्यन्त, सांख्यज्ञाः प्रत्यक्षं शब्दमनुमानञ्च, नैयायिकाः प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि, चाऽऽर्हताः प्रत्यक्षानुमानौ सदाऽमन्यन्त ।

यदुक्तम्-

चार्वाको हि समक्षमेकमनुमायुग्बौद्धवैशेषिकौ,
सांख्यः शाब्दयुतं द्वयं तदुपमायुक् चाक्षपादस्त्रयम् ।
सार्थापत्तिचतुष्टयं यदति तद् मानं प्रभाकृत्पुन-
र्भट्टिः सर्वमभावयुग् जिनमतेऽध्यक्षं परोक्षद्वयम् ॥४१॥

इत्थं कश्चित्समस्तस्य जगतः कर्तेश्वरः, कश्चित्सर्वं ज्ञानमयं, कश्चित्सर्वं प्राकृतिकं, कश्चित् शशशृङ्गवद् वन्ध्यापुत्रवद् वा सर्वं मिथ्या भ्रमो वेति, एवमन्धगजन्यायेन सर्वे स्वस्वमतसिद्धये चेष्टमाना आसन् । वैयाकरणा विविधैः प्रकारैः शब्दव्युत्पत्त्या, वेदपाठिनः सस्वरवेदोच्चारणेन, साहित्यज्ञाः साहित्यचर्चया, कविनः रसालङ्कारसमस्यापूर्त्या, पौराणिका रामायणादिकथाश्रावणेन, वैद्या अन्नजलदुग्धवृक्षफलपुष्पाणां गुणागुणवर्णनेन तथाऽऽदाननिदानचिकित्सादीनां चर्चया सभामरञ्जयन् ।

यतः-

रोगं रोगनिदानं, रोगचिकित्सा च रोगमुक्तत्वम् ।
जानाति सम्यगेत-द्वैद्यो नायुःप्रदो भवति ॥४२॥

मौहूर्तिकाः ग्रहादेः फलाफलवर्णनेन गणितेन च तथा प्रहरसाध्यप्रश्नान् घटिकामात्रे सदुत्तरेण, इत्थं सर्वे स्वैः स्वैर्विषयै राजानं सभां च रञ्जयन्त आसन् ।

यतः-

गुरुरेकः कविरेकः, सदसि मघोनः कलाधरोऽप्येकः ।
अद्भुतमत्र सभायां, गुरवः कवयः कलाधराः सर्वे ॥४३॥

राजा *चन्द्रो*ऽपि यथोचितदानसत्कारैश्च तान् संतोषयितु-

मतीवाऽऽदरवानासीत् । राज्ञश्चन्द्रस्येमां सभां दृष्ट्वा चकितो रविरपि किञ्चित्कालं स्तम्भित इवाभूत् । अस्या महत्त्वं सुधर्मातः कथमपि न्यूनं नासीत्, नक्षत्राणां मध्ये चन्द्र इव सदस्येषु राजा चन्द्रोऽप्यशोभत । इन्द्रस्य सभायां मन्त्रिणः स्थाने बृहस्पतिरिव *चन्द्रराज*स्य परिषदि मतिमन्तः स्वपदं भूषयन्तो मन्त्रिगणा राजतन्त्रसंचालने प्रकृतिमनुरञ्जयन्तो राजोचितमपि कार्यं सम्पादयन्त आसन् ।

यतः-

नरपतिहितकर्त्ता द्वेष्यतामेति लोके,
जनपदहितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन ।
इति महति विरोधे वर्तमाने समाने,
नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकर्त्ता ॥४४॥

इत्थं *चन्द्रराज*स्य जीवनतरिः संसारसागरे सौलभ्येन तीर्णवत्यासीत् "*परं समरूपेण नो याति दिनं सर्वं हि निश्चितम्*" इति प्रशान्तसागरे प्रचण्डवायुरिव *वीर*मत्याऽऽचरिष्यमाणस्याऽधःपातस्याऽल्पमात्रावशेष एव काल आसीत् । वराकश्चन्द्र*कुमारो*ऽपि पामर इव भवितव्यतां नैवाऽजानात् । कदाचिद् भोजनान्निवृत्तो राज्यकार्ये निमग्नो राजा *चन्द्र* आसीत् । तदानीं कृताहारा सम्पन्नाऽन्यकार्या राज्ञी *गुणावल्य*पि सखीभिः सत्राऽन्तःपुरप्रासादगवाक्षमुपविवेश । शीघ्रमेव काचिद्दासी व्यजनं वीजयति स्म, अन्या ताम्बूलं ददाति स्म, अपरा स्वादुजलपूरितं जलपात्रं नीत्वाऽतिष्ठत्, परा विलेपनसामग्रीमानयत्, काचित्कुङ्कुमं सिञ्चन्त्याऽऽ-

सीत्, काचिद्दर्पणं नीत्वा तिष्ठन्ती, काचित्पुष्पमालां विरचयन्ती, काचित्स्वामिनीं हासयितुं चेष्टमाना विनोदपूर्णवार्तां कथयन्त्यासीत्। तस्मिन् समये स्वर्गान्मनोविनोदाय मृत्युलोकमागता एता देवाङ्गनाः किमिति दृश्यमजायत । या विलोकनाय सहस्रांशुरपि स्तम्भित इव तस्थौ । सूर्यस्य प्रकाशे कुमुदिन्यो मुकुलिता भवन्ति, परन्त्वेनं विषयमजानतीव *गुणावली चन्द्रस्य* प्रकाशं प्राप्य कुमुदिनीव सूर्यस्यापि प्रकाशे विकसन्ती बभूव । इत्थं राज्ञ्या *गुणावल्या* मन्दिरे स्वानन्दकल्लोला उच्छलन्त आसन् । तस्मिन्नेव समये दूरादेव समागच्छन्तीं *वीरमतीं* विलोक्य सत्वरं काचिद्दासी *गुणावलीं* सूचयामास । काचित्प्रियतमोवाच- प्रियभगिनि ! उत्तिष्ठोत्त्थाय स्वश्वश्र्वाः स्वागतं कुरु यतो वधूभावो न सुलभो भवति । यथा मे शिरोधार्या भवती तथैव भवत्या अपि सा, किमधिकं श्रीमत्याः पतिदेवोऽपि तस्या आज्ञामनुसरति । सख्याः कथनं निशम्य *गुणावली* समुत्त्थाय कियद्दूरमग्रे गत्वा सम्मानपूर्वकं *वीरमतीं* स्वमन्दिर आनीय पश्चादासनग्रहणानन्तरं तस्याश्चरणं गृहीत्वा तयोचे-पूज्ये मातः ! अद्य मे सौभाग्यं यदत्र भवत्याः शुभागमनम-भूत्, भवत्यागत्य मां बहुमानपात्रं चकारेति सत्यं झटित्येवादिशतु कां सेवां कुर्यामिति । *गुणावल्याः* प्रेमविनयपूर्णं वचनं श्रुत्वा वीरमती भृशं मोदमाना तस्याः शिरसि हस्तं धृत्वाऽऽशिषं ददती जगाद-आकाशमण्डले ध्रुवनक्षत्रस्थितिं यावत्तव सौभाग्यमचलं तिष्ठतु, एवं कथयन्ती तां स्वपार्श्वे समुपवेश्योवाच- प्रियपुत्रवधु ! केनचिद्विशेषकार्येण नाहमत्राऽऽगताऽस्मि, किन्तु चिरात्त्वां द्रष्टु-मिच्छाऽवर्वर्तीदत आयाता ।

हे स्नुषे ! गुणानामावलीत्यन्वर्थनाम्ना सहैव कुलीना विनयवती च त्वमसीति तथ्यम् । तव मुखादेवं वचनस्य निःसृतिर्न किञ्चिदाश्चर्यं यथा सुधांशोः सुधानिःसरणं, कमलेभ्यः सुवासस्य प्रसरणं, इक्षुभ्यो मधुररसनिर्झरणं, चन्दनाच्छैत्यप्राप्तिर्भवेच्चेत्तदाश्चर्यमेव किम् ? प्रियपुत्रवधु ! कोटिवर्षप्रमाणं तवाऽऽयुर्भवतु । त्वं मे प्राणेभ्योऽप्यधिका प्रियाऽसि ततो यत्ते मनोऽभिलषितं तन्मे निःशंकं याचनीयम्, तत्र संकोचलेशोऽपि त्वया न कार्यः । यदि मम पुत्रस्ते किमपि कष्टं दद्यात्तदा मह्यं निवेदनीयं, मया स उपालम्भनीयो भवेत्, मम तूभावपि समौ नेत्रयोः सुखकारिणौ स्तः । अहं तुं त्वामपि पुत्रीमेव मन्ये चान्ये के मम सन्ति युवामेव दृष्ट्वा जीवनं दधत्यस्मि । तवाऽऽचारं व्यवहारं च पश्यन्त्या मे विश्वासोऽभूद् यत्त्वं ममाज्ञोल्लङ्घनं कदाचिदपि न करिष्यसि । अहमप्यद्य त्वां कथयितुमिच्छामि, यत्त्वं ममानुकूलमाचरेः सदा कथनं कुर्यास्तदा मय्येतद्यद्विद्यादिसाधनं तत्सर्वं तवैवास्ति ह्येतत्सर्वं त्वं स्वकीयमेवाऽवेहि, अत्र लेशमात्रमपि नाऽतथ्यम् । एवं वार्तालापेन *वीरमती गुणावल्याः* प्रतारणचेष्टां कर्तुं लग्ना *गुणावली* तु सरलस्वभावाऽतः साऽकुटिलस्वभावतया *वीरमत्या* दुरभिसन्धिं ज्ञातुं न शशाक, सा तस्याः सर्वं कथनं सत्यमेव बुबुधे । अप्रकटं वदन्त्यौ श्वश्रूवध्वौ दृष्ट्वा सख्यो दास्यश्चेतस्ततो गता *वीरमती* विजनमिति ज्ञात्वा *गुणावल्याः* कर्णे पुनरपि दुष्टविषयविषप्रक्षेपमारेभे। तयाऽवादि- प्रियस्नुषे ! त्वं राजपुत्र्यसि मम पुत्रस्ते पतिरस्ति, अतस्त्वं हर्षोत्फुल्लमानसा स्याः, परमहं तु तव जीवनं

भाररूपमेव मन्ये, तव जीवने त्वदर्थमानन्दसारं किमपि न दृश्यते। तदा चकिता *गुणावली* दीर्घमुच्छ्वसन्त्युवाच- पूज्यमातः ! किमिद-मुच्यते ? मम कस्य वस्तुनस्त्रुटिरस्ति ? हस्तिनोऽश्वा रथाः स्वर्णानि रत्नानि वस्त्रभूषणादीनि सर्वाणि वस्तूनि वरीवृतति । जलमिच्छामि दुग्धमायाति, दासीदासादयश्च बद्धाञ्जलयस्तिष्ठन्ति, परिवारा अपि सानुकूला वर्तन्ते, श्रीमत्याश्छत्रच्छायया पित्रोर्गुरु-जनस्य चाभावक्लेशोऽपि न ज्ञायते, मादृशी सुखिनी स्त्री भूमण्डले कापि भवेन्नवेत्यहं मन्ये । वीरमती गुणावल्या हस्तमवलम्ब्याऽऽह- अयि पुत्रप्रिये ! वास्तविकं त्वमतिसरलप्रकृतिरसि, संसारे एतादृशा अपि जनाः सन्ति, ये परौष्ठप्रस्फुरणमात्रेणाऽप्यभिप्रायं जानन्ति। यदुक्तम्-

उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते, हयाश्च नागाश्च वहन्ति नोदिताः ।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः, परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥४५॥

परमेतावत्कथनेनापि मम वचनाभिप्रायस्त्वया नाऽज्ञायि। संसारे चातुर्यमेव प्रधानमस्ति, मूर्खा अपि धनिनो रूपवन्तश्च भवन्ति, परं न ते कार्यसाधने समर्था भवन्ति, गुणिनस्तु गुणमेव पश्यन्ति । स्वयमपि ते गुणैर्यान्ति ख्यातितां तांश्च गुणज्ञाः सेवन्ते। यतः-

गुणाः कुर्वन्ति दूतत्वं, दूरेऽपि वसतां सताम् ।
केतकीगन्धमाघ्रातुं, स्वयमायान्ति षट्पदाः ॥४६॥

अत एव सुन्दरं सुरक्तमपि किंशुकपुष्पं निर्गन्धत्वान्नैव केऽपि स्पृशन्ति । त्वं केवलं वस्त्रभूषणादेर्धारणं मधुरभाषणं चैव

वेत्सि, त्वयि चातुर्यस्य लेशमात्रमपि नास्ति । एकत्र चत्वारो वेदा अपरत्र चातुर्यमुभयोः साम्यं भवति, एष एव महतामपि विदुषां सिद्धान्तो न तु ममैव । त्वमात्मानं चतुरां ज्ञातवत्यासीत्, यदहं निपुणाऽस्मीति, परं तव वचनादेव नैपुण्यं विदितमभूत्, यत्त्वं पशुभ्योऽपि निकृष्टासि । *वीरमती*वचनं निशम्य विचारसागरे निमग्ना *गुणावली* मनसि चिन्तयामास-किं मया किमप्यनुचितं कृतमथवा किमकार्यं कृतं ? येन पूज्यमातैवं कथयति । ततो बद्धाञ्जलिः सोवाच- मातः ! मया कृतो यः कोऽप्यपराधस्त्वया क्षन्तव्यः । किन्त्वेतन्नाऽहमज्ञासिषं, यदद्य भवत्या कथमेवमुच्यते? गुरूणां समक्षे बालाः सदैवानभिज्ञा एव भवन्ति । अनया दृष्ट्या भवती मां मुग्धामनभिज्ञां वा जानातु नाम, अन्यथाहं स्वजीवनं निन्दितं न मन्ये । श्रीमत्याः प्रसादाद् यथा मे पतिदेवोऽस्ति, तादृशः संसारे नान्यः कश्चित् पुरुषो दृष्टिगोचरो भवति । ऐश्वर्यस्य सुखसम्पत्तेश्चापि मम गृहे ह्रासो नास्ति । अस्यामवस्थायामपि श्रीमती मां पशुभ्योऽप्यूनां कथमवैति ? गाम्भीर्यपरिपूर्णा वीरमती कथयति स्म-पुत्रवधु ! त्वं स्वपतौ किं गर्वं दधासि, स वराकः कस्यां गणनायामस्ति ? यदि त्वमन्यं पुरुषं पश्येस्तदा जानीयाः किन्तु कूपमण्डूकैरब्धेर्वृत्तान्तं नपुंसकेन वा रतिस्वरूपं कथं ज्ञातुं शक्यते ? येन द्राक्षा न भक्षिता तस्य निम्बफलमेव मधुरं भवति। येन सज्ज्ञानेनात्मतत्त्वं नैव विदितं तेन विनश्वरं सांसारिकसुखमेवोत्कृष्टं मन्यते ।

यतः -

अविदितपरमानन्दो वदति जनो विषयमेव रमणीयम् ।

तिलतैलमेव मिष्टं, येन न दृष्टं घृतं क्वापि ॥४७॥

नागरिकाणां वेषविलासादिकं वन्या जनाः कथं ज्ञातुं कर्तुं वा शक्नुवन्ति । यस्य कम्बलमेव प्रावरणमस्ति, तेन कौशेयनीसारस्य सुखं ज्ञातुं कथं शक्यते ? अदृष्टप्रासादः कुटीमेव समीचीनां बुध्यते । तैलकारस्य वृषभो विश्वस्योदन्तं ज्ञातुं समर्थो नैव भवति । त्वमपि तथान्तःपुरप्रासादस्य ततोऽधिकं नगरस्य वा वृत्तमधिगन्तुमर्हसि ततो बहिः कुत्र किमस्तीत्येतस्य विषयस्य किं ते ज्ञानमस्ति ? परन्त्वेतस्मिञ्जगति यानवलोक्य मनसिजस्यापि शिरो नम्रतां व्रजति, तथाभूताः पुरुषा इतरेतरस्पर्धिनस्तिष्ठन्ति। प्रासादकोणे उपविशन्त्या त्वया तत् कथं ज्ञातव्यं भवेत् ? *गुणावली* स्तोकं प्रसन्ना भूत्वोवाच- मातः ! कथमप्येवं न वक्तव्यं त्वया यतः सत्स्वपि तारकेषु चन्द्र एव यामिनीं भूषयति, जम्बूका बहवो भवन्ति, सिंहस्त्वेक एव भवति विद्यमानेष्वपि बहुमृगेषु कस्तूरिका विरलेष्वेवोपलभ्यते । क्व ते प्रियपुत्रश्चन्द्रः, क्व चान्ये पुरुषाः ?, अहं त्वन्यान् तस्य नखतुल्यानपि न गणयामि, यस्य द्वारदेशे गजा भ्रमन्ति, तेन गर्दभो द्रष्टव्यः किम् ? कल्पवृक्षस्याग्रे एरण्डवृक्षान् के स्तुवन्ति ? श्रीमत्याः पुत्रं पतित्वेन लब्ध्वा मम जीवनं सफलमभूत्स एव मम सर्वस्वः, स एवेश्वरः कामदेवश्चास्ति ।
यतः-

दधि मधुरं मधु मधुरं, द्राक्षा मधुरा सितापि मधुरैव ।
तस्य तदेव हि मधुरं, यस्य मनो यत्र संलग्नम् ॥४८॥

किमेतत्कथनं श्रीमत्या न श्रुतं ? पुर उपगतमेव वस्तु

मिष्टं भवति । अन्ये पुरुषा भवन्तु नाम सुन्दरास्तैः सौभाग्यवती भविष्यामि किम् ?" एतदाकर्ण्य *वीरमती* प्राह- अयि स्नुषे ! मम पुत्रो लावण्यादिगुणैरनुपमोऽस्तीति तव कथनं सत्यमस्ति, तदप्यहं स्वीकरोमि, यदुत्तमोऽधमो वा स्वपतिरेव स्त्रीणां सर्वसम्पत्तिः, किन्तु बहुरत्ना वसुन्धरेति मे तात्पर्यमर्थात्संसारे एकस्मादधिकोऽपरो वर्तते । यदि च त्वं देशान्तरे गता भवेस्तदा तवेदं वृत्तमवगतं भवेत्, परं त्वया त्वाभापुरीमात्रमेवावलोकिता, ततो नगरान्तरवृत्तं कथं ज्ञातव्यं भवेत् ? ते रम्यारम्ययोर्ज्ञानं चातुर्यं विना कुतः ? पश्य तस्य मूलं शास्त्रकारैः पञ्चैवोक्तं ।

तथाहि-

देशाटनं पण्डितमित्रता च, याराङ्गनाराजसभाप्रवेशः ।
अनेकशास्त्राणि विलोकनानि, चातुर्यमूलानि भवन्ति पञ्च ॥४९॥

अपि च-

दीसइ विविहच्छरिअं, जाणिज्जइ सुअणदुज्जणविसेसो ।
अप्पाणं च कलिज्जइ, हिंडिज्जइ तेण पुढवीए ॥५०॥

तेषु देशाटनमेव प्रथमं श्रेष्ठमुक्तम्, अतस्तद्रहितां त्वां पशुभ्योऽप्यधमां मन्ये । अत्रानुचितावगमस्य का वार्ता ? यदि मादृशीं विविधविद्यापरिपूर्णां श्वश्रूं प्राप्यापि देशभ्रमणं न कृतं, तदा तव जननमेव निरर्थकम् । पुनरेषोऽवसरः कदापि प्राप्तव्यो भवेत्किम्? त्वमिदानीं मत्तो बिभेषि, संकोचं चैषि, अतो मनोऽभिलषितं न निवेदयसि, परन्त्वहं वेद्मि, यत्ते मनोऽत्रोत्कण्ठते । न च कश्चित्कौतुकविषयस्ते नयनसमक्षो भवति । नूतननूतनदेशाचारा-

वलोकनेन विना मानवजनैः साफल्यनैष्फल्ययोर्विवेकस्ते कथं भवितुमर्हति ? यो निरन्तरं जगति नूतनं नूतनं तीर्थं नवं नवं पर्वतं नगरं कुण्डं नृपवधूः विनोदं गानं वाद्यं देशानां चरित्रं च दृष्टवाँस्तस्यैव जीवनं सफलमस्ति। अस्यां भूमावश्वमुखो हयकर्णो-ऽकर्ण एकपाद् गूढदन्तः, शुद्धदन्तश्चानेकप्रकारा मानवा भवन्ति। परन्त्ववलोकनमृते तेषां रहस्यमवगन्तुं समर्था त्वं कथं भवेः ? तव च भोजनं पानं वस्त्राभरणयोर्धारणमेव सर्वसारमस्ति। स्त्रियः खलु स्वभावचतुरा भवन्ति, किन्तु त्वयि तस्यात्यन्ताभावो विद्यते, अतस्त्वां स्त्रीजातेर्बहिरहं मन्ये। त्वत्तः पतङ्ग एव वरो यो वियत्युड्डीय नित्यमभिनवमभिनवं कौतुकमवलोकते। यथा क्षुधितः गुडं प्राप्य सुधाप्राप्तिरिव मोदते, तथा त्वमपि चन्द्रं पतिं प्राप्य सुस्थिरंमन्याऽभूः। अन्येषु विषयेषु तव ध्यानमेव नास्ति। राजभवनोपविष्टायास्ते बाह्यवृत्तान्तः कथं ज्ञातो भवेत्। पश्य-यो देशाटनं करोति वेतस्ततो भ्रमति तस्य शरीरव्यवस्था त्वन्यैव भवति, अतो विश्वस्मिन् स केनाऽपि वञ्चयितुं न शक्यते। गृहे तिष्ठन् स्वगुणवर्णनं महत्तरवृत्तान्तकथनं च निष्फलमेवास्ति।

यतः-

निजगुणगरिमा सुखावहः स्यात्, स्वयमुपवर्णयतां सतां न तादृक्।
निजकरकमलेन कामिनीनां, कुचकलशाकलनेन को विनोदः?॥५१॥

अतस्तन्न सत्सु शोभते-पुनरेतादृशजनस्यादरो बहिर्न भवति। वस्तुतः स एवादरणीयो गुणी शूरो वीरः पण्डितश्च योऽन्य-देशेऽपि पूज्यते। यथाऽर्थादि दानेनैव सार्थक्यं व्रजति, तथा देशान्तरभ्रमणेन तत्रत्यनूतनकौतूकावलोकनेन च जीवनं सार्थक्य-

मेति, परं त्वयैतत्किञ्चिदपि करणीयं नास्ति । जाने तवापि जननं विविक्ते वने विकासिपुष्पाणामिव निरर्थकमेव भविष्यति । *वीरमत्याः* स्निग्धमेतदुक्तं श्रुत्वा *गुणावली* भ्रमजाले पतिता सती स्वचित्ते विचारयामास-यथार्थं मेऽवस्था कूपमण्डूकवदेवाऽस्ति। संसारे कुत्र किं भवति तस्य मे को बोधोऽस्ति ? परन्तु राज्ञो महिषी भूत्वेतः प्रासादान्निर्गमनं कदापि संभवति किम् ? एवं शोचन्ती निजगाद-पूज्यमातः ! श्रीमत्याः कथनं सर्वं तथ्यमस्ति भ्रमणाददृष्टदर्शनं ज्ञानवृद्धिश्च भवतीत्यहं जानामि, परं मदर्थं हर्म्याद्बहिर्गमनं कदाचिदपि कथमपि भाव्यमस्ति ? अभिलषितेऽपि कुत्राऽपि बहिर्गन्तुं नार्हाऽस्मि । स्वतन्त्रा निरङ्कुशाश्चैव स्त्रियः स्वेच्छाचारिण्यो भवितुमर्हन्ति । संसारेऽदृष्टापूर्वकौतुकस्याऽश्रुता-ऽपूर्ववृत्तान्तस्य दर्शनेच्छा श्रवणेच्छा च महती वर्तते, परं ममावस्था तेषां मयूराणामिवाऽस्ति, ये नृत्यन्तः स्वपिच्छानि दृष्ट्वाऽऽनन्दभरं स्वात्मनि मातुं न शक्नुवन्ति, परन्तु तेषां दृष्टिर्यदा स्वचरणोपरि पतति तदा कुरूपं तं विलोक्योदासते । एकस्य राज्ञः पट्टराज्ञी भूत्वा यत्र मे सर्वं सुखमस्ति, तत्र हर्म्याद् बहिः क्रमणं नेति दुःखमपि महद् बोभवीति । पतिदेवमविज्ञाप्य गन्तुं पारयामि, परन्तु तन्न परिणामरमणीयम्, यदि स रुष्येत् तदा मे का गतिर्भवेत्? तस्य वञ्चनं नाहमनुमोदे । नान्यः कोऽप्यवगच्छतु, परं सूर्यचन्द्रा-दयस्तु साक्षिणो भवन्त्येव ।

यतः-

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च, द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये, सर्वं हि जानाति नरस्य वृत्तम्॥५२॥

अतः स्वाम्याज्ञां विना कुत्राऽपि बहिर्निःसरणं मह्यं न रोचते, यतः पक्षिणः पवनः पुरुषश्चेति त्रय एव स्वतन्त्रा भवन्ति। एते स्वेच्छानुरूपं यत्र तत्र गन्तुमर्हन्ति न तु पराधीना स्त्री। एतच्छ्रुत्वा *वीरमती गुणावल्या* मनसि कौतुकावलोकनेच्छा जातेत्यबोधि, किन्तु स्वामिनो भयमटनाद्रुणद्धि, अतो *वीरमती* मनसि निश्चिकाय, यच्छनैः शनैरित्थमेव बोधयन्त्या मया तद्भयमपि दूरमेष्यते। इत्थं कृते साऽवश्यं मम वश्यमायास्यति पुनर्यदा ज्ञापयिष्यामि, तदा तत्कर्तुं प्रसिता भविष्यति। कार्यसिद्धेरर्द्धपूर्णतां ज्ञात्वाऽवशिष्टकार्यं दिनान्तरसाध्यं च मत्वा *वीरमती* ततः परावृत्य निजहर्म्यमागता।

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्य पञ्चमपरिच्छेदेऽबलाचातुर्यवर्णनम्-

अथ गतेषु कतिचिद्दिनेष्ववसरं ज्ञात्वा *वीरमती* पुन-*र्गुणावल्याः* समीपमागता । अस्मिन्नवसरे भूमिकाया वाक्प्रपञ्चस्य प्रयोजनमेव नासीदित्यन्योन्यं मन्दं मन्दं वार्तां कर्तुं प्रवृत्ताऽभूत् । *गुणावलीं* स्वकपटजाले पातयन्ती *वीरमती* जगाद- अयि मुग्धे! पुंभिर्दुःसाध्यमपि कार्यं स्त्रियः कर्तुं प्रभवन्ति । अतस्तासां मोहपाशेऽज्ञानिनो ज्ञानिनो वा सर्वेऽपि बध्यन्ते ।

यतः-

संसारे हतविधिना, महिलारूपेण मण्डितः पाशः ।
बध्यन्ते जानाना, अजानाना अपि बध्यन्ते ॥५३॥

हरिहरादयोऽपि स्त्रीणां वशमीयुः । जितेन्द्रियाणामपि मुनीनां तपः स्त्रिय एव प्रभ्रंशयांचक्रुः, समये च दुष्कार्यमपि कृत्वाऽदीदर्शन्, यद् दृष्ट्वा पुमांसोऽपि स्वपराजयं मेनिरे । कैः स्त्रियाश्चरित्रं ज्ञातुं शक्यते ? अपि तु कैरपि नैव ।

यतः-

अश्वप्लुतं माधवगर्जितं च, स्त्रीणां चरित्रं भवितव्यतां च ।
अवर्षणं चापि सवर्षणं च, देवा न जानन्ति कुतो मनुष्याः?॥५४॥

संसारे तादृशाः स्तोका एव पुरुषाः सन्ति ये स्त्रीभिर्जिता न भवेयुः । योषितः खलु स्वेच्छानुकूलं विषममपि गिरिमारोढुं,

सर्पमपि वशीकर्त्तुं, महानदीमपि तर्तुं, केशरिणमपि हन्तुं, पुंभिर्दुष्करामपि क्रीडां कर्तुं पारयन्ति ।

यतः-

संमोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति,
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति ।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नराणां,
किं नाम वामनयना न समाचरन्ति ? ॥५५॥

प्रसन्ना वनिता कल्पलतेवाऽन्यथा विषवल्लरी समा भवति, सा तु कोशावेश्यासूरिकान्तादिवज्ज्ञेया ।

यतः-

रक्ता हरन्ति सर्वस्वं, प्राणानपि विरागतः ।
अहो ! रागविरागाभ्यां, कष्टं कष्टा हि योषितः ॥५६॥

अत्रेदं तात्पर्यम्-यत्स्त्रीजातावपरिमिता शक्तिः क्षमा च विद्येते । अस्यां स्थितौ तासां पुरुषाद् भयस्य कारणं नास्ति, या स्त्री स्वपतेर्बिभेति, तस्याः कृत्स्नं जीवनं निष्फलं याति । स्त्रीभ्यः कापि शिक्षा दातव्या न भवति ।

यतः-

उशना वेद यच्छास्त्रं, यच्च वेद बृहस्पतिः ।
स्वभावेनैव तच्छास्त्रं, स्त्रीबुद्धौ सुप्रतिष्ठितम् ॥५७॥

पुनस्तासु तु सकलाः शक्तयः स्वयमेवोत्पद्यन्ते । शिखिनामण्डेषु चित्रकार्यं कः करोति ? गजकुम्भभेदनं मृगेन्द्रं कः शिक्षयति? किन्तु जातिप्रभवो गुणः स्वयमेव जञ्जन्यते । तस्मादयि वधु !

संसारकौतुकस्य दर्शनेच्छा यदि ते वरीवर्ति, तर्हि त्वया चन्द्रकुमारस्य भयं सर्वथा मनसा त्याज्यम् । त्वं त्ववगच्छस्येव यन्मय्यनेका दैवीविद्या वर्तन्ते तासां प्रभावात्तवाऽखिलामिच्छां पूरयितुं समर्थाऽस्मि। आकाशगामिन्या विद्यया वयं रात्रावेवातिदूरं गत्वा ततः प्रातरनुत्थित एव जने कौतुकं दृष्ट्वाऽऽगन्तुं समर्थाः स्मः । आवयोरेव विचारितां *चन्द्र*स्त्वेतां वार्तां ज्ञास्यत्येव नहि ।

यतः-

षट्कर्णो भिद्यते मन्त्र,-श्चतुष्कर्णस्तु धार्यते ।
द्विकर्णस्य तु मन्त्रस्य, ब्रह्माप्यन्तं न गच्छति ॥५८॥

यदि कदाचिज्ज्ञास्यत्यपि तदा भयस्य कारणं नास्ति यतो मशकानां भयात्कोऽपि गृहं त्यजति ? ततो निश्चिन्तं त्वया स्थातव्यम् । *वीरमत्या* जल्पनमाकर्ण्य *गुणावली* प्रससाद तस्याः साहाय्येन नवं नवं कौतुकं देशादिकं चावलोकितुं शक्ष्यामीति तदानीं *गुणावली* विश्वस्ता बभूव । एतत्कार्यमनुचितमिति जानत्यपि *चन्द्रकुमारो* मां बाधितुं नाऽलं भविष्यतीत्यपि सा मनसि निरदीधरत्।

यतः-

अनृतं साहसं माया, मूर्खत्वमतिलोभता ।
निःस्नेहत्वनिर्दयत्वे, स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥५९॥

अतः क्षणं विचार्य सा *वीरमतीं* जगाद-पूज्यमातः ! अहं तु यथास्थाने यथोचितकार्यकर्तव्यतत्परायां श्रीमत्यामेव निर्भराऽस्मि । भवती यावन्मम रक्षणाय जागरुकाऽस्ति तावत्केभ्योऽपि साध्वसस्य मय्यवकाशो नास्ति । यदि च मां कौतुकं दर्शयितु-

मिच्छसि तर्हि अहमुद्यताऽस्मि । श्वश्रुगुणोपेता भवती मत्कृते देवी-स्वरूपाऽस्ति ।

यतः-

अन्तः स्नेहादशनवसनस्नानताम्बूलवेषैः,
संप्रीणन्ती दुहितरमिव प्रेक्षते या वधूटीम् ।
भक्तिग्राह्या मधुरवचना पुत्रिशिक्षासु दक्षा,
श्वश्रूरेवं गुणगणयुता प्राप्यते पुण्ययोगात् ॥६०॥

श्रीमत्या आज्ञोल्लङ्घनं स्वप्नेऽपि नाहं करिष्यामि । यद्यद्यैव मां तत्र नेतुमिच्छसि, तर्हि तत्राऽपि न मे काऽप्यनुपपत्तिरस्ति । यदा नर्तनं स्वीकृतमेव तदाऽवगुण्ठनं किमर्थम् ? परं प्रथमं केनचिन्मन्त्रेण स्वपुत्रमेव वशीकरोतु, यथा स काञ्चिद् बाधां न कुर्यान्मय्यप्यप्रसन्नो न च भवेत् । *गुणावल्या* एतद् वचनं श्रुत्वा *वीरमती* मनसि निश्चिक्ये, यदियमिदानीं सर्वथा मम जाले बद्धाऽभवदिति । साऽभाणीत्- वधु ! मत्समीपेऽवस्वापिनीनाम्नी विद्या वर्तते यया नगरस्थान् सर्वानपि प्राणिनो जडानिव विधातुं शक्नोमि, का वार्ता चन्द्रस्य वशीकरणे ? तस्य भयं तु त्वया सर्वथा मानसा-न्निःसार्यमेव । अस्तु, यदहं कथयामि तच्छृणु-अद्यैव यदि ते दर्शनेच्छा भवेत्तदा तदर्थमप्यहं प्रसक्ताऽस्मि । इतोऽष्टादशशत-योजनदूरे विमलापुरीनाम्नी नगर्यस्ति, तत्र महाप्रतापी मकरध्वज-नामा नृपती राज्यं शास्ति । तस्य प्रेमलालच्छीनाम्नी परमलावण्य-वती तनयाऽस्ति, तया सह सिंहलपुरस्य कनकध्वजनाम्नो राज-कुमारस्य परिणयोऽद्यैव रात्रौ भविष्यति, यस्य दर्शनीयतरो महोत्सवो भविष्यति, अतो यदि ते दर्शनेच्छा वर्तते तर्हि वयं

सज्जिता भवेम। एतच्छ्रुत्वा गुणावली दर्शनार्थं लालायिता भूत्वा वीरमतीमवोचत् - मातः ! निःसन्देहं भवत्या गुणानां पारो नाऽस्ति, भवादृशी श्वश्रूः पूर्वजन्मसुकर्मणैव मया लब्धा। श्रीमत्योक्तमहोत्सवस्य दर्शनेच्छा मां नितरां बाधते, किन्तु दैवीशक्तिं विनाऽतिदूरगमने कथं वयं समर्थाः स्याम ? हसन्ती *वीरमत्य*चकथत्- वधु ! किमनेनैव काठिन्येन त्वं चिन्तिता भवसि ? कथमपि त्वं मा चिन्तीः, यतो मम पार्श्वे गगनगामिनी विद्याऽस्ति, तस्या एव प्रभावाद् रात्रावेव लक्षयोजनमपि गन्तुं पारयामि, ममैतन्मार्गं तु पदप्रमाणमपि नास्ति। गगनगामिन्या विद्याया वृत्तं श्रुत्वा गुणावली महानन्दभरेण विचकास। तयोचे- साधु साधु सर्वोत्तमेयं विद्या वर्त्तते परमस्ति साम्प्रतं बाधको यन्महाराजोऽधुना सभां गतोऽस्ति, सन्ध्यां यावत्तत्रैव स्थास्यति। तदनन्तरं सान्ध्यं कर्म समाप्य प्रथमयामव्यतीतायां निशि स मम हर्म्यमायास्यति, पश्चात्प्रहरस्तु वार्तालापेन हास्यविनोदेन च संसरिष्यति, ततो निशार्द्धे स्वप्स्यति पुनः प्रहरं यावच्छयित्वा तूर्णमेवोत्थायाऽऽसिष्यते। एतेन मेऽवकाश एव न मिलिष्यति, अतः कदाऽहं श्रीमत्या सह गमिष्यामीत्याज्ञापय। *वीरमत्यो*चे- वधु ! त्वमस्य विषयस्य चिन्तां वृथा मा कृथाः। यद्यदहं कथयामि तत्तत्कुरु मद्विद्यायाश्चापूर्वं चमत्कारं पश्य। अहमिदानीमेव तथा करोमि, यथा स निश्चितसमयात्पूर्वमेव सभातः समागमिष्यति। अनन्तरं केनचिदुपायेन तं स्वापयिष्यामि, तवाभिलषितं च सेत्स्यति। यदा स शयिष्यते तदा त्वया मत्समीपे समागन्तव्यम्, पुनरहं सर्वं साधु करिष्यामि। इत्थं गुणावलीं प्रतिबोध्य *वीरमती* स्वमन्दिरमाजगाम, तदनन्तरं *गुणावली* स्वान्ते

विचारयामास-मातरि तथ्यमीदृशी विद्या भविष्यति न वेति ? सा तु महतीं वार्तां करोति, परं तस्यां मे विश्वासो न भवति । अस्तु, पतिदेवो यदद्य राजसभातः शीघ्रमेवागच्छेत्तदा तस्या वचनं तथ्यमेव भवितुमर्हति ।

इतो *गुणावली*त्थं तर्कवितर्कं कुर्वत्येवासीत्तावद् गृहोपविष्टा *वीरमती* काञ्चिद्विद्यां साधयितुं लग्ना । द्रुतमेव तस्याः साधनेन कश्चिद्देवः प्रादुर्भूय तामुवाच-किमर्थं ममाराधनां करोषि ? *वीरमती* प्रोवाच- हे देव ! निष्प्रयोजनं कष्टं नाऽददाम् । अहमिच्छामि, यदद्यैव भवांस्तथोपायं करोतु, यथा मे पुत्रो निर्धारितसमयात्पूर्वमेव दिवसे राजसभातः समागच्छेत् । एतन्निशम्य देवोऽगादीत्-एतदर्थ-मेव त्वयाऽहमाकारितः ? मदर्थमेतत्कार्यं दुष्करं नास्ति । सम्प्रत्येव तथोपायं करोमि, येन तव सुतः सभां विसृज्याऽविलम्बितमेवा-गमिष्यति । एवं कथयन्नेव स देवस्तत्क्षणमेव वर्षर्तुमिव समयमकरो-त्तस्मिन् समयेऽन्तरिक्षे श्यामीभूताऽभ्रघटा वितेने । कानने बर्हिणा नृत्यन्तः केकामकार्षुर्वृक्षं प्राप्य लतेव व्योम्नि विद्युत्प्रससार सहैव स्तनितेन मुसलधारा वृष्टिः पपात । तेन च सर्वदिक्षु ध्वान्तो व्यानशे । सर्वे स्वगृहगमनायाऽधीरा अभूवन्, राजा चन्द्रोऽपि दुर्दिनं निरीक्ष्य शीघ्रमेव समितिं विससर्ज । अनस्तमित एव भानौ *गुणावली*मन्दिरमाजगाम, तेन कारणेन *गुणावली* परमाश्चर्य-मियाय, सा च *वीरमत्याः* कथनेऽतीव श्रद्धावती बभूव । पतिदेवं निरीक्ष्य बद्धाञ्जलि*र्गुणावली* चचक्षे- प्राणनाथ ! अद्य शीघ्रमेवाऽ-ऽयान्तं श्रीमन्तं विलोक्य मे परमानन्दो भवन्नस्ति । किन्त्वौदासीन्यं कथं लक्ष्यते ? अस्ति सौमनस्यं किम् ? राजा *चन्द्रो*ऽगदत्-

प्रिये ! अनया वृष्ट्या वातेन चाऽद्य समयात्पूर्वमेव सभाया विसर्जनं कर्तुमभवत्, तस्मादेव कारणात्स्वास्थ्यमपि समीचीनं नास्ति । राज्ञो वचनं श्रुत्वा *गुणावली* सत्वरमेव सुकोमलां शय्यां कृतवती, शीतनिवृत्त्यर्थं राजा श्रवणे बद्ध्वा तस्यां विश्रामं कर्तुमलगत् । *गुणावली* च तेन कस्तूर्यादिमिश्रितं ताम्बूलमखादयन्नानाविधाना-सवानपाययत्, नारायणादिकं तैलं चाऽमर्दयत्तेन शीघ्रमेव राजा शीतरहितोऽभूत् ।

अथ *गुणावली*कृतपादसंवाहनादिभिर्लब्धस्वास्थ्यो नृपो निद्राकल्पमाप । गुणावल्याश्चेतस्तु दोलायमानमिवासीदेव, ततः क्षणं विरामं विरामं पश्यन्त्यप्यासीत्, यदयं शेते जागर्ति वा, इत्थं शनैः शनैः सन्ध्याऽपि समागता । *गुणावली* सम्प्रत्यप्यस्थिर-तयेतस्ततोऽवलोकयन्त्यस्ति, परं राज्ञः सन्ध्यावेलायां निद्रा कुतः? गुणावलीं तथा विलोक्य संशयमगमत्तेन स जाग्रदपि नेत्रयोर्मीलनेन निद्रित इवाऽलक्ष्यत, स च मनसि विचारयामास-सुशीलापीयं दुःशीलायते केनचित्कारणेनात्र भवितव्यम् । कुसङ्गेन भ्रष्टेयमिति प्रतिभाति, कुसङ्गात् को भ्रष्टो न भवति ? ।

उक्तमपि -

कुसङ्गतेः कुबुद्धिः स्यात्, कुबुद्धेः कुप्रवर्तनम् ।
कुप्रवृत्तेर्भवेज्जन्तु-र्भाजनं दुःखसन्ततेः ॥६१॥

अतोऽन्यस्याऽपि प्रेमणि निबद्धा भवेदिति संभवोऽस्ति, यतः कुसङ्गाद्योषितामीदृश्येवावस्था भवति । गुणावल्याश्चेतस्यपि कुमत्युद्गमेन सा व्यभिचारिणी भवेदतः किं चित्रम् ? अस्याश्चाप-

ल्येन कुत्रचिदियं गन्तुकामेति प्रतीयते । एवं राजा *चन्द्रो* विविधं वितर्कं कुर्वन्नासीद् *गुणावल्या* लीलां निरीक्षितुं निद्रितं चात्मानं दर्शयितुं नेत्रे निमील्य निद्रामुद्रां जग्राह । तेन च राजा गाढनिद्रया शेत इति *गुणावली* मेने, तदानीं तूष्णीमुत्थाय मन्दिरान्निरगच्छद्राजाऽपि यान्त्यामेव तस्यां शीघ्रमुत्थायोपविश्य करेण करवालमाकृष्य *गुणावल्या* अनुगमनक्रमेण चचाल । तमस्विन्यामपि *गुणावली* निर्भीकाऽऽसीत्ततस्तस्याः किमपि नृपोदन्तमवगतं नाभूत् । तत्र च वीरमती चिरात्तस्याः प्रतीक्षां कुर्वती तामायान्तीमवलोक्य प्रसन्ना बभूव, वृष्टिसृष्ट्यर्थं च स्वविद्यां प्रशशंस । *गुणावल्य*पि तस्याश्चमत्कृतिं प्रशंसन्त्युवाच- पूज्यमातः ! श्रीमत्या आदेशानुसारं पतिदेवं प्रस्वाप्यागताऽस्मीदानीं यत्कर्तव्यं तत्करोतु । तस्य जागरणात्पूर्वमेव ततः परावृत्यागच्छेयमितीच्छामि, यथेदं रहस्यं तस्य विदितं न भवेत् । इतश्च राजा *चन्द्र*स्तिष्ठन् सर्वं च वृत्तान्तं पश्यन्नासीत्तस्मिन्नेव समये *वीरमत्यो*चे- प्रियवधु ! त्वमुद्यानात्करवीरवृक्षस्यैकां यष्टिमानय तामभिमन्त्रितां कृत्वा ददामि । तया शयानं पतिं त्रिः स्प्रक्ष्यसि, तदा स प्रातर्यावदपनिद्रो न भविष्यति। श्वश्रूवचनं श्रुत्वा *गुणावली* तदानीमेवोद्यानाद्यष्टिमानिनाय, तत्र तस्याः संकोचो भयं च न बभूव, सा शीघ्रं यष्टिमानीय *वीरमत्याः* करे न्यदधात् । राजा सर्वं वाग्जालं शृण्वन्नेव झटिति स्वमन्दिरमागत्य शय्यायां मनुष्याकृतिमिव वस्त्रैराच्छाद्य स्वयं च निभृते विवेश, यथा *गुणावली* तं न पश्येद्यथास्थानं शयानं च जानीयात्। *वीरमती* करवीरयष्टिमभिमन्त्र्य *गुणावल्यै* ददानोवाच- प्रियस्नुषे!

पत्युस्त्वया मनागपि न भेतव्यम्, हृदये साहसं धेहि, मम कथितं शीघ्रतरमेव कृत्वाऽऽगच्छ । *वीरमत्या*देशानुरूपं तां यष्टिं गृहीत्वा गुणावली स्वहर्म्यमियाय । पादध्वनिं निशम्य यष्टिस्पर्शेन वा पतिर्न जागर्यादिति शङ्कमाना गुणावली परितो विलोकयन्ती सावधानतया मन्दं मन्दं शयनगृहं प्रविवेश । शय्यामभिविलोकनेन महाराजो यथापूर्वं शयानोऽस्तीति प्रतीयाय, अतः सा यष्ट्या वारत्रयं स्पृशन्ती तदानीमेव ततः पश्चादैत् । राजा चन्द्रोऽपि तस्याश्चरित्रं पश्यन्नस्यां वीरमत्या हस्तस्फालनं कृतं तस्या आदेशानुकूलं गुणावली सर्वं कार्यं करोतीति चामन्यत। पुनरसौ वीरमत्याः सकाशमावव्राज समवसृतायामेव तस्यां राजाऽपि तामनुससार । सा तु वीरमत्याः सद्म व्रजन्त्यासीत्ततः स द्वारदेश एव तिष्ठन् तयोर्वार्तां श्रोतुमलगत्। गुणावली च तां यष्टिं वीरमत्यै समर्पयन्त्यकथयत्–मातः ! एतत्कार्यं तु कृत्वाऽहमागता पतिदेवाच्च निःशङ्काऽभूवम्, किन्तु सम्प्रति नागरिकाणां साध्वसस्तु वर्तत एव । यदि तेभ्यः केनचिद् वयमवलोक्येमहि, कथञ्चिद् वा राज्ञः कर्णेऽयमुदन्तः पतेत्तदाऽवश्यं मेऽनिष्टं भविष्यति, अतस्तदर्थम-प्युपायो भवेदवश्यं करोतु । वीरमत्युवाच–प्रियवधु ! त्वं नितरां भ्रान्ताऽसि, त्वमित्थं पदे पदे कथं बिभेषि ? मम जीवनमेवं कुर्वदेव व्यतीयाय । अधुना तथा करोमि, यथा मन्दिराद् बहिर्ये सन्ति, ते सर्वे प्रातर्यावद् गाढनिद्रायां निमग्ना भवेयुः । एतदाकर्ण्य राजा चन्द्रो भयभीततरोऽभवत्, परन्तु क्षणान्तर एव भयनिवृत्तो-ऽप्यभूत्, यस्मादेतन्मन्दिरबहिर्भूता एव निद्रिता भविष्यन्तीति वीरमती कथनमासीत्, स तु मन्दिराभ्यन्तर एवाऽतिष्ठत्ततो राजनि

चिरं भयस्यावकाशो न बभूव । अथ वीरमती गर्दभीरूपं धृत्वा घोरनादं चकार, यस्य श्रवणेन सर्वे नागरिका घोरनिद्रामापुर्ये यत्रैवाऽऽसन्, ते तत्रैव निद्रादेव्युत्सङ्गे पतिता निःसंज्ञका बभूवुः । इयं च निद्रा मूर्च्छाप्रतिकृतिरेवाऽऽसीदिति ते सर्वे विपत्तावागतायामपि सूर्योदयात्पूर्वमुत्थितुमसमर्था अभूवन्। इत्थं नागरिकानवस्वापिन्या निद्रया मूर्च्छितान् कृत्वा सह गुणावल्या वीरमती बहिर्निरसरत् । राजा चन्द्रस्तु सर्वं चरित्रं पश्यन्नेवाऽऽसीदतस्तयोर्बहिर्निर्गच्छन्त्योरेव स विविक्ते समुपविष्टस्तयोर्वार्तां श्रुतवानासीत्। श्वश्रूर्वधूमुवाच-मत्कृतनिद्रया नगरवासिनस्तथा कृता यथा तत्र पटहादिघोषणेनाऽपि तेऽपनिद्रा न भविष्यन्ति । इदानीं चल, वयमुपवनमभिगच्छामः । तत्र प्रवेशे सति द्वारदेशे यो रसालवृक्षोऽस्ति, तमारुह्य विमलापुरीं व्रजिष्यामः ।

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्य षष्ठमपरिच्छेदे

वीरमतीगुणावल्योर्विमलापुरीप्रस्थानम् –

नागरिकान्निद्रितान् विधाय श्वश्रूवध्वौ गमनाय सज्जिते बभूवतुः । तत्र गमनकाले वीरमती तां पुनरुवाच-प्रियगुणावलि ! इतोऽष्टादशशतयोजनदूरवर्तिविमलापुरीगमनमसंभवं मन्यमानया त्वया दृश्यतां-मम विद्याबलेन त्वामविलम्बितमेव तत्र नयामि । गुणावल्यै वीरमत्योक्तमुद्यानस्थाऽऽम्रवृक्षमारुह्य विमलापुरी-गमनमिति राज्ञा चन्द्रेण पूर्वत एव श्रुतमासीत्, इति राजा चन्द्रोऽपि तत्र गत्वाऽनयोश्चरित्रमवलोकनीयमिति चिन्तयंस्ताभ्यां पूर्वमेवोद्यानं गत्वाऽतिष्ठत् । वीरमत्या कथितमाम्रवृक्षं ध्यानेन पश्यन् तस्मिन् सुखेनोपवेष्टुमर्हमन्येनालक्ष्यं कोटरमेकमपश्यत्। किञ्चिद् विचारस्य तत्राऽवस्थानस्य च समयाभावाद् द्रुतमेव स तत्र गत्वा प्रविवेश चाचिन्तयत्-गुणावली तु गुणावल्येवाऽऽसीत्, मयाद्यपर्यन्तं तस्यां दुर्गुणो न दृष्टः, परमृजुस्वभावतया मातुः कपटजाले पतिताऽस्ति, तयैव तस्या बुद्धिविपर्ययः कृत इति ज्ञायते परं सम्प्रत्यनयोः कृतिर्दर्शनीया । अनन्तरमेव ते तत्रागत्योपस्थिते बभूवतुस्ते उभे विलोक्य राजा विचारमग्नः संजातः, यदिमे वृक्षान्तरमारुह्य गच्छेतां तदा तत्र मम गमनं न भविष्यति, परं तदैव प्रसन्नमनसौ ते तमेव वृक्षमारुरुहतुरिति तस्य शङ्का शीघ्रतरमेव न्यवर्तत । राजाऽपि तथा छन्न आसीद्यथा ताभ्यां द्रष्टुं न शक्येत, वीरमती करवीरयष्ट्या

कसाघातमिव तमाम्रवृक्षं संताड्य जगाद-आवां विमलापुरीं नय। तदानीमेवाम्रवृक्षो वायुयानमिव वियत्युड्डीयमानो विमलापुरीमभिच-चाल। यथा केवलज्ञानवारकेण कर्मणा जीवानां केवलज्ञानमावृतं भवति, तथा कोटरावरणेन राजा चन्द्रोऽप्यावृत आसीत्। परन्तु मतिश्रुतादिज्ञानवारकस्य कर्मणः क्षयोपशमेन जीवानां किञ्चिद् बोध इव राजा चन्द्रोऽपि कोटराभ्यन्तरतो बाह्यपदार्थदर्शनक्षम आसीदेव। मानसादपि द्रुतगतिराम्रवृक्षोऽभूत्, तदानीमेव चन्द्रोदयाद् विविधानि नगरवनोपवनानि तस्य दृष्टिगोचराणि भवन्त्यपि क्षणान्तर एवादृश्यानि बभूवुः। द्यावापृथिव्योर्मण्डलं परितो निर्मला चन्द्रिका प्रसरन्त्याऽऽसीत्, तत्राम्रवृक्षस्योड्डयनं क्षीरसागरे तरिरि-वाभवत्पथ्यागतं स्थानविशेषं गुणावलीं दर्शयन्ती वीरमती तस्य वर्णनं कुर्वती जगाम। समागतायां गङ्गायां सा बभाषे-प्रियवधु! पश्येयं परमपाविनी गङ्गाऽस्ति यस्यां स्नानमात्रेण प्राणिनामेनोमलं धौतं भवति। पश्येयं कालिन्दी नद्यस्ति, चैतस्या अपि जलं बाढं निर्मलं नीलं दृश्यते। इत्थं मार्गस्थं सकलं वस्तु दर्शयन्ती तेषां गुणं च विवृण्वती जगाम। पुनरग्रे दृश्यमानमष्टापदगिरिं गुणावलीं दर्शयन्ती जगाद-पुत्रवधु ! पश्यायमष्टापदाद्रिर्विद्यतेऽत्र भरतेन निर्मापितं स्वर्णमणिमयं जिनचैत्यं सुशोभितमस्ति। अतः पूर्वस्यां दिशि भगवतः श्रीऋषभदेवस्य भगवतोऽजितनाथस्य च, दक्षिणस्यां संभवनाथादीनां चतुर्णां, पश्चिमायां सुपार्श्वनाथादीनामष्टा-नामुत्तरस्यां च धर्मनाथादीनां दशानां तीर्थङ्कराणां मूर्तयो विद्यन्ते। अत्र रावणः समागत्य तीर्थङ्करनामकर्मोपार्जयिष्यते, इममद्रिमेव परितो वलयाकारा गङ्गा प्रवहति। पुनरग्रे गते सम्मेतशिखर-

मवलोक्य वीरमत्योचे- प्रियवधु ! एतत्तीर्थं वन्दस्व यतोऽत्र प्रथमो द्वादशो द्वाविंशश्चतुर्विंश एतांस्तीर्थङ्करान् विनाऽवशिष्टास्तीर्थङ्करा मुक्तिं लप्स्यन्ते, तेषु सप्तदशतीर्थङ्करा मोक्षं गता अवशिष्टास्त्रयोऽपि यास्यन्ति । अयं वैभारगिरिरयमर्बुदा-चलोऽयं सिद्धाचलश्चास्ति, तेषु सिद्धाचल एव पापौघहरणे श्रेष्ठतमो विद्यते-
यतः-

कृत्वा पापसहस्राणि, हत्वा जन्तुशतानि च ।
इदं तीर्थं समासाद्य, तिर्यञ्चोऽपि दिवं गताः ॥६२॥

अस्य दर्शनमात्रेणैव जीवानां कृत्स्नं पापं नश्यति, पूर्वस्मिन् कालेऽत्र भगवानृषभदेवो नवनवतिपूर्ववारं समवसृतोऽभूत् ।
किं बहुना -

वच्मः किमस्य चोच्चैस्त्वं, येन पूर्वजिनेशितुः ।
अधिरुह्यात्र लोकाग्रं, पौत्रैरपि करे कृतम् ॥६३॥

इहाऽसंख्यातैर्मुनिभिः केवलज्ञानं च सिद्धपदं जग्मे । अस्य तीर्थस्य प्रथमोद्धारो भरतचक्रिणा, द्वितीयो राज्ञा दण्डवीर्येण, तृतीय ईशानेन्द्रेण, चतुर्थो माहेन्द्रेण, पञ्चमो ब्रह्मेन्द्रेण, षष्ठो भुवन-पतीन्द्रेण, सप्तमः सगरचक्रिणा, अष्टमो व्यन्तरेन्द्रेण, नवमश्चन्द्रय-शोनृपेण, दशमश्चक्रायुधेनाऽकारि । एवं दशकृत्वोऽस्य तीर्थस्यो-द्धारोऽभूत्पुनरपि रामचन्द्रेण करिष्यमाण उद्धारोऽवशिष्टोऽस्ति। प्रियवधु ! त्रिविधिनैनं वन्दस्व, यतोऽस्य संसारसागरस्योत्तरणा-याऽयं साक्षात्तरिकल्पोऽस्ति ।
यतः-

यो दृष्टो दुरितं हन्ति, प्रणतो दुर्गतिद्वयम् ।
सङ्घेशार्हन्त्यपदकृत्, स जीयाद्विमलाचलः ॥६४॥

कियद्दूरे गत्वा गिरनारतीर्थं दर्शयन्ती वीरमती जगाद, पश्य-गिरनारगिरिरागतोऽत्र राजुलपतिना श्रीनेमिनाथस्वामिना मुक्तिवध्वाः पाणिग्रहणं करिष्यते । एतत्तीर्थमपि सिद्धाचलानुरूपं फलप्रदं विद्धि ।

यदुक्तं-

स्पृष्ट्वा शत्रुञ्जयं तीर्थं, नत्वा रैवतकाचलम् ।
स्नात्वा गजपदे कुण्डे, पुनर्जन्म न विद्यते ॥६५॥

इहैवैकस्मिन् स्थाने हस्तिनः पादो निमग्नोऽभूदतस्तत्र गजपदकुण्डं व्यरच्यत, अनेन क्रमेण नूत्नं नूत्नं तीर्थमीक्षमाणे ते उभे प्रसन्नतया विमलापुरीमभिचेरतुः । अग्रे निःसृत्य वीरमती प्राह-ईक्षस्व, इह नदीसमुद्रयोः संगमो भवति लवणोदधिरयं जम्बूद्वीपस्य चतुर्दिक्षु वलयाकारः पतितोऽस्ति विविधरत्नानामत्र राशिर्वर्तते । द्विलक्षयोजनायामस्तटे किञ्चिन्निम्नो मध्येऽगाधो दशसहस्रयोजनमिततटमध्यदेशोऽयमुदधिरस्ति, पुनरस्य सहस्र-योजनं निम्नत्वं चास्ति यस्य वीचयः षोडशसहस्रयोजनमूर्ध्वमुच्छ-लन्ति । अत्र गव्यूर्तिं यावद् वल्लयो वर्धन्ते किञ्चाऽमुं परितः कलशाकाराश्चत्वारो भुवनपतयो भवन्ति येषामास्यानि दशयोजन-प्रमाणानि सहस्रयोजनमितं स्थौल्यं, लक्षयोजनदैर्घ्यं चाऽस्ति । अस्माद् घनवाततनुवातयोर्निर्गमनेनाऽस्य कल्लोला भृशमुच्छलन्ति यन्निवारणायाऽनिशं सुरगणा दण्डहस्तास्तिष्ठन्ति सर्वमेतच्छाश्वति-

कमस्ति । एवंविधां वार्तां कुर्वाणे द्वे विमलापुरीं निकषेयतुर्यस्याः सुषमा दूरादेव दृश्यमानाऽऽसीत् । विविधमनोहरोपवनानि रमणीयतरतडागा अभ्रङ्कषाः प्रासादाश्च दर्शकानां चेतोहरणाय परस्परं कृतग्लहा इवाऽऽसन् । नगरप्रासादा आलोकोज्ज्वलज्योतिषा जाज्वल्यमाना विलसन्ति, सर्वमेतदवलोक्य गुणावली वीरमतीमपृच्छत्-मातः ! किमाख्येयं नगरी ? वीरमत्योदे- इयमेव विमलापुर्यस्ति, यां द्रष्टुमत्राऽऽगताऽसि । अस्मिन्नेव समये माकन्दपादपोऽम्बरादवनीतलमवततार, नगराद् बहिरुपवने तस्थौ च वीरमतीगुणावल्यौ तस्मादुत्तीर्य नगराभिमुखं चेरतुः । पश्चाद्राजा चन्द्रोऽपि तदनुगमनक्रमेण जगाम । मातुरद्भुतविद्यावलोकनेन तन्मनसि किञ्चिदपि भयसंचारो नाऽजनि, यतो वीरपुरुषो मृगेन्द्र इव निरन्तरं निर्भीको भवति ।

यतः-

एकोऽहमसहायोऽहं, कृशोऽहमपरिच्छदः ।
स्वप्नेऽप्येवंविधा चिन्ता, मृगेन्द्रस्य न जायते ॥६६॥

शनैः शनैरुभे नगरं विविशतुः, राजा चन्द्रोऽप्येतावत्कालं ताभ्यां सहैवाऽऽसीत् नगरप्रवेशानन्तरं वीरमती गुणावलीं कृत्स्नं नगरं भ्रान्त्वा भ्रान्त्वाऽदर्शयत । पश्चादुभाभ्यां विवाहमण्डपो जग्मे तत्र नृत्यगानवाद्यादीनां ध्वनिर्गुञ्जमान आसीत् । तदानीं वरवध्वोरागमने विलम्ब आसीत्, अतस्ते तत्रैव संतिष्ठमाने परितो देदीप्यमानां शेभां द्रष्टुमलगताम् ।

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्य सप्तमपरिच्छेदेऽघटितविचित्रघटना-

इत्थं निर्विघ्नबाधं वीरमतीगुणावल्यौ विवाहमण्डपमीयतुः परं राजा चन्द्रो नगरं प्रविशन्नेव बाधया बाधितोऽभूत्, येन तस्य सर्वोऽपि कार्यक्रमो व्यत्यासत्वमाप । नगरस्य प्रथमद्वारे पादे निहिते सत्येव कश्चिन्नम्रशिरोद्वारपालः पूर्वसंस्तुत इव तं प्रणनाम। तं तथाऽवलोकमानः साश्चर्यो राजा मामन्यं वा प्रणमतीति चिन्तयति स्म । कोट्टपालः पुनरपि तं विस्मापयन्नुवाच-जयतु जयतु चन्द्रनरेन्द्र! सत्यं भवान् गुणागारोऽत्राद्य समागत्याऽस्मान् सनाथानकरोत् । अधुना श्रीमतामागमनेनाऽस्माकं महती चिन्ता दूरमगमत्, वयं द्वितीयाचन्द्रवद् भवदागमनं प्रतीक्षमाणा आस्म । सम्प्रति दयां कृत्वा सिंहलपुरराजस्य समीपं चलतु, तस्यावासं च पुनातु । प्रतीहारस्यैतद्वचनं श्रुत्वा राजा चन्द्रः स्वान्ते चिन्तितवान्-अहो ! महदाश्चर्यमेतद्यदयं मामेव नो किन्तु ममाख्यामपि वेत्ति, परं भ्रान्तो-ऽयमिति मे प्रतिभाति । कश्चिदन्यं चन्द्रं प्रतीक्षेत्तद्भ्रमेण मया सहेत्थं वदेदित्यपि संभवति, एतद्विचार्य नरेन्द्रेण चन्द्रेण जगदे-हे द्वारपाल ! चन्द्रस्त्वाकाशे वसति, पुनस्त्वं केन वार्तां कुर्वन्नसि? अस्यां नगर्यां मे महत्कार्यमस्ति, अतो मां मा वारय, इत्थं कश्चिद-ज्ञात्वा रोधनं नोचितम् । बद्धाञ्जलिना द्वारपालेनोचे- हे आभानरेन्द्र! भवानात्मानं कथमपलपति ? किं रत्नं जात्वप्यलक्षितं भवेत् ? कस्तूरीगन्धः केनचित् किमाच्छाद्यते ? नाऽहं भ्रान्तः किन्तु सम्यग-

वागच्छम् ।

यतः-

विषमस्थितोऽपि गुणवान्, स्फुटतरमाभाति निजगुणैरेव ।
जलनिधिजलमध्येऽपि हि, दीप्यन्ते किं न रत्नानि ?॥६७॥

अतो भवानेव चन्द्रराजाऽभिध आभानरेन्द्रोऽस्ति, एवमुक्त्वा द्वारपालस्तस्य करं गृहीत्वाऽऽत्मना सह गन्तुं सविनयं तमनुरुध्यते स्म । तदा राजा हस्तं मोचयन्नुवाच-भ्रातः ! हस्तं कथं गृह्णासि? त्वया यद् वक्तव्यं तद्दूरादेव कथ्यताम् । मया त्वं विक्षिप्तचेता इव लक्ष्यसे, यतस्त्वं मां चन्द्रराजं मत्वाऽऽत्मना सह चलितुं दुराग्रहं करोषि मे मिथ्यावल्गनस्य प्रयोजनं नास्ति । व्यर्थं मां त्वमस्मिन् संकटे पातयसि त्वं द्रव्याभिलाषी चेत्तदपि दातुमुत्सुकोऽस्मि, परमित्थं व्यर्थं मां निरुध्य मे समयं निष्फलं मा कुरु । अद्यारण्ये मे बहुकालो व्यतीयाय, ततश्चिन्तिता मे प्रसूर्मां प्रतीक्षमाणा भवेत्। द्वारपालोऽवादीत्- राजन् ! इतोऽष्टादशशतयोजनदूरवर्तिनी भवद्राजधानी विद्यते, पुनरत्र कथं कुत्र वा भवज्जननी भविष्यति? कृपयेत्थं मां नो सन्देहे पातय, मे च मा क्रुध्यतु । यदि भवादृशाः प्रतापिनो मिथ्याभाषिणो भवेयुस्तर्हि कथमियमचला संसारभारं बिभृयात् ? ।

यतः-

जेण परो दूमिज्जइ, पाणिवहो होइ जेण भणिएण ।
अप्पा पडइ अणत्थे, न हु तं जंपंति गीअत्था ॥६८॥

राजन् ! मादृशानां जीवनं भवादृशानामुत्तमपुरुषाणां सेवां

कुर्वदेवाऽगमत्तस्मादित्थं भ्रमपूर्णवृत्ते कदाचिदपि नागन्तुं शक्नोमि। मम प्रभुरावश्यककार्यवशाच्छ्रीमता सह संगन्तुमिच्छति, अतो मे प्रार्थनामुरीकृत्य मया सहैतुं चेष्टताम् । इदानीं राजा चन्द्रोऽतीव संकटेऽपतद् वीरमतीगुणावल्यौ तस्मिन् कालेऽतिदूरवर्तिन्यौ नाऽऽस्तामतो राज्ञो मनः सभयमासीद्यदेनं विवादं ते शृणुयातां चेदन्यस्मादन्यं भवेत्ततः स मौनेनैव द्वारपालेन सह गमनमेव स्वीचकार, तेन प्रहृष्टमना द्वारपालः सहैव तेन सिंहलपुराधीशस्य सौधं वव्राज । मार्गस्थाः सर्वे कर्मचारिणो नम्रशिरसस्तं प्रणेमुस्तेन राज्ञश्चन्द्रस्य मनसि शङ्का वर्धमानाऽऽसीत् । अत्रत्यानां जनानां मया सत्रा कथं परिचयः ? माम्प्रत्येते कथमादरं चाऽदर्शयन्निति तस्य कथमपि विदितं नाऽभूत् । शनैः शनैर्नगरस्य द्वितीयं द्वारमगमदत्रस्था अपि जना राजानं प्रणम्योचिरे- हे राजन् ! स्वागतं वः, सिंहलनृपो मम प्रभुर्भवन्मार्गमेव प्रतीक्षते । यथा चक्रप्रकटनेन चक्रवर्तिनो मनोरथाः सफलीभवन्ति, तस्य च नवनिधीनां प्राप्तिर्भवति, तथैव मम महाराजस्य भवतः समागमेन कार्यसिद्धिर्भविष्यति । राज्ञे चन्द्रायेदं वृत्तं नाऽरोचताऽतस्तस्यौ-त्सुक्यमेधितमासीत्स च रुष्टः सन् बभाषे-यूयं मां चन्द्रं कथं जानीथ ? यथा धत्तूरभक्षकाणां सर्वत्र हिरण्यमेव दृष्टिगोचरं भवति, तद्ग्रहणार्थं च ते धावन्ति, तथैव युष्माकमपि परितश्चन्द्र एव नेत्रपथमारोहति, भवतां राजाऽपि भवादृश एवाऽस्तीति जाने। तेन मे कः परिचयः ? मामृते तस्य किमेतादृशं कार्यं यन्न सिध्यति ? यस्माद्यूयमित्थं वार्तां कुरुथ, तेन यूयं यथार्थं धूर्ता इति प्रतीयते । एवं कतिचित्पथिकाश्चन्द्रभ्रमाद् युष्माभिर्वञ्चिता

भवेयुरिति न जाने ? तदा द्वारपालाः स्पष्टीकुर्वन्त आख्यन्-वयं सिंहलनरेन्द्रस्य सेवकाः स्मः, तेनैव निर्दिष्टाज्ञा वयमत्र स्थापिताः स्मः, तयैवाऽभिज्ञया भवानेव चन्द्र इत्यस्माभिरज्ञायत, इदानीं संस्तुतो भवानात्मानमपलपितुं न चेष्टताम् । इत्थं द्वारपालस्य वचनमाकर्ण्य किञ्चिद् वृत्तान्तज्ञानं राज्ञोऽभूत्, अतः शान्त्या नृपोऽ-प्राक्षीत्-युष्मान् किं चिह्नमवोचत्, येन मां चन्द्रं कथयथ? एतन्निशम्य द्वारपाला ऊचुः- पूर्वस्थपुरद्वारेण रात्रेः प्रथमयामव्यतीते यः पुमान् स्त्रीभ्यामन्वङ् नगरं प्रविशेत्तं राज्ञश्चन्द्रस्य नाम्नाऽऽहूय यूयं प्रणमेत, अत्यादरेण मत्समीपं चाऽऽनयेत । तेन ममैकमावश्यकं कार्यमस्ति, तस्यैव सिंहलपतेरादेशानुसारेण स्थाने स्थाने समुप-विष्टा वयं श्रीमन्तं प्रतीक्षमाणा आस्म-राज्ञोक्तसङ्केताधारेण भवन्तं चन्द्रराजं जानीमः, तेनैव च श्रीमन्तं तत्समीपगमनार्थं प्रार्थयामहे । महाराजस्य भवता साकं किं कार्यमस्ति, तदस्माकं प्रष्टव्याऽनधिकारतयाऽज्ञातमस्ति । तस्मादिदानीं श्रीमतोऽस्माभिः सह नूनं गन्तव्यं भवेत्, कार्यं च युवयोः संगमेन स्वयमेव स्फुटीभविष्यति। राज्ञश्चन्द्रस्यैकाकित्वाद् द्वारपालानां चासङ्ख्ये-यत्वाच्चेतसि स चिन्तयति स्म-एतावत्कालं केवलं मातुरेव भयमासीत्, संप्रति सिंहलनरेशस्यापि भयमाजगाम । तत्र गते किं भावीति न वेद्मि, परमेतेषां हस्तान्मुक्तिरप्यसुलभा, यतोऽ-हमसहायो नगरमप्यन्यदीयमेते च कर्मचारिणः, एषां प्रतिबोधने-नाऽपि न कश्चिल्लाभो भविष्यति, अतः सम्प्रति तन्निकटे गमनमेव श्रेयस्करं भविष्यति । इति विचार्य स द्वारपालानवदत्-चलन्तु, युष्माकं स्वामिनः सन्निधौ गन्तुं सन्नद्धोऽस्मि मम यद्वक्तव्यं

भवेत्तत्तत्रैव कथयिष्यामि । पथि यथा यथाऽग्रे स गतस्तथा तथा मिलिताऽभिनवद्वारपालादयस्तं प्रणम्य सादरं सममंसत । राजभवनं यावद् गच्छता तेन सह जनतया संकुलं मार्गमभवत्कष्टेन सर्वे राजभवनमविशन् । राज्ञश्चन्द्रस्याऽऽगमनवार्ता सेवकैः सिंहलाधीशाय पूर्वमेव विदिताऽभूदतः स तस्य स्वागतक्रिया-रचनायामासक्त आसीत् । यदा च सिंहलपतिस्तदागमनारावम-श्रौषीत्तदा विजयवाद्यैः सहाऽग्रे गत्वा ससत्कारं तं स्वावासस्थान-मानीय स्वासनमुपवेश्याऽचकथत्- हे आभानरेश ! भवत्पादन्यासे-नाऽद्येयं नगरीदं च स्थानं पूतमहमपि दर्शनेन कृतार्थोऽभूवम् । चिरकालिकी भवद्दर्शनाभिलाषाऽद्य पूर्णाऽभूद्दूरस्थोऽपि भवान्मे हृदयस्थ एवाऽऽसीत् । यथाऽसन्निहितोऽपि भानुः कमलकुलानि प्रफुल्लयति, तथा भवन्नाम सुयशश्च श्रावं श्रावं वयं हृष्टा आस्म, अद्य भवतः सद्यो दर्शनेनाऽस्माकं हर्षातिरेको बभूव, सकलाश्चाशाः सफलत्वमगमन् । इत्थं सभूमिकाबन्धं सिंहलनरेशश्चन्द्रं कुशलप्रश्नं पृष्ट्वाऽवादीत्- स्वामिन् ! श्रीमानन्तर्यामी मम शिरोभूषणमस्ति, यथा मयूरश्चातको वृष्टिं, वत्सो मातरं, तथा वयमपि श्रीमन्तमिच्छामः। श्रीमतामागमनेनाऽस्माकं जीवितं साफल्यमाप, यतः प्रभुकृपां विना सत्पुरुषाणां दर्शनं दुर्लभं भवति। साम्प्रतं वयं श्रीमतां कां सत्कृतिं कुर्वीमहि ? यतः श्रीमन्तो वदान्यतमा भवदग्रे वयमगण्याः स्मः । यदि मद्राज्ये समागच्छेयुस्तदा प्रायो वयं किञ्चित्सेवां विदध्याम, परमियं विमलापुरी मदर्थं विदेश-वदस्ति । अत्र तु यथा माता पुत्रस्यावलोकनमात्रेणैव सन्तुष्टंमन्या भवति, तथैव वयमपि भवतः केवलं प्रणम्यैव धन्यंमन्या भवितुं शक्नुमः । यदि

कदाचिदवसर आयास्यति, तदा भवन्तो द्रक्ष्यन्ति, यद्वयमपि प्राघुणिकानां सत्कृतौ केभ्योऽपि न्यूना न स्मः । इत्थं सिंहलाधिपः स्वकीयां सर्वां वार्तां तं चन्द्रनृपमकथयत्, किन्तु तस्य कथनसारांशः किमिति राजा चन्द्रो न बुबुधे । स चैभ्यः सर्वेभ्योऽपि दूरावस्था-नेनैवात्मनः श्रेयोऽमन्यत । अतः स जगाद- हे राजन् ! भवांश्चन्द्र-भ्रमेणेत्थं मामवरुध्य कथं सम्मानयति ? अहमेको वैदेशिकः पथिकोऽस्मि । श्रीमन्तो महान्तो राजानोऽतीव निपुणा भूत्वाऽपि कथमित्थं मुह्यथ ? आवयोः कश्चित्संस्तवोऽपि नास्ति । चन्द्रस्तु पूर्वदिशः स्वामी, अहं च साधारणः क्षत्रियकुमारोऽस्यां स्थितौ ज्ञात्वाऽप्येवंकारं वार्तां कथं कुरुथ ? कदाचिन्मम चन्द्रस्य च रूपवयःसाम्यं दृष्ट्वा भ्रान्तौ पतिताः स्थेति ज्ञायते । इह जगति बहवः सरूपाः समानवयस्काश्च दृश्यन्ते, परं तेषां गुणमविज्ञाय तैः सम्बन्धस्थापनं न वरम् । कर्पूरलवणयोरौज्ज्वल्यसाम्येऽपि तयोर्गुणे गगनपातालवद् भेदो भवति । परमवसरे प्राप्ते तयोः सत्यस्वरूपमवगम्यत एव ।

यतः-

न विना मधुमासेन, अन्तरं पिककाकयोः ।
वसन्ते च पुनः प्राप्ते, काकः काकः पिकः पिकः ॥६९॥

अतो भ्रमे मा पततु, मम च कृपया गमनायाऽनुजानीहि । एतदावर्ण्य सिंहलाधिप आह- राजन् ! इत्थं वार्तयाऽहं प्रतारितुं न शक्यते, मम सम्यग् ज्ञातोऽभूद्यद् भवानेवाऽऽभानरेशोऽस्तीति। यतः सत्पुरुषाः सल्लक्षणेन कदाचिदपि तिरोहिता न तिष्ठन्ति,

तदाचरणान्येव तान् प्रकटयन्ति । यथाऽलाबूर्जले निमज्जयन्तु जनाः, परं ता ऊर्ध्वभवनेन विना न तिष्ठन्ति । कस्तूरी सुरभिणा स्वयमेव ज्ञेया भवति, तथा भवानप्यस्ति । वयं चिराद् भवदागमन-मार्गं प्रतीक्षमाणा आस्म, अद्योचितसमये भवदागमनमभूत् । अधुना स्वापह्नुतिस्त्यज्यतां, मम चैकं कार्यं कृत्वा मां शाश्वतिकाऽऽधम-र्ण्येनाऽनुगृहाण । उभयोरित्थं वार्तालापे भवत्येव सिंहलराजस्य हिंसकनामा मन्त्री तत्राऽऽजगाम स च महान् दुर्बुद्धिः कपटी कुटिलः कदाग्रही चाऽऽसीत् । मिथ्यावल्गनं तु तस्य प्रधानो धर्म इवाऽऽसीदिति चाऽऽगच्छन्नेव चन्द्रं प्रणम्य, स्वासनं गृहीत्वा स्वकौटिल्यप्रकटनमारेभे । प्रसन्नवदनः स प्राह- हे नरेश्वरचन्द्र ! अद्याऽस्माकं भवद्दर्शनेन परमानन्दो बभूव, सम्प्रति भवता मम महाराजस्याऽऽज्ञाऽङ्गीकर्त्तव्यैव भविष्यति, यतो वयं न खलु बालका यद् भवद्वाक्प्रपञ्चे पतेम । अतः सम्प्रति समयातिक्रमणं न क्रियतां, पुनर्मम कार्यसम्पादनं विना भवतो गमनंमसंभवमित्यपि जानीहि । अस्माकं भवतो महती आशा वर्वर्ति, कस्याश्चित्कल्पनाया आधारेणाऽस्माभिर्भवान्, बलान्निगृह्य नाऽऽनायि, किन्तु देव्या वचनेनैव भवन्तमबोधि । कार्यमनल्पं समयश्च स्तोकोऽतोऽ-धुनाऽस्वीकारं मा कृथाः, रात्रेरर्धं व्यतीयाय भवता च कार्यं कारयितव्यमस्ति, पुनः कार्यमपि महन्न कथयामि । भवदाग्रहाधि-क्यमप्यनुचितं तस्मात्प्रतारणमपि भवता वर्जनीयं, मां चाऽऽज्ञापय यथा नैजीं प्रार्थनां भवते निवेदयेयम् । हिंसकमन्त्रिणः स्फुटमिदं कथनं निशम्य राजा चन्द्रः परमं द्वैविध्यमवाप । तदानीं स किञ्चित्कालं स्वीकाराऽस्वीकारविचारे निमग्नः सन् प्रान्तेऽचकथत्-

अस्तु, यत्कर्त्तव्यं तदाऽऽज्ञापयतु । भवद्भिश्चन्द्रार्थं कथं व्याकुली-भूयते ? किमिह जगति परैर्भवत्कार्यं साध्यं न भवेत् ? साधु साधु सम्प्रति वक्तव्यमुच्यताम् । आभानगरीवास्तव्योऽहमपि चन्द्रसाध्यं कार्यं कर्तुं शक्नोमि । तदाभापतेर्वचनं श्रुत्वाऽयमेव राजा चन्द्रो नाऽन्य इति सिंहलाऽधिपो विश्वसिति स्म, तेन नृपः परं मुमुदे निजं मन्त्रिणमभिददर्श च । मन्त्र्युवाच- हे राजन् ! आभानरेशो भवतः सकलां चिन्तां दूरीकर्तुमर्होऽस्ति। अनेन सह कोऽपि विषयो गोपनीयो नाऽस्ति, स्वाऽभिप्रायमेनं स्पष्टं कथयतु, यतो लज्जया विषयमप्रकाश्य कार्यं नैव सेत्स्यति । यतो धनधान्य-विद्यासंग्रहाहारव्यवहारधर्मकार्यादिषु लज्जां विहायैव सुखी भवेज्जनः ।

मन्त्रिणो वचनं श्रुत्वा राजा चन्द्रश्चेतसि चिन्तयामास- एतेषामान्तरिकाऽभिप्रायः क इति न ज्ञायते, न जाने किं कार्यं कर्तव्यं भवेत् ? मया निष्पत्स्यते न वेति ? इदानीं त्वहमेतेषां पञ्जरे नितान्तं पतितोऽस्मि । एते सर्वे धूर्ता वञ्चका इव दृश्यन्ते, परमधुना त्वेतेषां वचनश्रवणं तूष्णीं तत्करणं चाऽन्तरा नाऽन्योपायो दृश्यते । इत्थं विचारयन्तं चन्द्रमवलोक्य सिंहलपतिनोचे- राजन्! मा चिन्तीः न वयं धूर्ता यतो भवन्तं वञ्चयिष्यामः, स्वान्ते स्वल्पमपि संदेहं मा गाः । भवादृशान् परोपकारिपुरुषान् जननी विरलान् जनयति ।

यतः-

विद्वांसः कति योगिनः कति गुणैर्वैदग्ध्यभाजः कति,
प्रौढा मत्तकरीन्द्रकुम्भदलने वीराः प्रसिद्धाः कति ।

स्याचाराः कति सुन्दराः कति कति प्राज्यप्रतिष्ठावराः,
किंत्वेको विरलः परोपकरणे यस्याऽस्ति शक्तिः सदा ॥७०॥

पश्यतु-कृत्स्नं जगज्जगच्चक्षुः प्रकाशयति, पादपाः पुष्पाणि फलानि च ददति, चिन्तामणिरत्नं मनोवाञ्छितं फलं प्रयच्छति, गावस्तृणमपि जग्ध्वा पयो ददति, परमेतेषां प्रत्युपकारकरणे केऽपि सक्ता भवन्ति ? तथैव महोपकारिषु भवानपि परमोपकारी पुरुषोऽस्ति, इत्थं भवादृशाः परोपकारिणः सज्जनाः परिमिता भवन्ति । भवदनुकम्पामपेक्षमाणा वयमाशयोपविष्टाः स्मोऽस्मदीयाशां श्रीमानवश्यं सफलयिष्यतीति विश्वस्मः ।

यतः-

शास्त्रं बोधाय दानाय, धनं धर्माय जीवितम् ।
वपुः परोपकाराय, धारयन्ति मनीषिणः ॥७१॥

अस्मिन् काले तत्र सिंहलपतिस्तस्य राज्ञी, कनकध्वजनामा तस्य कुष्ठी पुत्रः, हिंसकमन्त्री, कपिलाधात्री, राजा चन्द्रश्चैतेभ्योऽन्ये केऽपि नाऽऽसन् । तदा ते सर्वे तथा शोभामावहन्ति स्म, यथा पञ्चेन्द्रियैः सह मनः शोभां प्राप्नोति, विविक्तं ज्ञात्वा राजा चन्द्रस्तं प्रोवाच- हे सिंहलनरेश ! भवता यद् गदनीयं तत्स्फुटमुच्यतां यतो भवतः स्पष्टवचनं विना न मया बुध्यते, बहिर्विवाहोत्सविता अन्तश्चिन्तिता इव यूयं लक्ष्यध्वे । भवतो यथातथ्यं भेदमज्ञात्वा विचारं विना कार्यं कर्तुं कथं सक्तो भवेयम् ? इतश्च मे गोसर्गतः पूर्वमेवाऽऽभापुरी गन्तव्याऽस्ति । अतः कर्तव्यं कार्यं द्रुतमाज्ञापय, मम नामधामकुलादीनि च कथमज्ञायि ? तदपि

ब्रूहि । राज्ञश्चन्द्रस्यैतत्प्रश्नं श्रुत्वा सिंहलाधिपो मन्त्रिणमभिसंकेतयति स्म । ततो मन्त्री प्राह- हे आभानरेश ! भवान् मम त्राता, आशायाश्चैकमात्रं स्थानमस्ति । तस्मात्कमपि विषयं भवतो गोपयितुं नेच्छामि । पादयोर्घुर्घुरून् बद्ध्वा नर्तितव्यमस्त्येव पुनरवगुण्ठनस्य प्रयोजनमेव किम् ? भवते यथार्थकथने न मे काप्यापत्तिरस्ति । कुमारकनकध्वजाय राजपुत्रीं प्रेमलालच्छीं परिणयतु, एतदर्थमेव भवानस्माभिराकारितोऽस्ति । इयमेवाऽऽस्माकीना प्रार्थना वरिवर्ति चैतदर्थं विश्वासोऽस्ति, यन्मामकं कार्यं भवानवश्यं करिष्यति । एतच्छ्रुत्वा चन्द्र आह- किमेतद् यूयं कथयथ ? प्रेमलालच्छीं सिंहलकुमारः परिणेतेति श्रुत्वा तदुत्सवं द्रष्टुमेवाऽहमिहाऽऽयातः। मादृशोऽन्येऽपि समागता दर्शकाः प्रेमलादेव्याः सिंहलकुमारेण सत्रोद्वाहो भविष्यत्येवं वदन्ति । परं कनकध्वजस्तां कथं न परिणेष्यति ? इति कृपया मां बोधयतु । तत्र तस्य का वाऽऽपत्तिः? ययाऽमुं भारं मच्छिरसि प्रक्षिपति भवान् । एतन्निशम्य मन्त्रिणोचे- राजन् ! कुमारकनकध्वजः पूर्वजन्मकर्मविपाकेन कुष्ठ्यस्ति, एतद्वृत्तं कस्मा अपि वक्तव्यं नाऽस्ति । कथमपि तस्य पाणि- ग्रहस्तया समं निश्चितोऽतःपरं तस्य निर्वाहो भवत्करकमले- ऽस्ति । प्रबलवातेन मध्ये समुद्रं नीयमानाया नावस्तटानयनमिव सिंहलनरेशस्य लज्जाया रक्षणं भवत एव कराम्बुजेऽस्ति । एवं ब्रुवन्तं मन्त्रिणं चन्द्रोऽवोचत् कुष्ठीभूतस्य कुमारस्य परिणयो भवता कथं स्थिरोऽकारि ? राजकुमार्या समं काऽपि शत्रुता- ऽऽसीत्किम् ? यतस्तस्याः परिणयः कुष्ठिना सह कारयितुमागताः। इत्थं तस्या जीवितं कथं व्यर्थीकुरुथ ? अमुं पापभारं च मयि

कथं न्यस्यथ ? तया मम परिणयः किं कदाचिदपि संभवति ? मयि तादृशी योग्यताऽपि नाऽस्ति, तथापि कथञ्चित्कृतेऽपि पाणिग्रहेऽनन्तरं पुनर्भवते समर्पणं मया कथं संभविष्यते ? इत्थं राज्ञा चन्द्रेण प्रतिबोधितेऽपि हिंसकमन्त्रिणि सिंहलनरेशे च तद्वचनस्य प्रभावो लेशमात्रमपि नाऽपतत् । तौ पूर्ववत्तस्य प्रार्थनां कृतवन्तावेवाऽऽस्तां। प्रान्ते चन्द्रो हिंसकमन्त्रिणं विजनमानीयोवाच– भवन्तोऽमुमनुचितभारं महिमापहारं मयि कथं निदधति ? ।

यतः–

अकार्ये तथ्ये वा भवति वितथे वा किमपरं,
प्रतीतो लोकेऽस्मिन् हरति महिमानं जनरवः ।
तुलोत्तीर्णस्याऽपि प्रकटनिहताशेषतमसो,
रवेस्तादृक् तेजो न हि भवति कन्यां गत इति ॥७२॥

अद्य प्राथमिक एवाऽऽवयोः संस्तवोऽभूत्तदाऽऽधारेणैव मयै-तदनुचितं कार्यं कारयितुमिच्छन्ति, किन्त्वनेन कोऽपि लाभो न भविष्यति । सुन्दरीतमायाः प्रेमलायाः कुष्ठिनो राजकुमारस्य कनकध्वजस्य कण्ठे बन्धनं महत्पापमस्ति । अस्य विवाहस्य विचारः सर्वथा त्याज्य एवेति मे मतिः, यद्येवं कर्तुं न शक्यते तर्हि स्वदेशाऽऽवासौ [श्रेयसौ], तव एषोऽनुचितविचारश्च कथमभूत्त-त्कथय ? यदि सकलं तथ्यवृत्तान्तं निश्छलं कथयिष्यसि, तदा भवत्प्रार्थनायाः परामर्शं करिष्यामि । यतोऽविचार्यकारी दुःखभाग् भवतीति सिद्धान्तसारः,

यतः–

सहसा विदधीत न क्रिया-मविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ॥७३॥

आभानरेशस्येदमाशापूर्णं वचो निशम्य हिंसकमन्त्री निजगाद- राजन् ! अधिसिन्धुतटं सिन्धनामदेशे महती रमणीया च सिंहलपुरी विराजते, यत्र जनिमन्तो जना भाग्यभाजो भण्यन्ते। यस्या भवत्कृतपूर्वसंभाषः पतिरस्ति, तस्य राज्ञी कनकवती, चाऽहं सचिवो हिंसकनामाऽस्मि । राज्यस्याऽखिलं कार्यं ममाऽधीनमस्ति ममाऽऽज्ञां विना तत्रत्यं तृणमपि विचलितं कर्तुं केऽपि न प्रभवन्ति, मम राज्ञः समीपे चतुरङ्गिणी सेना महदैश्वर्यं प्रजाश्च धनधान्यपरिपूर्णाः सन्ति । तत्र दरिद्रताया नामापि न श्रूयते यत्राऽगणितविबुधाः स्त्रियश्चाऽमराङ्गनाप्रतिमाः सुशीलाः पतिभक्तिपरायणाः शान्तप्रकृतयश्च सन्ति । कदाचिद्राज्ञी कनकवती प्रासादमधिष्ठिता पुत्रार्थं चिन्तयन्ती बहुशोकसंजाताश्रुधाराभिरार्द्रवसना शीतोच्छ्वासं निःसारयन्ती निर्जले शफरीव व्याकुलाऽभूत् । स्वामिन्यास्तादृशीमवस्थां विलोक्य काचिच्चेटी धावमाना राजानमुपसृत्याऽखिलं वृत्तान्तं निवेदयामास । राजाऽपि द्रुतमागत्य तां समाश्वास्य पप्रच्छ- अयि चन्द्रानने ! कथमौदासीन्यमेषि ? किं केनाऽपि तवाऽऽज्ञोल्लङ्घनं कृतं ? तर्हि वद, अवश्यं तं त्वरितं कठोरं दण्डयिष्यामि । औदासीन्यस्य कारणं शीघ्रं ब्रूहि, तदाकर्ण्य कनकवत्युवाच- प्राणेश ! भवत्कृपातो मम कस्याऽपि वस्तुनस्त्रुटिर्नास्ति । केऽपि ममाऽज्ञोल्लङ्घनं नाऽकार्षुः, पुनर्भवन्तमिव पतिं प्राप्य प्रत्यहं नूतनस्यैव वस्तुन उपभोगं करोमि । इत्थं सर्वं सुखमेवाऽस्ति किन्तु पुत्रमन्तरेण सर्वमपि सौख्यं दुःखीयते ।

तेन विना वन्यं कुसुममिव मे जीवनं निष्फलं शून्यं च प्रतिभाति। यतः-

अपुत्रस्य गृहं शून्यं, सन्मित्ररहितस्य च ।
मूर्खस्य च दिशः शून्याः, सर्वशून्या दरिद्रता ॥७४॥

अपुत्रस्य धनवतोऽपि प्रगे मुखदर्शनं जनैरशुभं मन्यते । यस्य गृहे भूलोठको रोदकोऽस्पष्टवक्ता भूरिधूलिधूसरितविग्रहेण क्रोडस्थायी लगुडाश्वं निर्माय रथ्यायामाक्रीडको बालो विद्यते, तस्यैव जीवनं सार्थकं भवति । सुपुत्रेण कीर्तिरन्वयपरम्परा चैधते ।

यतः-

स एव पुत्रः पुत्रो यः, कुलमेव न केवलम् ।
पितुः कीर्तिं सुधर्मं च, गुणांश्चापि विवर्धयेत् ॥७५॥

तत्प्रभावाद् गताऽपि सम्पत्तिरायाति, वार्धके सुखं जायते, मरुभूमिवच्छुष्कजीवनेऽपि सुखधारा च प्रवहति । तथाविधमेकं सुतनयं विना ममाङ्कं रिक्तं गृहं च शून्यमस्ति । हे प्राणनाथ ! अनयैव चिन्तया चिन्तिताऽस्मि, नाऽन्यत्किञ्चिद्दुःखस्य कारणमस्ति। एतन्निशम्य राजा प्रावोचत्- प्रिये ! त्वया हृदश्चिन्ता निष्कासनीया, मन्त्रतन्त्राद्यनुष्ठानेन पुत्रप्राप्त्यर्थं यथाशक्यं यतिष्ये। यतः कार्यार्थं प्रयत्नमात्रं लोकसाध्यं फलप्राप्तिस्तु भाग्यानुसारिणी भवति ।

यतः-

औषधं मन्त्रवादं च, नक्षत्रं गृहदेवता ।
भाग्यकाले प्रसीदन्ति, चाभाग्ये यान्ति विक्रियाम् ॥७६॥

इति त्वया ज्ञायत एव, इत्थं राज्ञीं सान्त्वयित्वा, राज्ञाऽह-माहूतः सर्वा वार्ता च न्यगद्यत, गम्भीरतया विचार्याऽष्टमतपसा कुलदेवीमाराध्य, तां प्रसाद्य, पुत्रप्राप्त्यै मया विचारोऽदायि । राज्ञेऽप्येष विचारो व्यरोचत, अतः स द्वितीयदिनादेव कुलदेव्याराधनं प्रारेभे । तृतीयदिने कुलदेवी प्रादुरासीद्यस्याश्चरणौ भूमितश्चतुरङ्-गुलिप्रमाणमुत्थितावास्ताम् । सुरभिपुष्पस्रजाऽऽकलितकण्ठा स्थिराऽक्षिकनीनिका प्रसन्नवदना वस्त्रालङ्कारभूषितकाया साऽ-भाणीत्- राजन् ! तवाऽऽराधनया प्रसन्नाऽस्मि सुखेन वरं वृणीष्व, तव मनःकाममवश्यं पूरयिष्यामि । देव्याः करुणारसभरभृतं वचनं श्रुत्वा बद्धाञ्जली राजा प्राह- मातः ! त्वं कुलवृद्धिकारिणी, समृद्धि-दायिनी दुःखहन्त्री सर्वाशापूरयित्री चाऽसि, अतो मया पुत्रार्थं तवाऽऽराधना कृता । यतो यस्याऽङ्गणे पुत्रार्थं गृहे साधुनिमित्तं, हृदये ज्ञानार्थं चाऽवकाशो न भवति, तस्येह जननमजननं च समं भवति । मातः ! पुत्रार्थं मम याचनाऽवश्यमङ्गीकार्या, यदि मे पुत्रो न भविष्यति, तदा भवत्या आराधनं कः करिष्यति ? कथं वा भवती मे कुलदेवी गणयिष्यते ? रत्नाकरतटस्थोऽपि जनो यदि दारिद्र्यान्न मुच्येत, तर्हि रत्नाकरस्य लज्जास्पदमेव, तथैव ममाऽप्यपुत्रत्वं भवत्या एव त्रपाजनकं भविष्यति । यद्यस्य सेवक-स्योपरि प्रसन्नाऽसि तर्हि वस्त्वन्तरनिरपेक्षस्य राज्ञ्याग्रहेण कृता-राधनस्य मे पुत्ररत्नमवश्यं देहि । श्रीमत्या दयालेशतोऽपि मम मनोरथः सफलीभविष्यतीति प्रत्ययोऽस्ति । तदाकर्ण्य सन्तुष्टा कुलदेव्युवाच - राजन् ! त्वत्पुण्ययोगेन तव मनोरथो निश्चयं सेत्स्यति द्रुतमेव पुत्रं लप्स्यसे, परं कुष्ठी पुत्रो भविष्यति ।

तन्निशम्य साञ्जली राजाऽवक्- हे प्रतिपाल्ये मातः ! प्रसन्नतया कृपां विदधत्यपि दूषितं जगन्निन्दापात्रं पुत्रं कथं प्रयच्छति ? यदि दातव्योऽस्ति तर्हि सुलक्षणान्वितं निर्दोषं पुत्रं ददातु । देव्य-वोचत्- राजन् ! चतुरो भूत्वाऽपि त्वं कथं मूर्खायसे ? यो यत्कर्म करोति स तदनुरूपमेव फलं भुङ्क्ते ।

यतः-

कृतकर्मक्षयो नास्ति, कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥७७॥

जिनेश्वरचक्रवर्तिबलदेववासुदेवप्रतिवासुदेवसदृशानामपि कृतकर्म भोक्तव्यमेव भवति, तदा सामान्यपुरुषाणां का वार्ता ?

यतः-

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे ।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः,
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥७८॥

यश्च सर्वं सुकृतमेव करोति, स एव निरन्तरं सुखभाग् भवति परं पुण्यक्षये तु सर्वमेव क्षीयते ।

यतः-

तावच्चन्द्रबलं ततो ग्रहबलं ताराबलं भूबलं,
तावत्सिद्ध्यति वाञ्छितार्थमखिलं तावज्जनः सज्जनः ।
मुद्रामण्डलतन्त्रमन्त्रमहिमा तावत्कृतं पौरुषं,
यावत्पुण्यमिदं सदा विजयते पुण्यक्षये क्षीयते ॥७९॥

अतो मया त्वत्कर्मानुसारतः सम्यगेव वरो दत्तस्तत्र कथमपि व्यतिक्रमो न भविष्यति । तदा तन्निशम्य म्लानमना राजोचे- यथेच्छसि तथा कुरु, परं कुष्ठिनं पुत्रं कथं यच्छसि ? तत्कारणं कथय । देवी जगाद- राजन् ! अस्य कारणकथने मे काऽप्याऽऽ-पत्तिर्नाऽस्ति । शृणु-महर्द्धिकनामा मम पतिरस्ति, यस्यावां द्वे भार्ये स्वः, द्वे अपि सुखेन कालं गमयावः । कदाचिन्मे पतिर्मामनुक्त्वा सपत्न्यै हारमेकमदात्तस्मिन् क्षणे मम हृदयेऽक्षमाग्निर्जज्वाल, कलहं कुर्वत्योरावयोः पतिस्तदानीमागतः, वल्लभायाः सपत्न्याः पक्षं जग्राह । तेनाहं विमनस्का जाता, तदैव तवाऽर्चनयाऽऽकर्षिता-ऽहमत्राऽऽगता । तस्मिन् काले विमनस्कतया वरदाने मम मुखात्कु-ष्ठिपुत्रस्य वार्ता निःसृता । अस्माकमास्यान्निःसृतं वचो जात्वपि विपरीतं न भवति, तच्च मानवानां भाग्यानुसारमेव निर्गच्छति । यतः-

यदुपात्तमन्यजन्मनि, शुभमशुभं वा स्वकर्मपरिणत्या ।
तच्छक्यमन्यथा नहि, कर्त्तुं देवासुरैरपि वै ॥८०॥

अतो हे राजन् ! त्वया चिन्ता न कर्तव्या । राजाऽप्यचिन्त-यत्-अपुत्राऽपेक्षया कुष्ठिनोऽपि पुत्रस्य भवनं केनचिदंशेन युक्तमे-वाऽस्ति, ततो देवी तदानीमेवान्तर्दधे । राजाऽप्याराधनासमाप्त्य-नन्तरं मम समीपमियाय, स च वरप्राप्तेरखिलं वृत्तं निवेदयामास। तदा राजानं सान्त्वयन्नहमवादिषम्-प्रथमं पुत्रस्तु भवतु, यदि तस्य कुष्ठो भविष्यति, तदा तस्य निवारणचेष्टाऽपि करिष्यते । ममाऽनया सान्त्वनया राज्ञ्यपि मुमुदेऽनन्तरं तस्मिन्नेव दिने राज्ञ्युदरे गर्भसंचारो बभूव । अतो राज्ञा यत्नतयैकत्र मन्दिरस्य गुप्ततले

राज्यै वासव्यवस्था कृता, यथा कृपणस्य धनमधिधरित्रि जनैर-दृश्यमानं तिष्ठति, तथैव सापि तस्थौ । गर्भाऽवस्थायां पुनस्तां केऽपि द्रष्टुं न प्रबभूवुः, पूर्णे मासे राज्ञी सुखेन कुष्ठिनं सुतं सुषुवे। सुखदं संवादं श्रुत्वा राजा परां मुदमाप, कतिचिद्दिनानि च महोऽकारि । समन्ताद् वैजयन्तीतोरणादिभिः प्रतिगृहं मङ्गला-ऽऽचारैश्च नगरी शुशुभेतराम् । नागरिका राजसभामुपसृत्य राज्ञे वर्द्धापनं ददिरे, राजाऽपि तेभ्यो यथोचितं सत्कारपुरस्कारं वितीर्य तान् सममंस्त । द्वादशेऽहनि कुमारस्य कनकध्वज इति नाम चकार, परं स्वकर्मयोगेन स जनिदिनादेव कुष्ठरोगेण पीडितो भवितुं लग्नः । तदर्थं कृतोऽपि विविधोपायः सफलत्वं नैत् । आकरे रत्नानीव तत्र तलगृहे सद्यत्नेन कुमारो ववृधे । तत्सन्निधौ कपिलाधात्र्या विनाऽन्येषां गमनाऽऽज्ञा नाऽऽसीत्, सैव कुमारस्य लालनपालनं कृतवत्यस्ति । शरीरदूषणेन कदापि बहिरनिर्गच्छन्तं कुमारं ज्ञात्वा जनैराश्चर्यममन्यत । यथा यथा कालो निरगच्छत्तथा तथा जनानां राजकुमारस्य दर्शनेच्छा प्रैधिताऽऽसीत् । अनेकशो जना वस्त्राऽऽभूषणादिकं गृहीत्वा राजसभामागत्य कुमारस्य दर्शनेच्छां प्रकटीचक्रिरे, परं ते सदैव निराशा एव परावर्तन्त । तदा कुमारोऽतिसुन्दरोऽस्तीति सर्वानचकथं, केषाञ्चिद्दुर्दृष्टिः कुमारोपरि मा पतत्विति जातु न निष्कासयामि । प्रवृद्धः सन् यदा स निर्गमिष्यति, तदा तं सर्वे द्रक्ष्यन्त्येव, मम वाक्ये विश्वस्तास्ते सर्वेऽपि राज्ञो भाग्यवर्णनं कर्तुं लग्नाः- यं द्रष्टुं सहस्रांशुरप्यसक्त-स्तमवलोकितुं वयं के ? इति मत्वा सर्वे सन्तुष्यन्ति स्म । स चिरजीवी भवतु कदाचिद्दर्शनं भविष्यत्येव, यतः शास्त्रेऽप्युक्तम्-

गोपनीयं प्रयत्नेन, रत्नं हि विबुधैः सदा ।
परकीयं हि तद् दृष्ट्वा, द्वेषं यान्ति नराऽधमाः ॥८१॥

इति कुमारस्येत्थं रक्षणं युक्तमेवाऽस्ति, शनैः शनैरियं वार्त्ता देशान्तरेऽपि प्रससार । परमस्य गुप्ततत्त्वस्य रहस्यमन्ये कथं जानन्तु ? कियत्कालाऽनन्तरमस्यां विमलापुर्यां सिंहल-पुरस्था व्यापारिणो व्यापारार्थमागताः । अत्रैकस्मिन्नहनि ते राज्ञा मकरध्वजेन सह मिलितुं तस्य राजपरिषदि समुपस्थिता आसन्। राजाऽपि तेषां यथोचितं सम्मानं चकार तदैव स्वपितुरङ्कं प्रेमला-लच्छी समागत्याऽध्यास्ते स्म । तस्या अलौकिकं सद्रूपलावण्यचातु-र्यादिकं पश्यन्तस्त आश्चर्यमीयुः । राजा मकरध्वजस्तेषां देशस्य राज्ञश्च नाम पप्रच्छ, त ऊचिरे- सिन्धुदेशवास्तव्या वयं, तत्राऽलका-पुरीतुल्या सिंहलपुर्य्यस्ति । तत्र कनकरथनामा राजा राज्यं शास्ति । तस्य कन्दर्पोपमः कनकध्वजनामा कुमारोऽस्ति । तस्य गुप्तमन्दिरे रक्षणं क्रियते, जनास्तस्य दर्शनार्थं प्रतिदिनं लालायिता भवन्ति । परं बहिरानयनेन कदाचित्केषाञ्चित्कुदृक्पातो भवेदिति शङ्कया सभयो नृपो बोभूयते । अतोऽद्यावधि केऽपि न तं प्रेक्षन्त, परं स सौन्दर्येण मदनोपमः श्रूयते । इति वणिजां वचो निशम्य राजा मकरध्वजो मुदमगात्तेभ्यो वस्त्रादिकं दत्त्वा विसर्जनानन्तरं सचिवमाकार्य तस्मै कनकध्वजस्य रूपवर्णनं श्रावयति स्म । एतत्कथनकारणं पृष्टे मन्त्रिणि नृपो जगाद-बहुदिनेभ्यः प्रेमलाया वरोऽन्विष्यते, तज्ज्ञातं नाऽस्ति किम् ? अद्याऽऽकस्मिकममुमुदन्तं श्रुत्वा मम विचारोऽभूद्यदि नैगमोक्तमृतं स्यात्तर्हि तेनैव कुमारेण सह तस्याः परिणयं कथं न कुर्याम् ?

तादृशवरप्राप्तिस्त्वसंभवैवाऽस्ति, भवतोऽनुमतिश्चेत्तदाऽयं सम्बन्धो निश्चेतव्यः । चातुर्यचणो मकरध्वजस्य मन्त्री वदति स्म- महाराज! पान्थानां वचसि तथ्यातथ्ययोः कः प्रत्ययः ? सर्वे वैदेशिकाः स्वस्वदेशं प्रशंसन्ति । कोऽपि स्वमातरं डाकिनीति न वक्ति, कुरूपं काणं वाऽपि जामातरं श्वश्रूः प्रशंसत्येव । एते व्यापारिणस्तत्र वास्तव्या अतस्तेषां कथने न विश्वसनीयमिति ममाऽनुमतिरस्ति। यद्यन्यदेशीया व्यापारिणः पान्थो वा वदेत्तदैवेदं तथ्यं मन्तव्यम् ।

मन्त्रिणोक्तं सत्यं मत्वा राजोररीचकार, तदनन्तरं सभां विसृज्य राजा मृगयार्थमरण्येऽतीव विचरन् मृगादिपशूनामाखेटं कर्तुमलगत् । तदैव सचिवोऽपि तत्राऽऽजगाम, राजानं श्रान्तं ज्ञात्वा द्वावपि तडागतटे तस्थिवांसौ विशश्रमतुः । तस्मिन्नेव काले कैश्चित्साधुकारैस्तेनैव पथा निर्गच्छद्भिर्जलपानार्थं तत्रागत्य तस्थे । राजा तान् सर्वान् समाहूयाऽपृच्छत्-भवन्तो वैदेशिका देशदेशान्तरं भ्रमन्तोऽत्राऽऽगताः सन्ति, देशान्तरस्थं विचित्र-माश्चर्यमयमृतं च वृत्तं श्रोतुकामोऽस्मि । भवद्भिस्तादृशं वृत्तान्तं दृष्टं श्रुतं वा भवेत्, श्रावयितुं कृपा विधेया । भूपतेरुक्तमाकर्ण्य क्रायिका उपविश्याऽन्यदेशीयं वृत्तं गदितुमारभन्त- धराधीश ! कियद्दिनस्य समाचारोऽस्ति, यद्वयं सिन्धदेशमगच्छाम । तत्र सिंहलपुर्यां कनकरथनामा राजा राज्यं करोति, कनकध्वज-नाम्नस्तत्पुत्रस्य रूपलावण्यादिप्रशंसा परितस्तन्यते, पुनस्तेनैव कारणेन तत्रेदमाश्चर्यं यत्स सदैव गुप्तगृह एव रक्ष्यते, बहिर्निर्गमने कस्यचिन्नेत्राऽऽघातभयाद्रवेरातपात्तस्य मृदुशरीरस्य म्लान-शङ्कया च बहिर्नानयतीति श्रूयते । इत्थं विविधवृत्तं कथयद्भ्यो

वणिग्भ्यो मोदमानो राजा पुरस्कारं दत्त्वा तान् विसर्जयामास । तदानीं तस्य सौन्दर्यविषये निःसन्देहो राजा प्रेमलायाः परिणयं मनसि तेन कनकध्वजकुमारेण सह स्थिरीचकार । तावत्कालमपि ससन्देहो मन्त्री नृपमवक्- अवनीश ! दृग्दृष्टे श्रवणश्रुते च महदन्तरं भवति । एतैः श्रुतं कथ्यते, परं यदि मदीया भृत्याः पश्येयुस्तदा तथ्यं मंस्ये । तदैव तस्य चर्चाऽपि कर्तव्या, नेदं कार्यमल्पं, यतोऽत्रैव कृत्स्नजीवनस्य सुखःदुखे निर्भरे स्तः, ततोऽत्र सम्बन्धे पूर्णविचारः कार्यः ।

यतः-

सगुणमपगुणं वा कुर्वता कार्यमादौ,
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥८२॥

तस्मिन् काले ते व्यापारिणस्तत्रैवाऽऽसन्नतो मन्त्रिणो विचारं मत्वा स्वनिकट आहूतास्ते राज्ञोचिरे- भवद्भिर्ममैकं कार्यं कर्तव्यं भविष्यति, तदेतद् भवन्तो मन्त्रिभिः सह सिंहलपुरीं गत्वा राजकुमारमवलोक्य कन्यायोग्यं ज्ञात्वा श्रीफलं समर्प्य विवाहं निश्चिनुयुस्तदा भवतां चिराय ऋणी भविष्यामि । तदा व्यापारिणो जगदुः- राजन् ! अल्पस्य हेतोर्भवत्प्रार्थनां विनाऽपि करणे नाऽस्माकं काऽप्यापत्तिरस्ति । यथेयं भवत्कुमारी सर्वगुणसम्पन्ना तथा सोऽपि कनकध्वजकुमारस्तेन विधात्रा द्वन्द्वमिदं समकालमुदपादीति जानीमहे । मन्त्रिणोऽस्माभिः साकं प्रेषयन्तु कथञ्चित्कार्ये जातेऽतिहर्षो भविष्यति, तत्र यथासाध्यं यतिष्यामहे ।

तत्काल एव राजा चतुरश्चतुरमन्त्रिणो नियोज्य परेद्यवि व्यापारिभिः सत्रा सिंहलपुरीं प्राहिणोत् । तत्र गते व्यापारिणः कनकरथनृपः स्वमन्दिरे तन्निमित्तमावासं दत्त्वोत्तमभोजनादिभिरतिथिसत्कृतिं चक्रे । सन्ध्यायां सदवसरं प्राप्य मन्त्रिणस्तैर्व्यापारिभिः समं राजसमीपमायन् विविक्ते च व्यापारिणो राज्ञेऽखिलं वृत्तं निवेदयामासुः- राजन् ! अनुपमलावण्या राजकन्या प्रेमलालच्छी विद्यते यां दृष्ट्वाऽऽगताः स्मः । राजा मकरध्वजस्तां भवत्कुमारेण परिणाययितुमेतान् मन्त्रिणो भवत्समीपे प्रैषीत् । राजाऽपि सादरं तानुपवेश्य कुशलादिप्रश्नं पृष्ट्वाऽऽगमनप्रयोजनमप्राक्षीत् । तेष्वग्रणीः कुशलश्चैको मन्त्री प्रत्युत्तरं ददत्प्राह- सोरठदेशादायाता राज्ञा मकरध्वजेन प्रेषिताः स्मः । अत्रत्या वणिजो मम महाराजनिकटे भवद्राजकुमारस्य सौन्दर्यप्रशंसामकार्षुस्तथैवाऽन्यैरपि श्राविता, अतस्तत्कथने विश्वस्तो राजा हंसकुल एव हंसस्य जनुर्भवतीत्यमन्यत । अस्य कुमारस्याऽनुरूपा तत्पुत्री रूपवती विदुषी चाऽस्ति तेनाऽनयोर्विवाहसम्बन्धं स्थिरीकर्तुं भवत्सेवायामुपस्थिताः स्मः । अस्माकमऽनुमत्याऽयं सम्बन्धः सर्वथा योग्यो ज्ञायते । राजकुमार्या रूपलावण्यगुणाऽवस्थादि सर्वथैव कुमारस्योपयुक्तमस्ति । अस्माकं महाराजः सोरठदेशस्य भवांश्च सिंहलदेशस्य राजाऽस्ति, ततो युवयोरयं सम्बन्धः कथमप्ययोग्यो नाऽस्ति। भवन्तं प्रति ममाऽनुरोधोऽस्ति, यदेतत्सम्बन्धार्थं स्वाऽनुमतिं दत्त्वाऽस्माकमत्राऽऽगमनपरिश्रमं सार्थकं करोतु । मकरध्वजमन्त्रिणः कथनमाकर्ण्य मम कनकरथराजेनोक्तम्- भवतः सर्वं कथनं ज्ञातमभूत्परमीदृक्कार्येषु शीघ्रता नोचिता, धैर्यस्य सुफलं

सदैव मधुरं च भवति । अतोऽत्र भवन्तस्तिष्ठन्तु ममाऽऽतिथ्यं च गृह्णन्तु, वयं सम्यग् विचार्य भवत्प्रार्थनाया उत्तरं दास्यामः । यतः-

कर्मायत्तं फलं पुंसां, बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।
तथापि सुधिया भाव्यं, सुविचार्यैव कुर्वता ॥८३॥

एतन्निशम्य मन्त्रिणोक्तम्- पृथ्वीश ! मामको महाराजोऽस्मिन् सम्बन्धविषयेऽत्युत्सुकोऽस्ति, अतस्तेनैतावद्दूरं वयं प्रेषिताः, सम्प्रति ममैनां प्रार्थनामस्वीकृत्याऽस्माकं नैराश्यकरणं नोचितमियं मेऽभ्यर्थनाऽस्ति । तदा राज्ञा बभाषे-भवदुक्तिर्यथार्था परं सम्प्रति कुमारोऽतिलघुवयस्कोऽस्ति तेनाऽत्राऽवस्थायामियं चर्चा नोचिता, यदा वर्धिष्यते तदा द्रक्ष्यतेऽधुना तु तेन प्रासादोऽपि न दृष्टो निरन्तरं गुप्तगृहमेवाऽधितिष्ठति । मया क्रोडे कृत्वा कदापि लालितोऽपि नास्ति, पुनर्भवतां राजकुमारीमपि नाऽद्राक्षमतः कन्यामनवलोक्य विवाहः कथं भवेत् ? यदि भवन्महाराजोऽरं परिणाययितुमिच्छुकोऽस्ति तर्हि वरान्तरमन्वेष्टुमर्हति, न मे तत्र काऽपि हानिरस्ति । ततो मन्त्रिणोक्तं- नहि महाराज ! अस्माकमत्र स्थातुं काऽपि क्षतिर्नाऽस्ति, स्थिरतया विचार्य पश्चाच्छ्रीमन्तो यदुत्तरं दास्यन्ति, तदेव स्वराज्ञे निवेदयिष्यामि । परन्तु भवतः प्रतीयं मे प्रार्थना यदयं विवाहसम्बन्धः स्वर्णसुगन्धयोर्मणिकाञ्चनयोः संयोग इवाऽस्ति, अतोऽस्वीकृतिं मा कुर्वन्तु । मन्त्रिवचः श्रुत्वा राजा तान् विसृज्य मां चाऽऽहूयाऽपृच्छत्- कथयतु सचिव ! सम्प्रत्यस्माभिः किं कर्तव्यं ? वैदेशिकानित्थं कियत्कालपर्यन्तं छलयिष्ये? कस्यचिन्महाराजस्य रूपवत्या कन्यया सह कुष्ठिनो राज-

कुमारस्य परिणयः कथं कारयिष्यते ? कस्यापीत्थं वञ्चनं मह्यं न रोचते । कपटादन्यदिह महत् पापं नाऽस्ति । सत्कर्मणामिदं कुठारवद् घातकोऽस्ति ।

यतः-

विधाय मायां विविधैरुपायैः, परस्य ये वञ्चनमाचरन्ति ।
ते वञ्चयन्ति त्रिदिवापवर्ग-सुखान्महामोहसखाः स्वमेव ।।८४।।

अतो यथार्थं बोधयित्वैते परावर्तनीया यतो ज्ञात्वाऽपि देवकन्याऽनुरूपया राजकन्यया कुष्ठिनः स्वपुत्रस्य विवाहकरणं कदाप्युचितं न मन्ये । यदि च्छलं करिष्यामि तदा परभवे तस्य किमनिष्टफलं भोक्तव्यं भवेत्तन्न वेद्मि ।

यतः-

अनिष्टादिष्टलाभेऽपि, न गतिर्जायते शुभा ।
यत्राऽऽस्ते विषसंसर्गो-ऽमृतं तदपि मृत्यवे ।।८५।।

अतोऽस्माद्दुष्कर्मतो दूराऽवस्थानमेव वरं प्रतिभाति, तत्र भवतः का सम्मतिरस्ति ? महाराजस्यैतद्वचनं श्रुत्वा मयोक्तम्-पृथ्वीश ! कुमारस्य कुष्ठता साम्प्रतं यावत्केनाऽपि विदिता नाऽस्ति, यद्येष वृत्तान्तोऽगोपनीय एवाऽऽसीत्तदा गुप्तगृहे तस्य रक्षा कथं कृता ? आरम्भत एव मिथ्याप्रचारः कथञ्चिदपि कर्तव्यो नाऽऽसीत् । एतत्कृत्वाऽपि यदि मिथ्याप्रचारः कृतोऽभूत्पुनस्तत्सा-ध्वसस्य का वार्तास्ति ? यावत्पर्यन्तं सुदिनमस्ति, तावदस्माकं कृतं सर्वं युक्तमेव भविष्यति ।

यतः-

स्फुरन्त्युपायाः शान्त्यर्थ-मनुकूले विधातरि ।
प्रतिकूले पुनर्यान्ति, तेऽप्युपाया अपायताम् ॥८६॥

एते सचिवा दूरादागताः सन्ति, अत एतेषां नैराश्यकरणं नोचितम् । अयं सम्बन्ध उत्तमोऽस्ति, एषोऽवसरः पुनः प्राप्तो भवेन्न वा ? कुमारस्य कुष्ठनिवारणार्थं पुनरेकवारं देव्याऽऽराधनं कर्तव्यं, संभवतः सा तं नीरोगं विधास्यति स्वोक्तिश्चाऽपि निर्वाहणीया साहसो न त्याज्यः । एतस्मिन्नवसरे मिथ्याभाषणेऽपि दूषणं नाऽस्ति, मिथ्याभाषणतः सम्पन्मिलति, तत एव प्रतिकूलमप्यनुकूलत्वमेति, अतो मिथ्यातोऽल्पमपि भयं न कार्यं यथा- चौराणामपि सहायका अनेके भवन्ति, तथाऽस्माकमपि सहायको मिलिष्यत्येव । अतः स्तोकापि चिन्ता न कार्या, वयं सर्वं साधु करिष्यामः। ममेमामुक्तिमाकर्ण्य राजा बभाषे-तव विचारेऽसंमत्या सह कार्येषु बाधनमप्युचितं न मन्ये । अत्र विषये भवते यद्रोचते तत्कुरु, यथा कर्म करिष्यति तथा भोक्तव्यं भविष्यति ।

यतः-

यदत्र क्रियते कर्म, तत्परत्रोपभुज्यते ।
मूलसिक्तेषु वृक्षेषु, फलं शाखासु जायते ॥८७॥

इत्थं विचारेषु कतिचिद्दिनानि व्यतीयुः पश्चादेकस्मिन् दिने मकरध्वजस्य सचिवगणो राजसेवायामुपस्थितः सन्नुवाच- प्रभो! विचार एवैतानि दिनानि व्यतीतानि भवन्तश्च निश्चितमुत्तरं नाऽदुः। विवाहसम्बन्धश्चोभयोरिच्छया नैकेच्छया भवति । अद्य चत्वारि दिनानि पश्चाद् वा कनकध्वजस्य परिणयं कारयिष्यत्येव । यदा

कयाऽपि कारयितव्य एव तदा मम राजकुमार्या सह कथं न भवेत् ? आवयोरयं सम्बन्धः सर्वथाऽनुकूलोऽस्ति । यस्य राज-कुमारस्य नामोच्चारणं स्वराजकन्यया सह कृतमस्ति, स सदा तदीय एव भूत्वा तिष्ठेत् । यदि लक्ष्मीः स्वयं गृहमायाति तर्हि पश्चाद् वारणं न वरम् । यदि भवन्तो निराशं मां परावर्तिष्यन्ते तदा निश्चयमेष महान् भ्रमो भविष्यति । वयं तु भवन्तमेवं ब्रूमो यदमुं स्वावसरं हस्तान्मा गमय । सचिवोक्तं श्रुत्वा मयोक्तम्-एतेऽत्यारादागताः, कतिपयवासरादत्र संतिष्ठमानाश्च सन्ति, तस्मा-देषामियमभ्यर्थनाऽवश्यमुरीकर्तव्या, नैराश्यकरणं च नोचितं मन्ये। कुमारयोर्विवाहसम्बन्धो जात्वप्यनुचितो न गणयिष्यते चैतेन सिंहलपुरीविमलापुर्योः सम्बन्धो घनिष्ठतामेष्यति, अतः श्रीमद्भि रियं प्रार्थना ध्रुवमङ्गीकार्या । एवमुक्त्वा महाराजस्योत्तरमप्रतीक्ष-माणेन मया श्रीफलं गृहीत्वा विवाहं निश्चित्य यथाऽऽचारं ताम्बूलादिकं जनेभ्यो दापितं, तेन मन्त्रिचित्ते मुद्वीचय उच्चच्छलुः। मम महाराजं विनाऽयं सम्बन्धः सर्वेभ्यो व्यरोचत । इत्थमखिले वृत्ते सुस्थिरे सति मन्त्रिभिरहमुक्तः-श्रीमताऽस्य योग्यतमसम्बन्धस्य स्थिरीकरणेनाऽस्माकं बहूपकृतिः कृता । परं सम्प्रत्येकवारं राजकुमारं दर्शयतु, यथा स्वमहाराजाय समस्तमेतद् वृत्तं सम्यग् निवेदयेम। राजकुमारस्य दिदृक्षयाऽऽगमनदिनादेव व्याकुला वयं दौर्भाग्येनैतावत्कालं नाऽद्राक्ष्म । तदानीं मम मिथ्याऽऽश्रयणं कर्तव्यमभूत्तेन ते मयोक्ताः- कुमारस्तु इतः सार्धशतयोजनदूरे मातृकुलमधितिष्ठति, तत्राऽपि केवलयैकधात्र्या सह गुप्तगृह-मध्यास्ते । शिक्षकोऽपि बहिःस्थ एव तमध्याप्य गच्छति, सोऽपि

तं न पश्यतीति तत्त्वम् । पुनरन्ये द्रष्टुं कथं शक्ष्यन्ते ? विश्वस्ताः सन्तो भवन्तश्चिन्तालेशमपि न कुर्वन्तु, विवाहार्थं गते सर्वे प्रेक्षिष्यन्ते, सम्प्रति तदसाम्प्रतमस्ति । इत्थं मया बहुबोधितं तदर्थं चेष्टितं च परं तैः कथमपि दर्शनाग्रहो न त्यक्तः । प्रान्ते कमप्युपायमलभमान-स्तान् स्वगृहमानयम् । तत्र बहुविधं मिष्टान्नादि भोजयित्वा बहुमानं च विधाय विविधवस्त्रभूषणादिदानेन तेषां तुष्टयेऽचेष्टे, किन्तु साफल्यं नाऽगाम् । तैः पुनरहमुक्तः- तमदृष्ट्वा वयमितो गन्तुं न शक्नुमस्तस्मात्तमवश्यं दर्शयतु । तद्वचो निशम्य पुनस्तान् संबोधयता मयोक्तम्- महाशयाः ! अल्पवचोनिमित्तं दुराग्रहः कथं क्रियते ? विश्वसन्तु कुमारोऽतिसुशीलः सुन्दरश्चाऽस्ति । येन भवन्महाराजो भवद्भ्यः क्रोत्स्यति तथा कर्तुं नेच्छामो, यद्यस्माकं वञ्चयितव्यं भवेत्तर्हि जगद् विद्यमानमस्ति । भवतां वाग्वागुरायां पातस्याऽऽवश्यकं नास्ति, पुना राजकुमारस्य वृत्तं केनाप्यविदितं नास्ति, कृत्स्नं जगत्तस्य सौन्दर्यं सुशीलतां च वेत्ति । तस्य सौन्दर्यादिगुणप्रशंसां श्रुत्वैव भवन्तोऽप्येतावद्दूरमागता अस्माभिः सुविचार्यैव कार्यं कृतमस्ति । अत्र कथमपि भवतां हास्यं न भविष्यति, अस्माकमयोग्येऽप्यत्र सम्बन्धे मम महाराज-स्याऽनुमतिं विनाऽपि मयैव भवद्वचोरक्षणार्थं बलाद्राज्ञाऽङ्गीका-रितः । एतत्सर्वं भवद्भिर्दृष्टमेवास्ति पुनर्भवन्तोऽल्पनिमित्तं मयि भारं न्यस्यन्ति यत्करणं ममाऽसाध्यं वर्तते । अहं त्वेतदेव कथयिष्यामि यद् भवन्तः सुमुहूर्ते प्रस्थिता येनेदं कार्यं सौलभ्ये-नाऽभूत् । सौभाग्यवती भवद्राजकुमारी शुभाशयेनेश्वराराधनं कृतवती तेनैवैतादृशो भर्ता तया लब्धोऽस्ति । सम्प्रति भवन्तः कदाग्रहं न

कुर्वन्तु पूर्वजन्मसंयोगादेवाऽयं सम्बन्धनिबन्धोऽभूदन्यथा क्व यूयं क्व च वयम् ? । इत्थं मया बहुशो बोधितास्तेऽपि कदाऽऽग्रहाविष्टा दृष्टास्तदा कार्यहानिशङ्कया रूप्यकाणं कोटिशः कोटिशो दानप्रलोभनं दत्तम् । एतत्तु ज्ञायत एव यदिह जगति लोभग्रस्तो विरल एव न भवेदिति कोटिरूप्यकाणां नाम श्रुत्वैव तेषामास्यं तालिकाबद्धमिवाऽभूत् ।

यतः-

दानेन भूतानि वशीभवन्ति, दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् ।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानात्ततः पृथिव्यां प्रवरं हि दानम् ॥८८॥

ये चैतावत्कालं रक्ताः पीताश्च भवन्त आसन्, त एव सद्यः शैत्यं गताः पुनस्तैरुक्तम्- मन्त्रिन् ! साधु, व्यतीतवार्ता तु यातु परमिदं कथयतु, विवाहः कदा करिष्यते ? यदीदानीमेव तस्याऽपि निश्चयो भवेत्तदा सम्यक् स्यात् । इति वार्तालापेन सचिवान् तान् संतोष्य राज्ञः समीपमानयं पुनस्तदैव तत्राऽऽकारितो दैवज्ञः षण्मासान्तरिकमेकं सुमुहूर्तं निश्चिकाय । राज्ञाऽपि मन्त्रिसत्कृतौ त्रुटिर्न कृताऽतस्तत्समक्षेऽपि तेषां किञ्चिद् वक्तुं साहसो नाऽभूत्। कृतकार्यास्ते प्रस्थातुं सज्जिताश्चास्माभिर्बहुमानं प्रस्थापिताः । तुष्टिलञ्चकरूप्यकाणि तैः पूर्वमेव स्वदेशे प्रेषितानि, ततस्तेऽपि यथाकालं विमलापुरीं गताः । तत्र तैर्निजमहाराजायाऽखिलं वृत्तं निवेदितं कुमारसौन्दर्यवणर्नं च यथापूर्वश्रुतं चक्रिरे । राजा मकर-ध्वजस्तद्वृत्तमाकर्ण्य मुदाऽन्वितोऽभूत्ततो राज्ञा कार्यसाफल्याय तेषां मन्त्रिणां प्रशंसां चक्रे । सभायां तेभ्यो रूप्यकलक्षं पुरस्कारं

दत्त्वा ते सम्मानिता मन्त्रिणां युक्त्याऽस्मिन् कार्ये कपटशङ्का तस्य लेशतोऽपि न जाता । इतो मयोपयमसमारोहः प्रारेभे, हस्त्यश्वरथादयः सुसज्जीकृताः, जन्या आगत्यैकत्रिता बभूवुः । नागरिकैः कर्मचारिणो महकारणं पृष्टे विदितकुमारोद्वाहाः प्रमदमदोन्मत्तास्ते कुमारं विलोक्येक्षणे तर्प्स्याम इत्यमंसत । ततः समन्तात्तद्वार्ता प्रसर्तुं लग्ना, कार्यसंभारानवलोक्यैकदा रहस्याहूय राज्ञाऽहं पृष्टः- मन्त्रिन् ! किमनर्थः क्रियते ? किं यथार्थं सुशीलायास्तस्याः कुमारिकाया जीवनं नाशयिष्यसि ? कुमारमित्थं कियत्कालं गोपयिष्यसि ? पाणिपीडनकाले तद्रूपमवश्यं प्रकटीभविष्यति । तदा प्रेमलालच्छी यद्युद्वाहमस्वीकुर्यात्तर्ह्यधोमुखा वयमिहाऽऽस्यं दर्शयितुमर्हा न भवेम । एतच्छ्रुत्वा मयोचे- राजन् ! चिन्तां न करोतु, यथापूर्वं देवीमाराधयतु साऽवश्यं कमप्युपायं दर्शयिष्यति। ममोक्तिं श्रुत्वा राज्ञा मत्कृतः परामर्शोऽङ्गीचक्रे, तदर्चनं चापि प्रारेभे । ततो देवी पूर्ववदाविर्भूयोवाच- राजन् ! मां कथं वारम्वारमाह्वयसि ? बद्धाञ्जली राजा ब्रूते स्म-मातः ! मया विरोधे कृतेऽपि मन्त्रिणा कुमारस्योपयमो निर्धारितोऽस्ति, तत इदानीं मम लज्जारक्षणं श्रीमत्या एव शये (हस्ते) किल विद्यते। यथा भवेत्तथा कुमारं निरामयं विधेहि, तदर्थमेव श्रीमत्यै कष्टं दत्तमस्ति। कुलमातरं भवतीं विना मम कष्टं को दूरीकरिष्यति ? देव्युवाच- राजन् ! प्राग्भवस्य वेदनीयकर्मणा तव कुमारो रुग्णोऽस्ति, अतस्तत्कथमपि निवार्यं न भवितुमर्हति, परमुपायान्तरेण तवेमां चिन्तां निवारयिष्यामि । शृणुविवाहघस्रे शर्वर्याः प्रथमयामे व्यतीते विमलापुर्यां पूर्वगोपुरत आभाधीशो राजा चन्द्रः स्वविमातुः

पत्न्याश्च पृष्ठतो गुप्तवेषेण प्रवेशं करिष्यति । तत्क्षणे तमाहूय यूयं प्रार्थयेयुस्तदा प्रेमलयोपयन्तुं भवत्प्रार्थनामुरी-करिष्यतीत्थं तव चिन्ता दूरमेष्यति । एवमाभाष्य देव्यन्तर्दधे, तेन तुष्टो ममाधीशः परिणयकार्यभाग् भवितुं लग्नः ; शनैः शनैः परिणयप्रस्थानवेला समुपस्थिता, तद्दिनेऽधिगजं कौशेयप्रावृतशिबिकायां कुमारमुप-वेश्याऽस्माभिर्विमलापुरीप्रस्थानं चक्रे । परमस्माकमिदं, कपटजालं केऽपि न विविदुः । इत्थमाडम्बरेण वयं विमलापुरीमागताः, अत्र राज्ञा मकरध्वजेनाऽस्माकमावासादिचारुप्रबन्धः पूर्वत एव कारि-तोऽतो बहुदिनात्तस्याऽऽतिथ्यं सुखेन गृह्णन्तः स्मः । राजन्! एवमेतावत्कालपर्यन्तमस्माकं काठिन्यसमक्षं कर्तव्यं नाऽभूत्परमद्यैव विवाहदिनमतोऽस्माकं लज्जारक्षणमपि भवत्करस्थमस्ति, तस्मा-दुत्सुका वयं भवत्प्रतीक्षां कुर्वन्त आस्म। भवानन्यत्र न गच्छेत्तदर्थं मया सन्ध्यात एव प्रतिगोपुरं स्वसेवका नियुक्ता देव्युक्त्यनुसारेण प्रतिबोधितास्ते भवन्तं विज्ञायाऽऽनिन्युः । सम्प्रति ममाऽनुनयं स्वीकृत्य कनकध्वजकुमारार्थं प्रेमलालच्छीं परिणयतु, भवता-ऽस्वीकृते वयमनशनेन प्राणांस्त्यक्ष्यामोऽतोऽस्माकं जीवनमरणे भवत्पञ्चशाखस्थे स्तः । यदि भवानुक्तं कार्यं न करिष्यति तदाऽप्रतिष्ठाग्लापितान्नः शत्रवो हसिष्यन्ति, ततोऽधिककथन-स्याऽवसरो नाऽस्ति । अस्मिन्नवसरे भवान् यदि विवदिष्यते तदा राजभवनस्यासन्नत्वान्मन्त्रभेदो भविष्यति । भवता यत्कारयि-तुमिच्छामि, तत्कथमप्यकर्तव्यं नाऽस्ति । यतोऽनेकशोऽन्यार्थमन्यैः परिणयः कृतोऽस्ति । एतत्कार्यं नृपकुलदेव्याऽऽदेशानुसारेण भवति, अतोऽत्र कार्ये दोषलेशोऽपि नास्ति, कृपया समयमनंष्ट्वा ममाऽ-

भ्यर्थनामङ्गीकरोतु, येनाग्रे कर्त्तव्यं शुभकार्यं कुर्याम् ।

हिंसकमन्त्रिणोक्तं निशम्य राज्ञा चन्द्रेण सिंहलेशः प्रोचे-राजन् ! इदं कार्यं नितरामयुक्तं कृतं तदर्थं हिंसकमन्त्रिणो बहुलाऽपि निन्दाऽल्पायते। राजकुमार्याः पाणिग्रहणं कृत्वा भवद्भ्यः समर्पणमयुक्तं मन्ये, अनेन क्षात्रधर्मोऽपि नाशं याति । कृपया तदर्थं मां नाऽभ्यर्थयेत मयेदं लोकनीतिविरुद्धं सदाचारवर्जितं कुगतिपथप्रदीपकं कार्यमकार्यमस्ति ।

यतः-

दुःखं वरं चैव वरं च भैक्ष्यं, वरं च मौर्ख्यं हि वरं रुजोऽपि।
मृत्युः प्रवासोऽपि वरं नराणां, परं सदाचारविलङ्घनं नो ॥८९॥

राज्ञा चन्द्रेणैवं स्वपृष्ठमोक्षणार्थमदभ्रमचेष्टि, परं सिंहलपते-र्हिंसकमन्त्रिणश्चाभ्यर्थनाप्रान्ते परोपकारपरायणस्य तस्योरीकर्तव्याऽभूत् ।

यतः-

न चन्द्रमाः प्रत्युपकारलिप्सया, करोति भाभिः कुमुदावबोधनम्।
स्वभाव एवोन्नतचेतसामयं, परोपकारव्यसनं हि जीवितम्॥९०॥

अकृते कार्ये इतो मुक्तिरसंभवेति मन्यमानेन राज्ञा चन्द्रेण क्षणमालोच्य तत्प्रार्थना स्वीकृता । तेन मुदितयोर्नृपसचिवयोराधिर्दूरं गतः । तदानीमेव जन्यानां सज्जीकरणाज्ञा राज्ञा दत्ता । विविध-वाद्यरवै रोदसी व्यानशाते हस्त्यश्वादयः सन्नद्धीकृताः, तदानीं तेषामारवेणातितरां दिशो जुगुञ्जुः ।

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्याऽष्टमपरिच्छेदे चन्द्रस्य विवाहवियोगौ-

विवाहार्थं दत्तवाचं तं चन्द्रनृपं स्नापयित्वाऽनर्घ्याम्बरभूषणादि परिधाप्य विवाहयितुमागतानां जन्यादीनां सज्जीकरणानन्तरं यथासमयं सर्वे निजाऽऽवासतो निर्गम्य राजमन्दिरमभिप्रतस्थिरे। प्रेक्षकाणां समूहैर्मार्गं संबाधमासीद्वरं प्रेक्ष्य मुक्तकण्ठाः सर्वे प्रशशंसुः। दिशः प्रदीपभासा दिद्युतिरे, यतो जन्यागता निर्गतास्तत्र रात्रिरपि वासरायते स्म, वियति कलानिधिनाऽपि द्विगुणा शोभा धृताऽऽसीत् । वरस्थानं राज्ञा चन्द्रेण गृहीतं परं स्त्रीनृत्यगीतौ कुमारकनकध्वजस्यैव नामोच्चार्यते स्म जनवर्गैः । परं चन्द्रनृप एवोत्तमाऽश्वारूढ इति प्रेक्षकाणां दृष्टिः प्रथमं तस्मिन्नेव पतिताऽभूत्। कनकध्वजादन्योऽयं पुरुषः प्रतिभातीति केचनोक्तवन्तस्तेषु कश्चन चतुरस्तानेवं व्याजहार-अस्माभिः स दृष्ट एव कदा ? वस्तुतोऽयं पूर्वश्रुताऽनुरूप एवास्ति । धन्यास्ति राजकुमारी प्रेमला ययैष वरो लब्धस्तस्य च माताऽपि धन्या यया कन्दर्पोपमस्तनयः प्रसूतोऽस्य पुरः सुराणामपि सौन्दर्यमश्लाघ्यमस्ति । इत्थं सर्वत्र विविधा चर्चा चलति स्म, बहुतरजनाः सौन्दर्यमेव वर्णयन्त आसन्। शनैः शनैर्वरागता राजसौधसमीपमागताश्च, तत्राऽऽगतेऽश्वादवतारितं वरदेवं श्वश्रूर्यथाविधि प्रपूज्य सादरं विवाहमण्डपं प्रवेशयामास । यथासमयं तत्रैवाऽऽनायिता प्रेमलाऽपि वराऽभिमुखमुपवेशिता । तदा तद्युग्मं वीक्ष्य प्रेक्षकै रतिमदनयोः शोभा समूहाञ्चक्रे । तदद्वन्द्वं

दर्शं दर्शं प्रमुदिता जना युग्मस्याऽखण्डप्रेमरक्षणार्थं प्रभुप्रार्थनां कुर्वन्त आसन् । तत्कालमेव वीरमतीगुणावल्यौ विवाहमण्डपं प्रविविशतुस्ते अपि वरवध्वौ दृष्ट्वा मुदिते बभूवतुः । द्रुतमेव वेदीसमीपमानीय तयोर्यथाऽऽचारमुपयमः कारितः। वैवाहिकविधौ समाप्ते गुणावल्या वीरमत्यूचे- मातः ! किमेनं वरमभिजानाति ? श्रीमत्या एवाऽयं पुत्र इत्यहं वेद्मि, तत्कथनमसंभवं मन्यमाना सा तदुत्तरं नाऽदात्। परं गुणावल्याश्चेतोऽहिवेष्टितमिव जातं, तया पुनर्बभाषे- मातः ! सावधानेन पश्यतु, ममोक्तमृतं विद्धि, ममायं पतिदेवस्तेनैवोद्वाहोऽपि कृतोऽस्ति। प्रेमलां च मम सपत्नीं विधाय गृहं नेष्यतीति सन्देहो जायते, आवयोरिवाऽयमपि कथञ्चिदत्रा-ऽऽगतो भवेत्तत्र विषये मे सन्देहश्चिन्ता चोत्पद्यते। वीरमत्योचे- अयि मुग्धे ! कथमेवं क्षुभ्यसि? चन्द्रस्त्वाभानगर्यां शयानोऽस्ति। अस्मिन् भूतले चन्द्रादप्यधिको रूपवानस्तीति पूर्वमेव मया त्वमुक्ता, तस्येदमेव प्रमाणमस्ति ।

यतः-

पदे पदे निधानानि, योजने रसकूपिका ।
भाग्यहीना न पश्यन्ति, बहुरत्ना वसुन्धरा ॥९१॥

अतस्त्वं वारंवारं चन्द्रश्चन्द्र इति किं जल्पसि ? स तु मन्त्रेण जडीभूतोऽहिरिव निद्राऽऽविष्टो भवेत् । यदा गमिष्यावो मन्त्रं प्रयोक्ष्यावस्तदाऽपनिद्रो भविष्यति, ममाऽत्रोक्तौ विश्वसिहि, स्वस्वान्ताच्चिन्तां च जहीहि, यतो भूतले सरूपा बहवो भवन्ति। वीरमत्या वचो निशम्य गुणावली मौनमाललम्बे यतस्तदा तूष्णीमव-लोकनं विनोपाय एव क आसीत् ? तस्मादेव तस्याश्चेतश्चिरकालं

तद्वचो न स्वीचकार । सा यथा यथा वरं दृष्टवती तथा तथा सन्देहोऽप्यवर्धत । इतश्च राजा मकरध्वजो वरमवलोक्य स्वभाग्यं प्रशंसयन्नेतादृशो जामातुः प्राप्त्याऽतिप्रससाद, अचिन्तयच्च- यदेतादृशः पुरुषस्य निर्माणं विधात्रा कथं कृतमासीत् ? मम दुहित्रा सदृशो वरः प्राप्तोऽस्ति । ईश्वरः सदैतद् द्वन्द्वमवियुक्तं रक्षतु, संप्रति ममेयमेवाऽभिलाषाऽस्ति । एवं प्रफुल्लचेतसा मकर- ध्वजेन सुदायदानसमये विविधाऽनर्घ्यं वस्तुजातं तस्मै वराय समर्प्य स्वौदार्यपरिचयो ददे । इत्थं वैवाहिकेऽखिले विधौ समाप्ते प्रेमला पतिमुखारविन्दमवलोकयन्ती परमं सुखमाप, सहैव च परमात्मन उपकृतिममंस्त । तदैव प्रेमलाया दक्षिणाक्षिस्फुरणेन मनसि चिन्ता जाता, परं तदक्षिस्फुरणं तया केभ्योऽपि न निवेदि- तम् । निर्विघ्नं विवाहकार्य-विरते सिंहलाधीशो याचकाऽऽश्रितेभ्यो दानपुरस्कारादिकं वितीर्य तान् प्रीणयामास, एवमौद्वाहिककार्ये सुसम्पन्ने समन्तादानन्दोत्सवः कारितः । नवोद्वाहितदम्पती अपि विशाले विलाससौधे विनोदार्थं जग्मतुस्तत्र स्वर्णाक्षान् सज्जीकृत्य प्रक्षिप्य प्रक्षिप्य रेमाते । तदा रंरम्यमाणेन चन्द्रेण समस्यारूपेणेयं पदपङ्क्तिरुक्ता -

आभापुरी के चन्द्र का, संयोग ही से साथ है ।
इस अचानक प्रेम का, निर्वाह किसके हाथ है ? ॥

चन्द्रोक्तामिमां समस्यां प्रेमला सम्यङ् नाऽबोधि, अतस्तया चन्द्राकाशयोः संयोगं ज्ञात्वोक्तम्-

आकाश से इस चन्द्र का, जिसने मिलाया साथ है ।
उस साथ का निर्वाह भी, करना उसी के हाथ है ॥

राज्ञा चन्द्रेण विचारितं यदियं प्रेमलालच्छी चतुरा भूत्वाऽपि ऋजुस्वभावतया मम साङ्केतिकोक्तिं न विवेद । अवसरे प्राप्ते पुनरपि स्पष्टशब्देन स्वनामादिबोधनमुचितं भविष्यतीति विचार्य बहुकालं रममाणेन प्रान्ते स्वाऽभिप्रायं प्रकटयता तेनोक्तम्-

पूर्व ओर है आभानगरी, चन्द्रनृपति का राज्य जहां ।
क्रीड़ा योग्य भवन हैं उनके, पासे भी है रम्य यहां ।।
वैसी यहां सजावट हो तो, जी अपना बहलावें हम ।
निरस खेल में कहो सुन्दरी, कैसे रात बितावें हम ? ।।

राज्ञो वचनं श्रुत्वा तदानीं प्रेमला विचारे निमग्ना सती स्वमनसि विचारितवती-पतिदेव इत्थमनवसरवार्तां कथं कुर्वन्नस्ति? अयं तु सिंहलपुरीतो मम विवाहायाऽऽगतोऽस्ति, परं तत्रत्यप्रशंसा-मकुर्वाण आभानगर्या भवनस्य तदुपान्तस्य च गुणवर्णनं कथं करोति ? कदाचित्सिंहलकुमारस्थाने आभानरेश एव मामुपयन्तु-मागतो भवेत्तर्हि अवश्यमत्र वचने गूढं रहस्यमस्ति, अन्यथाऽप्रा-सङ्गिकीं वार्तां कथं कथयति ? तदनन्तरमेवाऽक्षदेवनं समाप्तं जातं, राजा चन्द्रश्च भोजनार्थमास्त । प्रेमला तु तद्रहस्यज्ञानाय यतमानापि सिंहलपुरीराजकुमारेणाऽऽभापुर्यादेः प्रशंसा कथम-कारि ? तद् बोद्धुं न शशाक । अस्तु, भोजनं कुर्वता चन्द्रेण जलं याचितम् । अभ्यर्णे शीतलजलपरिपूर्णो भृङ्गारः स्थापित आसीत्ततो जलं लात्वा प्रेमलया चन्द्रः पायितः । तत्पिबन्नेव चन्द्रोऽब्रवीत्-प्रिये ! किं त्वया गङ्गाजलं पीतमस्ति ? तदग्रेऽदो जलमस्वादुतरं ज्ञायते । एतन्निशम्य सा पुनरपि विचाराऽकूपारे निमज्जति स्म,

मनसि चैवं विचारितवती– अस्य सिंहलपुरी तु सिन्धुनदीं निकषा वर्तते, गङ्गा च पूर्वस्यां दिशि, सा त्वनेन दृष्टाऽपि नो भवेत् । पुनरयं तदुदकवर्णनं कथं करोति ? अत्र वचस्यपि गूढरहस्यस्य संभवोऽस्ति । तया नेत्रमुत्थाप्य चन्द्राऽभिमुखं दृष्टं, तदा तस्य चेत उच्चटितमिवातीव लक्षितम् । तदा पुनरपि चिन्तान्विता सा स्वमनश्चिन्ताजालं प्रस्फुटीकर्त्तुमलगत्तदैव सिंहलाधीशेन रहस्याहूतश्चन्द्रो गदितः– महाशय ! सम्प्रत्यल्पशेषा रजनी वर्तते, पुनरस्य स्थानस्य त्यागः प्राय एव भवतः प्रियो भवेत्, परन्तूपायाऽभावात्किं करणीयं ? सम्प्रत्यरमेव भवानितो गच्छेत्तदेव वरम् । सिंहलेशोक्ती राज्ञश्चन्द्रस्याऽतीवाऽप्रिया ज्ञाताऽभूत्, परं तेन सत्यसंगरेणतत्कथनानुऽसारमेव परिणयोऽपि सहर्षं कृतस्तथैव च स स्वविवाहितामपि पत्नीं त्यक्त्वा ततो गमनाय मतिं चक्रे, यतो बुद्धिमते निपुणाय स्वल्पोऽपि संकेतः कार्यार्थं पर्याप्तो भवति । त्वरितमेवैको रथः सज्जीकृतस्तमारुह्य सपत्नीको राजा चन्द्रो निवासस्थानं परावर्तत । तत्रागते द्वावपि विविक्तस्थान आसातां, तत्र पतिदेवस्योद्विग्नमनः प्रेमलया दृष्टम् । यश्चोल्लासः परिणयसमये सोऽक्षदेवनकाले नाऽऽसीत्, यस्तदानीमासीत्स साम्प्रतं स्वल्पोऽपि नाऽस्ति क्षणे क्षणे विपरीतो लक्ष्यते । यदेत्थं प्रेमलाऽऽलोचयन्त्यासीत्तदैव हिंसकमन्त्रिणाऽऽगत्य संकेतितभाषया क्षिप्रं तत्स्थानत्यागाय चन्द्रो निवेदितः । झटिति ज्ञातसंकेतश्चन्द्रो महत्यसामञ्जस्ये पपात, यत एकत्र प्रेमलायाः प्रेमाऽपरत्र कनकध्वजाय कृतोद्वाहश्चाऽऽकर्षयन्नासीत्पुनः कदाचिद् वीरमती वृक्षमारुह्य विमलापुरीं गच्छेत्तदा मे का गतिर्भवेदिति तस्य चिन्ताऽपि संजाता । एतत्त्रिविधकारणेन

मुक्तकञ्चुकोऽहिरिव स कथञ्चित्प्रेमलाप्रेम त्यक्त्वोत्तस्थौ । परं तत्करं गृह्णत्या प्रेमलयोक्तम्- प्रभो ! क्व व्रजन्नसि ? चन्द्रेणाऽभाणि- प्रिये ! मलं त्यक्त्वेदानीमेवागच्छामि । साऽपि जलपात्रं नीत्वा तदनु जगाम । परावर्तितुं तन्निषेधिताऽपि सा शङ्कया तदुक्तमेकमपि न शुश्राव निरुपायाद्राज्ञोऽपि ततः परावर्तनं शीघ्रमेवाऽभूत् । तदनन्तरमेव पुनर्हिंसकमन्त्रिणाऽऽगत्यान्योक्त्या राज्ञे चन्द्राय संकेतः कृतः- 'हे रात्रिभूप ! चन्द्र ! पक्षे- हे निशाटन ! गन्तुं शीघ्रतां कुरु यदि त्वां दिनकरोऽद्रक्ष्यत्तदा तव रूपं प्रकटमभविष्यत् । ज्ञातसंकेतो राजा चन्द्रः संकेतं जानन्नपि किं कुर्यात्प्रेमलायाश्चातुर्यस्य पुरस्तस्यैकोऽप्युपायः साफल्यं नाऽगमत् । स गन्तुमनेकशो द्वारदेशं गतोऽपि सुगन्धः पुष्पमिव प्रेमला तस्याऽनुगमनं नाऽमुञ्चदिति, तां प्रतार्याऽपि गमनं तस्याऽसुकरमेवाऽभूत् । इतः प्रेमलाऽपि प्रेमोन्मत्ता सती तत्करं गृहीत्वा पर्यङ्कसमीप आकृष्य नीयमानं तं स्वपार्श्वे समुपवेश्याऽगदत्- प्राणेश ! भूयो भूयः किमेवं क्रियते ? कदाचिद् बहिर्गम्यते, कदाचिच्चान्तरागम्यते तस्य किं कारणमस्ति ? प्रथमसमागम एवेदृशः कपटव्यवहारः कथम् ? एवंकृते सत्यावयोः प्रेमलता कथं विकासमेष्यति ? प्रथमग्रासे मक्षिकापाते भोजनं वैकृत्यमेति । अतः स्वचित्तचापल्यं संत्यज्य सुखेनोपविशतु, अस्मिन्निष्टमधुरसम्बन्धे कटुत्वं नोत्पादयतु, भवदुक्त्या भवद्रहस्यं किञ्चित्किञ्चिज्ज्ञातवत्यस्मि, अतः सर्वथा भवद्गमनप्रतिरोधमहं करिष्यामि । हे प्राणनाथ ! मां निराशां कृत्वा भवतोऽपि गमनं नोचितमहं भवतो दासी भवदाज्ञां सदैव पालयिष्यामि । हे मम शिरोभूषण ! हे प्राणाधार! यदि

मया कश्चिदपराधः कृतो भवेत्तर्हि स क्षन्तव्यः । स्ववैमनस्य-कारणं च कथय ? उज्ज्वलं भवन्मुखचन्द्रमौदासीन्यं कथं व्याप्नोति? प्रिय ! क्व विमलापुरी क्व चाऽऽभापुरी ? सत्पुण्य-संयोगादेव विधात्रावयोः संगमः कृतोऽस्ति । ज्ञातभवद्वृत्ताहं प्रार्थये-मय्येवं कथमपि मा व्यवहरेथाः, अनेन भवतोऽप्रतिष्ठा भविष्यति । मम पित्रा करमोचनदाने चाऽऽतिथ्यकरणेऽपि त्रुटिर्न कृताऽस्ति । पुनरपि तत्कृता काऽपि न्यूनता भवेत्तर्हि कथय, भवदभिलषितं पूरयितुमवश्यं यतिष्ये । भवतोऽकारणरोषो मे न रोचते, ईदृशी वार्ता तु बालेभ्यो मुनिभ्यो वा शोभामावहति, भवांश्च गृहस्थोऽतो भवता हास्यविलासादिषु मनो योजनीयम् । प्रिय ! अतोऽधिकं किं कथयामि ? यदि भवान्ममाऽभ्यर्थनाम-स्वीकृत्य कथञ्चिद् गच्छेत्तदाऽऽभापुरीमन्विष्य तत्राऽहमप्यागमि-ष्यामि, दासी भूत्वा भवदङ्घ्रिसेवया स्वजीवनं व्यत्याययिष्यामीति निश्चयं जानातु । प्रेमलावचः श्रुत्वा चन्द्रोऽवक्- प्रिये ! कदाग्रहं कथं करोषि ? तव मनोभावं जानामि, परं किं कुर्यामसक्तोऽस्मि विधातुर्लेखो न विलुप्यते ।

यतः-

अघटितघटितानि घटयति, सुघटितघटितानि जर्जरीकुरुते ।
विधिरेव तानि घटयति, यानि पुमान्नैव चिन्तयति ॥९२॥

मम मुखं तालिकया मुद्रितमस्ति, हस्तौ पादौ च प्रतिज्ञया नद्धौ स्तः, अतः किमपि तुभ्यं निवेदितुं नाऽर्होऽस्मि । त्वं चतुराऽसि तस्मादियतैवाऽखिलं रहस्यमवगमिष्यसीत्याशासे । ममाऽपि त्वां

परित्यज्य जिगमिषा न भवति परं किं कुर्याम् ? सर्पगन्धपुंध्वजयोर्गतिं गतोऽहं स्थातुं गन्तुं चाऽसमर्थोऽस्मि । इत्थं बहुशो राज्ञा चन्द्रेण तोषिताऽपि प्रेमला तस्य गमनं नाऽन्वमोदत तेन सोऽगाधचिन्तायां मग्नोऽभूत् । अथ हिंसकमन्त्री दुर्वचनं प्रयुञ्जानस्तत्राऽऽजगाम । तं विलोक्य लज्जिता प्रेमलैकत्र भागे तस्थौ, तदैव राजा चन्द्रोऽह्नाय बहिर्निःससार । सिंहलेशेन सह मिलित्वा गमनमुचितं जानता चन्द्रेण तमुपसृत्य बभाषे- राजन् ! भवदिच्छाऽनुरूपकृतकार्योऽहं गच्छामि, रोरुद्यमानां तां प्रेमलां परित्यज्याऽऽगतोऽस्ति, तस्या लज्जारक्षणं भवत्करेऽस्ति । एवमुक्त्वा राजा चन्द्रः सिंहलपतेरनुमत्या ततो निःसृत्य यत्र वीरमत्या आम्रवृक्ष आरोपितस्तत्रोद्याने समाययौ पूर्ववच्च कोटरे तस्थिवान् । तदनन्तरमेव वीरमतीगुणावल्यौ तत्राऽऽगत्य रात्रेरवशेषत्वाद् द्रुतं वृक्षमारुरुहतुः । वीरमत्याः पूर्ववल्लगुडताडनेनाम्रद्रुम आभापुरीं प्रति चचाल । दैवादस्मिन्नपि समये वीरमत्या गुणावल्याश्च दृष्टिश्चन्द्रे न पपातेति स सानन्देन तत्राऽस्थात् ।

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्य नवमपरिच्छेदे स्वप्नो वा तद्भ्रमः-

आभापुर्याऽऽगमनसमये पथि वीरमत्या गुणावली प्रोचे- प्रियवधु ! मया सहाऽऽगमनं विना विमलापुरीं कुमारकनकध्वजं च त्वं कथं पश्येः ? अहमेवमेव त्वां प्रत्यहं नवं नवं कौतुकं दर्शयित्वा तवाऽभिलाषां पूरयिष्यामि, परं तदर्थं तवाऽपि मया सह प्रेमरक्षणेन ममाऽनुकूलं वर्तितव्यं भविष्यति । अस्मिंल्लोके मया विना कस्मिन्नेतत्सामर्थ्यमस्ति यो गगनमार्गेण विहृत्येयद्दूर-मल्पकालेन पारं कुर्यात् ? केवलं सिद्धान्ते चारणमुनेर्द्रुतगतिर्वर्णि-ताऽस्ति । खगा अप्यधिकादप्यधिकतराणि दिवसे द्वादशयोजना-न्येव गच्छन्ति । यत्र वायुर्गन्तुमर्हति तत्राऽहमपि गन्तुं शक्नोमि, सहैव जनैरसाध्यमपि कार्यमल्पायासेन कर्तुं प्रभवामि ।

वीरमतीमुखादात्मश्लाघामाकर्ण्य गुणावल्योक्तम्-पूज्य-मातः ! श्रीमत्याः कथनं सर्वं सत्यं, भवत्याः शक्तिविषये मम शङ्कालेशोऽपि नाऽस्ति, यतस्तस्य प्रमाणं प्रत्यक्षमेव मया दृष्टम्। किन्तु मातः ! भवत्यैको भ्रमः कृतः स चाऽयम्-भवती यं कुमार-कनकध्वजं कथयति, स भवत्याः सुत एवाऽऽसीत्तेनैव प्रेमलया सहोद्वाहः कृतोऽस्ति । ममाऽत्र विषये सन्देहमात्रमपि न भवति, यदि ममोक्तमनृतं स्यात्तदा निष्ठुरादपि निष्ठुरैः शब्दैर्भवती मां तिरस्कुर्यात् । एतदाकर्ण्य वीरमत्योचे- प्रियवधु ! किं त्वं मत्तोऽपि चतुरतरा ? यन्मयाऽनभिज्ञातः स त्वयाऽभिज्ञातो, व्यर्थमत्र विषये

सन्देहं कुर्वाणाऽसि । त्वं तु यं कञ्चिद्रूपवन्तं सन्नरं द्रक्ष्यसि, तमेव चन्द्रं ज्ञास्यसि, परं त्वादृगनभिज्ञा नाऽस्मि, यदीदृग्वृत्ते विश्वासं कुर्याम् । इतः कोटरासीनो राजा चन्द्रोऽखिलमुदन्तं शृण्वंश्चिन्ता-चलितचेता भवन् विचारितवान्- कदाचिद् वीरमती मां पश्येत्तदा-ऽन्यस्मादन्यो भविष्यति, परं दैवात्तथा न बभूव । अनेकान्नदीवनो-पवनपर्वतादींल्लङ्घयन् रसालवृक्ष आभापुरीनिकटमाययौ । तदानीं ताम्रचूडाः शब्दायमाना आसन्, पूर्वदिशि भानूदयसंचारोऽभवत् । यथासमयं स रसालपादपो नैजं स्थानमाससाद । तस्मिन् स्थिरी-भूते वृक्षे वीरमती गुणावली च तस्मादवातरत्, भाग्यवशात्तदापि चन्द्रस्तयोरक्षिगोचरो नाऽभूत् । अवतीर्योभे गात्रशुद्ध्यर्थमभ्यासव-र्तिपुष्करिणीमभीयतुः । तेन राज्ञश्चन्द्रस्याऽनुकूलोऽवसरः संप्राप्तः, इति सोऽञ्जसा बहिरेत्य सौधमुपेत्य पूर्ववत्पर्यङ्के शिश्ये । ते अपि हसन्त्यौ चाऽऽलपन्त्यावन्तःपुरमासेदतुः । अथ लगुडं दत्त्वा वीरमत्या चन्द्रस्य जागरणार्थं गुणावली विसृष्टा स्वयं, नागरिकान्विनि-द्रितान् कर्तुमऽचेष्टत । द्रुतमेव मन्त्रबलेन त्यक्तनिद्राः सर्वे नित्यक्रियां समाप्य स्वे स्वे कार्ये प्रसिता जाता रात्रिवृत्तं च केषामपि ज्ञातं नाऽभूत् । गुणावल्यपि निजमन्दिरमायाता । तया पूर्ववद् गाढनिद्रायां पतितश्चन्द्रो दृष्टः पटाच्छादितेन तेनाऽपि सा दृष्टा । तदानीं गुणावली स्वस्वान्ते पश्चात्तापं कुर्वत्याऽऽसीत्, यदहं व्यर्थमेवैनं स्वपतिं निद्रितं विधाय छलमकार्षं स्वार्थं पापं चाऽचिनवम् । तं यथावत्सुप्तं विलोक्य, विमलापुर्यां चन्द्रसमवर-दर्शनोत्थसंशयनिवृत्त्या तस्याः परमानन्दोऽपि बभूव । ततस्तया मन्दं मन्दं वारत्रयं तस्य विग्रहे लगुडस्पर्शः कृतः । चन्द्रोऽपि

निद्रामिषेणाऽनेकशः पार्श्वपरिवर्तनं कृतवान् । तद्दृष्ट्वा गुणावल्योक्तम्- प्राणप्रिय ! उत्तिष्ठ, प्रातः संजातमद्य तु भवान् तथाऽशयिष्ट यथा मासजागरणं कृतं भवेत् । रात्रौ जागरणाय यत्ने कृतेऽपि संलापोत्थानादेः का वार्ता ? भवता पार्श्वपरिवर्तनमपि न कृतं तत्र किं कारणं ? स्वप्ने कस्यचित्सम्पल्लभ्यमानासीत्किम् ? उत कस्याश्चिद् रमण्याः प्रेमार्णवे ब्रुडन्नाऽऽसीत् ? प्रियेश ! जागृहि, भवद्दर्शनार्थं बहुसमयात् स्थितां मां कृपयाऽह्नाय दर्शनदानेन कृतार्थयतु । सम्प्रत्यपगता शयनवेलेदानीं राजपुत्राणां मल्लयुद्धं कर्तव्यम्, राजपरिषदोऽपि समय आगतोऽस्ति । प्रभो ! उत्तिष्ठोत्तिष्ठ, यदि ते माता ज्ञास्यति, यदेतावत्कालं न जागृतः, तदा व्यर्थं विरङ्क्ष्यति । तदा चन्द्रः कपटनिद्रां विहायोत्थितः सन्नवक्- अहो ! अद्य बहु सुप्तम्, भानूदयोऽपि न ज्ञातः । रात्रौ झंझावातेन चेतोऽपि नाऽनुकूलमासीदतो जागरणेऽपि विलम्बो जातः, परं प्रिये ! तवाऽपीक्षणेक्षणेनाऽखिलरात्रिजागरा लक्ष्यते । सहैव तवाऽऽलापेन किञ्चिद् वैपरीत्यस्याऽनुभूतिर्भवति, अद्य रात्रौ कुतश्चिद् विहृत्याऽऽगतेव ज्ञायते । प्रथमं स्वीयं सकलं वृत्तान्तं कथय, पुनर्मया सह मधुराऽऽलापं कर्तव्यम् । स्वामिवचः श्रुत्वा व्याजचकिता सोवाच- प्रिय ! अद्यैवं विपरीतं कथमुद्यते ? किं भवच्चरणं त्यक्त्वा मम कुत्र गन्तव्यमस्ति ? कुत्राऽप्यहं गता नाऽऽसम्, भवानेव कुत्राऽपि गत आसीदिति प्रतीयते । अहं तु भवन्तमनुक्त्वा मन्दिराद् बहिरपि पादनिक्षेपं न करोमि । इत्थं तद्वचो निशम्य साश्चर्यश्चन्द्रो मनस्यचिन्तयत्-नाऽत्राऽस्याः कश्चिद्दोषः, वीरमत्याः प्रसङ्गेनैवेयमसत्यं कटुवचनं वक्ति, सर्वमेत-

दागो विमातुरेवाऽस्ति । यथा श्रीफलजलं कर्पूरसंगतो विषं निष्पद्यते तथा सत्साधवोऽपि कुसंगत्याऽनेकविधां विकृतिमाप्नुवन्ति ।

यतः-

दुर्वृत्तसङ्गतिरनर्थपरम्पराया,
हेतुः सतां भवति किं वचनीयमेतत् ? ।
लङ्केश्वरो हरति दाशरथेः कलत्रं,
प्राप्नोति बन्धमथ दक्षिणसिन्धुनाथः ॥९३॥

दुष्टसंगतिरग्निसमा दुःखदा भवति, तथा सतामपि सर्वाऽवस्थायां हानिरेव जायते । यथार्थेयं कस्यचिदुक्तिः-स्त्री, जलं, अक्षि, अश्वः, राजा, चैतान् यथा नामयेयुस्तथैवैते नमन्ति । इत्थं विचिन्तयन् पुना राजा तां प्राह- प्रिये ! इतस्ततो व्यर्थं वचः परित्यज्य यथातथ्यं ब्रूहि, यदद्य रात्रौ कुत्र क्रीडा कृताऽस्ति ? असामञ्जस्ये पतिता तथ्यकथने सभया सा मनःकल्पितं वचः श्रावयितुमारभत- प्रियप्राणेश ! श्रूयतां वैताढ्यगिरौ विशालाऽऽख्या नगर्यस्ति । तत्र मणिप्रभनामा विद्याधरराजो राज्यं करोति । चन्द्रलेखाऽभिधा तस्य भार्याऽस्ति सर्वे विद्याधरास्तेन वशीकृताः। अद्य रात्रौ तीर्थाऽटनं कृत्वाऽऽभानगरीमुपर्युपरि स्वाऽऽवासं गच्छतस्तस्य दैवात्सवृष्टिवातेन विमानं स्थगितं जातं तदवलोक्य तत्स्त्रियोक्तम्- स्वामिन् ! अद्याऽत्रासमयवृष्टिः कथमभूत् ? अस्माकं विमानं च कस्मात्प्रतिरुद्धमस्ति । तन्निशम्य विद्याधरः प्राह- प्रिये! इयं वार्ताऽकथनीयाऽस्ति, व्यर्थं पराधिकारचर्चा न कर्तव्येति पत्युत्तरं निशम्य, तत्कारणं जिज्ञासमाना विद्याधरी मुहुर्मुहुः पतिं पप्रच्छ । प्रान्ते विद्याधरेणोक्तम्- प्रिये ! आभानगरीं प्रति चोकुप्य-

मानेन केनचिद्देवेन राज्ञः क्लेशाय वृष्टिः कृताऽस्ति । परं राज्ञः पुण्यप्रभावेण ममेदं व्योमयानं स्थिरमभूत् । एवमाकर्ण्य विद्याधर्योचे- प्रिय ! ईदृगुपायो नाऽस्ति, येन तदापन्निवर्तेत, यद्यस्माभिर्भाव्यं तदेयानुपकारोऽवश्यं कार्यः । विद्याधरेणोक्तम्- ओम्, यदि तस्य मातेच्छेत्तदा साऽस्या आपदोऽनायासेन स्वसूनुं रक्षितुमर्हति । एतच्छ्रुत्वा विद्याधरी स्वपरिवृढेन सह भवन्मातुः सकाशमागता । अनन्तरं विद्याधरो मातरं प्राह- तव पुत्रोपरि महदापत्तिरागामिन्यस्ति, अतः कुत्राऽपि पूतस्थाने श्रीशान्तिनाथस्य बिम्बस्थापनं कृत्वा तदग्रे दीपपञ्चकं प्रज्वाल्य सवधूर्भवती ममेयं स्त्री चेति स्त्रीत्रयी रात्रिजागरां कृत्वा प्रभोर्गुणगानं कुर्यात् । उषस्यनेन लगुडेन स्वपुत्रं स्पर्शयेत्तदा सोऽनयाऽऽपदा मुक्तो भवेत् । विद्याधरोक्तं श्रुत्वा मात्राऽहमाहूता पश्चादस्माभिस्तिसृभिस्तथाऽनुष्ठितम् । प्रगे जातेऽस्य लगुडस्य स्पर्शः कारितो भवांश्चोत्थापित, इयमेव तथ्य- वार्ताऽस्ति । धीरतया सर्वं श्रुत्वा राज्ञा चन्द्रेणोक्तम्- प्रिये ! तव सत्यवचनेन परमानन्दो भवतितराम्, पत्युर्हितचिन्तने लीनत्वमेव सतीधर्मोऽस्ति, तच्छास्त्रेऽपि वर्णितम् ।

यतः-

मितं ददाति हि पिता, मितं भ्राता मितं सुतः ।
अमितस्य हि दातारं, भर्तारं का न पूजयेत् ? ॥९४॥

पतिहिताय सुकृत्यं किं नाम कुकृत्यमपि कुर्यात्तदपि श्लाघ्यं भवति, मातुः कृत्यं तूचितमेवाऽस्ति । यतः सुतस्य शुभचि- न्तनं प्रसूर्न कुर्यात्तदा कः करिष्यति ? त्वया मदर्थं यद् रात्रिजागर-

णकष्टः सोढः स तु तव प्रेमपरिचयो वर्तते, विपत्तावेव भार्याप्रीति-परीक्षा भवति । मत्कृते त्वमेव जागरणं न कुर्वीथास्तदाऽन्यः कः कुर्यात् ? अयि चन्द्रानने ! अहं त्वद्वचस्यतिविश्वासं करोमि, एतत्त्वतिवरमभूत्, यदेतन्मिषेणाऽखिला रात्रिः प्रभुभक्तौ गता, किन्त्वस्माकमीदृग् भाग्यं कुत्र ? यत्प्रभुभक्तिं कुर्वीमहि । अर्ह-द्भक्त्या प्राणिनो जगदकूपारं तरन्ति । पुनरस्या विपदोऽपाकर-णस्य का वार्ता ? प्रिये ! यथा त्वया जागरणेन रात्रिर्व्यतीता, तथा मयाऽप्याऽऽश्चर्यजनकः स्वप्नोऽद्य दृष्टः, सोऽतिमहानस्ति । शृणु, संक्षेपेण त्वां कथयामि-इतोऽष्टादशशतयोजनस्थां विमला-पुरीं मात्रा सह त्वं गता, तत्र पर्यटन्त्या त्वया कयाचित्सुरूपया रमण्या सह परिणयन् सुन्दरः पुरुषो दृष्टः । ततो युवामुभे अत्रागातामित्थं मम स्वप्ने तव कथने च महदन्तरेऽपि त्वयि सतीत्वात्तव वचनमेव तथ्यं मन्ये । इति पतिवचो निशम्य लज्जितया तयोक्तम्-भ्रममूलके स्वप्ने कदापि नो विश्वसनीयं, यतः कश्चिच्छिव-पूजकः स्वप्ने मिष्टान्नपरिपूर्णं मन्दिरं दृष्ट्वोत्थितः सन् नागरिका-न्निमन्त्र्य मन्दिरे गतेऽदृष्टमिष्टान्नः स आगतेषु जनेषु शिवेन सर्वं भक्षितं, पुनरन्यदा स्वप्ने मिष्टान्नं यदा द्रक्ष्यामि, तदाऽवश्यं भव-द्भिस्तदादयिष्यामि, इति तेभ्यो न्यवेदयत् । एतन्निशम्य तैरुक्तं अरे मूर्ख ! किं त्वयाऽस्माकं स्वप्नदृष्टं मिष्टान्नं भक्षयितव्यमासीत्? तेन किं कस्याऽप्युदरपूर्तिर्भवति ? एतेन विचारमूढस्त्वं प्रतिभासि। पश्चात्ते सर्वे यथाऽऽगतास्तथा गताः शिवपूजकोऽपि पश्चात्तापयुतो बभूव । इति स्वप्नमसत्यं मत्वेतोऽष्टादशशतयोजनस्य गताऽऽगत-

मप्यसत्यमवेहि । तद्वचो निशम्य चन्द्रेणोक्तम्- प्रिये ! त्वमेव मम स्वप्नं तथ्यं मन्यसे । यतोऽसत्यवादिनी त्वमिति मयोक्ते त्वयेत्थं वक्तव्यमासीत् । स्वोक्तौ विश्वस्तायास्तव चिन्ताकरणं नोचितमस्ति, नीतिशास्त्रेऽप्युक्तमस्ति ।

यथा-

सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः,
सुसाधितास्त्रं नृपतिः सुसेवितः।
सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं,
सुदीर्घकालेऽपि न यान्ति विक्रियाम् ॥१५॥

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्य दशमपरिच्छेदे

मानवजीवनतः कुक्कुटभवनम्-

राज्ञोऽन्तिमवाक्येन पुनर्वक्तुमक्षमया तयोक्तम्- प्रिय ! स्वप्रवृत्तान्तं स्वान्तान्निःसारयतु । अस्मत्कृतजागरणं भवान्न जानातु नाम, परमीश्वरः किं विस्मर्तुमर्हति ? अद्य कुत्राऽपि वणिग्विद्या शिक्षितेति लक्ष्यते, अतोऽस्मत्कथनं हास्येन परिणमय्योपरिष्टा-दुच्चावचं जल्पति । सकलरात्रिवृत्तान्तं कथितायां मय्येवं हास्यं नोचितं यतोऽनेन बहुधाऽनर्थः संभाव्यते । स्वाम्याज्ञां विना बहिरपि गन्तुमशक्ताया ममेयद्दूरगमनं कदाचिदपि संभवति किम् ? पुनरि-त्थमुक्त्वा मे चेतः कथं भवान् दुनोति ? मयीदृग् व्यवहारो भवता न कर्तव्यः । ततश्चन्द्रेणोक्तम्- अयि राज्ञि ! क्रोधं जहिहि यथेष्टं कुरु । स्वप्रवृत्तान्तकथनेन क्रोधकरणस्य का वार्ता ? चिरान्मत्सा-हचर्येऽपि मम हास्यकरणं त्वयाऽज्ञातमस्ति किम् ? अस्तु, मम तु स्वस्वप्नः सत्यमेव प्रतीयते न तु भ्रमः । विधात्रा श्वश्रूवध्वोर्युग्मं साधु कृतं, साम्प्रतं सुखेन रमस्व । तत्र मम भयं न कार्यं, कृपया कदाचिन्ममाऽपि कौतुकादिकं दर्शनीयं, यथा त्वया सह ममाऽपि कार्यं सिध्येत् । किन्तु राज्ञिमहोदये ! तव यथार्थं रूपं मयाऽद्यैव दृष्टमद्य यावदहं त्वां ज्ञातुं नाऽशकम् । एतन्निशम्य सा प्राह- प्रिय! मर्मभिदा तव वचसा प्रेमभेदो लक्ष्यते, इदं ते कपटहास्यं विषलिप्तेषुवच्चेतो दुनोति । कर्णेजपकथनेन मय्यसंतुष्टो भवान्

भ्रमादपि मत्कृतमकार्यकरणं नो शङ्कताम् । यथेह शयानमपि पतिं त्यक्त्वा कुलटेतस्ततो गच्छति, नाऽहं तथेति ध्रुवं जानीहि । अतः पारस्परिकप्रेमविघातकं वचो नो ब्रवीतु, इति मुहुः प्रार्थये, पुनर्यादृशी भवदिच्छा । प्रत्युत्तरमददानस्य राज्ञो वपुषि किमपि विवाहचिह्नं दृष्ट्वाऽनेनैव प्रेमला परिणीतेति तस्या विश्वासो बभूव। तथाऽपि कुधियाऽकृततथ्यस्वीकृतिः सा गुणावली त्यक्तशय्ये राजनि वीरमतीसमीपमागता किंकर्तव्यमूढोपालम्भलुप्तधैर्या वीरमतीमवक्- मातः ! आवयोर्विमलापुरीगमनोदन्तज्ञः पतिदेवो मयि रुष्टोऽस्ति, श्लाघितस्वविद्याया भवत्या अपि तस्यैव विद्या प्रबलाऽस्तीति मन्ये । तदानीं कथिते मम वचसि प्रतीतिर्न कृताऽऽवाभ्यां मिलित्वा छलितेन तेनैकाकिनैवाऽऽवामेव परास्ते । अतः पूर्वमेव मयोक्तं यत्तस्य वञ्चनं कठिनमस्ति, यश्चैतादृशं राज्यभारं वहति संग्रामे वज्राऽऽघातमिव शस्त्रप्रहारं सहते, स धीरो वीरः स्त्रीभिः कथं वञ्चनीयो भवेत् ? एतदपि विचारणीयम् ।

यतः-

कदर्थितस्याऽपि हि धैर्यवृत्ते-र्न शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम् ।
अधोमुखस्याऽपि कृतस्य वह्ने-र्नाधः शिखा याति कदाचिदेव॥९६॥

भवत्या वाग्जालेऽहं पतिता, तेन तदग्रे लज्जाश्रयणं कर्तव्यमभूत् । मातः ! स्वचातुर्यं विद्यां च स्वसमीपे न्यस्यतु । स्वश्लाघां कृत्वा भवत्या अपि मादृशी मुग्धा बाला दुःखौघे पातितव्या नाऽऽसीत् । कौतुकदर्शनार्थं गताया मे कान्त एव रुष्टः, एतत्तु पुत्रार्थं गतायाः स्वामिनाश इव मे स्थितिरभूत् । यद्यप्येतावत्कालं मया किमपि नाऽङ्गीकृतं तथापि येन स्वनेत्राभ्यां दृष्टं

स कियत्कालं वञ्चयितव्यो भवेत् ? कथय किं कुर्यां ? तद्वचः श्रावं श्रावं मे चेतो दुःखीयतेतरम् ।

यतः-

असत्यमप्रत्ययमूलकारणं, कुवासनासद्म समृद्धिवारणम् ।
विपन्निदानं परवञ्चनोर्जितं, कृतापराधं कृतिभिर्विवर्जितम्॥९७॥

कदाचिच्चैवमिच्छा जायते, यदागः स्वीकृत्य क्षमार्थं प्रार्थयेयं, कदाचिच्च कूपे तडागे वा पतित्वा म्रियेयम् । गुणावल्या एतद्वचो निशम्यैव कोपारुणनेत्रा रुषा दन्दह्यमानाऽसिपाणिर्वीरमती चन्द्रमुपसृत्य कृतस्नानं ध्यानायोपविष्टं तं पश्यन्त्येवाऽकस्मात्पर्यङ्के निपात्य वक्षसि तस्थुषी प्रोच्चैरुवाच-अरे दुष्ट छिद्रान्वेषिन् पापिष्ठ ! वद त्वया वधू किमुक्ता ? अधुनात एव छिद्राऽन्वेषी त्वं वृद्धत्वे मां कथं रक्षिष्यसि? मत्तो देवा अपि बिभ्यति पुनस्ते का वार्ता ? दीनारस्थः कीट इव राज्यस्थस्त्वं मदेन धन्यंमन्योऽसि, परं मद्दत्तमिदं राज्यमस्तीति त्वया न विस्मर्तव्यम् । स्वयमपि राज्यभारं वोढुमर्हाऽस्मि तवाऽऽवश्यकता नाऽस्ति स्वेष्टदेवं स्मर, अधुना त्वां जीवन्तं न त्यक्ष्यामि । विमातुर्वचः श्रुत्वा किंकर्तव्यमूढे भर्तरि गुणावली स्वाऽञ्चलं प्रसार्य सानुनयं वीरमतीं प्राह- पूज्यमातः ! क्रोधं संहर, अस्याऽनिष्टेन जना भवतीमेव गर्हिष्यन्ति । मम जीवनावधि सौभाग्यमचलं रक्ष, पादयोः पतामि, अञ्चलं प्रसार्यैतज्जीवनभिक्षां याचे । दुर्भाग्यादेतस्य छिद्राऽन्वेषणं प्रत्यासन्नविपदा मया भवत्या उक्तम् ।

यतः-

पौलस्त्यः कथमन्यदारहरणे दोषं न विज्ञातवा-

नक्षैश्चापि युधिष्ठिरेण रमता ज्ञातो न दोषो नु किम् ? ।
रामेणापि वने न हेमहरिणस्यासंभवो लक्षितः,
प्रत्यासन्नविपत्तिमूढमनसां प्रायो मतिः क्षीयते ॥९८॥

तेन मे पश्चात्तापो बोभूयते, मातः ! कुपुत्रः कदाचिद् भवतु, परं कुमाता क्वचिदपि न भवति । अस्य वय एव कियत् ? सांसारिकविषयस्याऽनुभवश्च क्व ? इति विचार्यैनं मुञ्चतु । अस्य जीवनाऽभावे सतीयती सम्पत् क्वोपयोक्ष्यते ? अतो मय्येव दयां कृत्वाऽस्मै जीवनदानं देहि । अस्याऽपराधं क्षान्त्वा तस्मै वक्तव्यं मामेव कथय । एतदाकर्ण्य वीरमत्युवाच- प्रियवधु ! त्वं दूरे तिष्ठ, अस्य पुत्रस्याऽपेक्षयाऽपुत्रत्वमेव वरम् । राज्यं प्राप्य छिद्राऽन्वेषिणेऽस्मा अवश्यं दण्डो देयः । एवमुक्त्वा यदैव सा तत्कण्ठेऽसिं प्रहर्तुमुद्युक्ताऽभवत्तदैव मध्ये गुणावल्यापपात । नेत्राभ्यामश्रुधारां मुञ्चन्ती साऽब्रवीत्- मातः ! पतिभिक्षां मे देहि, कुतोऽयं सरलचित्तोऽस्ति पुनरपीत्थमयं कदापि न करिष्यति । गुणावल्याः प्रार्थनया स्तोकार्द्रहृदया सा मन्त्रितसूत्रं राज्ञश्चरणे बबन्ध येन स मनुष्यात्कुक्कुटो जातः । तस्यैतां दशां प्रेक्ष्याऽतिदुःखिता गुणावली वीरमतीं प्राह- मातः ! अस्मै प्राणदाने दत्तेऽपि व्यर्थजीवनोऽयं कृतः, अतो मय्येव दयां कृत्वा क्रोधं संहृत्येनं मनुष्ययोनावानय । यत आवयोर्मध्येऽयमेक एव रक्षकोऽस्ति, एनमन्तरा राज्यशासकः को भविष्यति ? विना मनुष्यत्वेनेह जीवनमपि व्यर्थमस्ति । इत्थं भृशं प्रार्थितापि निर्दया वीरमती तामाह-त्वयाऽपि कुक्कुटी भवितव्या चेत्किमपि, पुनर्वक्तव्यमन्यथा जल्पनं व्यर्थमस्ति । एवं दुष्टवाक्येन भापयित्वा वीरमती स्वान्तःपुरं जगाम, अहो ! विधातु-

श्चरित्रं विचित्रम् ।

यतः-

येनोदितेन कमलानि विकासितानि,
तेजांसि येन निखिलानि निराकृतानि ।
येनान्धकारनिकरप्रसरो निरुद्धः,
सोऽप्यस्तमाप हतदैववशाद्दिनेशः ॥९९॥

योऽद्य राज्याऽधीश आसीत्, स एव क्षणान्तरे कुक्कुटो जातस्ततो ललाटलिखितं प्रोज्झितुं कोऽपि समर्थो न भवतीति सत्यम् ।

यतः-

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं,
गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम् ।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां,
विधिरहो ! बलवानिति मे मतिः ॥१००॥

ततो गतायां राजमातरि गुणावली स्वपतिस्नेहवशेन कुक्कुटमङ्के कृत्वाऽश्रुधारया स्नापयन्ती पृष्ठं हस्तेन स्फालयन्ती जगाद- हे प्राणप्रिय ! यच्छिरोऽनर्घ्यमुकुटेन भूषितमासीत्तत्र रक्तशिखा दृश्यते । यश्च सूर्योदयकाले मागधैर्विबोधित एव जागरित आसीत्स स्वयं तारस्वरेण लोकाञ्जागरयिष्यति । यश्च रत्नरचितहिन्दोलदोलितोऽपि सुखं नाऽमन्यत, स लोहपञ्जराऽऽन्दोलनेन सन्तोषमेष्यति। हा दैव ! त्वयैतत् किं कृतम् ? इत्थं विलपन्ती मूर्च्छिता दासीकृतोपचारैः संज्ञां नीता सा पुनरपि भृशं विललाप ।

यथा -

उपमानमभूद्विलासिनां, करणं यत्तव कान्तिमत्तया ।
तदिदं गतमीदृशीं दशां, न विदीर्ये कठिनाः खलु स्त्रियः॥१॥

तस्या ईदृशीमवस्थां विलोक्य सान्त्वयन्त्यो दास्यस्तां प्रोचुः- प्रियभगिनि ! अत्र कस्यापि दोषो नास्ति, दैवाधीनं सर्वं भवति ।

यतः-

अन्यथा चिन्तितं कार्य-मन्यथैव हि जायते ।
बलवान् विधिरेवात्र, कार्या नैव विचारणा ॥२॥

प्राक्तनकर्म भूतैर्भोक्तव्यमेव भवति । यदा प्राग्जन्मकर्मणा तीर्थङ्कराश्चक्रवर्तिनश्च मुक्ता न बभूवुस्तदाऽस्माकं का गणना? येन यथा कृतं तस्य तथा भोक्तव्यं भवति, अतो विलापेनाऽलं, दुःखं जहीहि । एनमेव पतिं मत्वाऽऽस्तां रोदनेन शोकेन च को लाभो भविष्यति ? येनेदं दुःखं दत्तं, स एव सुखमपि दास्यति । सुखदुःखे चक्रवत् परिवर्तेते सर्वत्र सर्वेषां प्राणिनामिति भावः ।

यतः-

सुखमापतितं सेव्यं, दुःखमापतितं तथा ।
चक्रवत् परिवर्तन्ते, दुःखानीह सुखानि च ॥३॥

रूपान्तरमापन्नोऽप्ययमेव ताम्रचूडस्ते पतिरस्ति, अतोऽयं सर्वथा यत्नेन रक्षणीयः । कदाचित्प्रसन्नायां मातरि पुनर्मनुष्यत्वं विधास्यति शोकेन च किमपि फलं न भविष्यति । इत्थं सखीभिर्मुहुर्मुहुः प्रबोधिता गुणावली ताम्रचूडसेवायां समयं यापयन्ती

श्वभिर्बिडालैश्च तमहर्निशं रक्षन्ती विविधस्वादुफलादीनि भक्षयन्ती शान्तिमाप। कियद्दिने गते सा कुक्कुटं नीत्वा, कदाचिच्छान्तिमापन्ना माता मनुष्यमेनं विधास्यतीति बुद्ध्या वीरमतीसमीपमेत्य तस्याश्च-रणौ स्पृष्ट्वा दीनेव तत्राऽऽस्त, परं क्रूरा सा कुक्कुटं पश्यन्त्येवा-ऽतिक्रुद्धा गुणावलीं प्रत्याह-एष दुष्टो मम सन्निधौ कथमानीतः ? एनं ममाऽक्षिपरोक्षं कुरु। किमयं चन्द्रवदेव ते प्रियोऽस्ति ? एवं करणेन बुद्धिहीनां त्वां मन्ये, ममाऽपकारोद्युक्तोऽयं स्वयं शोचनीयां दशां प्राप्तः। पश्याऽस्य ललाटे राज्ययोगः कुत्राऽप्यस्ति ? एत-द्दर्शनेनैव मम देहो दहति, अतः शीघ्रमेनं नीत्वा पञ्जरे मुञ्च, भ्रमादपि मदभ्यर्णेऽयं नाऽऽनेतव्यः। तथोक्तायां वीरमत्यामुत्थाय तदानीमेव गुणावली कृकवाकुं नीत्वा स्वमन्दिरमागता, तदनन्तरं तदर्थं स्वर्णपिञ्जरं स्वर्णकंसी च निर्मापिता। अनुपमभक्ष्यपानैस्तं पालयन्ती विविधवाक्यैः सान्त्वयन्ती च प्रेमवाक्येन व्याहृतवत्या-सीत्- प्राणनाथ ! क्षणमात्रमपि त्वां न त्यक्ष्यामि, पक्षीभूतो भवान् भाविचिन्तया चिन्तितो भवेत्, परं दुःखान्तरं सुखमवश्य-मेवाऽऽयाति।

यतः-

खण्डः पुनरपि पूर्णः, पुनरपि खण्डः पुनः शशी पूर्णः।
संपद्विपदौ प्रायः, कस्यापि नहि स्थिरे स्याताम् ॥४॥

अतश्चिन्ता न कर्तव्या, भाग्यस्य पुनरावर्तनं यावदहमेवमेव कालं यापयिष्यामि, महत्येव विपदप्यायाति, तारकां वर्जयित्वा सूर्यचन्द्रावेव राहुर्ग्रसति। एवमेव तुच्छं धान्यं विहायोत्तमेषु गोधूमा-दिष्वेव कीटाः पतन्ति।

यथा-

प्रायोवृत्त्या विपदः, परिहृत्याऽयस्तु यस्तुनि भवन्ति ।
नहि कोद्रयेषु कीटाः पतन्ति गोधूमकाद्येषु ॥५॥

अतश्चिन्तां परित्यज्य प्रभोः स्मरणं कुरु, मङ्गलमयेन तेन स्मरणेन सर्वं भद्रं भविष्यति । इत्थं चरणायुधं समाश्वासयन्ती स्वयमपि स्वस्था सा कदाचित् क्वाऽपि गता सती तस्य पक्षशब्दं श्रुत्वाऽरं तत्राऽऽगता । इत्थं कुक्कुटत्वमापन्नेऽपि तस्मिन्पतिप्रेम-परायणा सा तस्य सुखाय परं प्रबन्धं कृतवती तयोरेवं कालो गच्छति स्म । अथैकदा गोचर्यर्थं कस्यचित्साधोस्तत्रागमनं जातं तं विलोक्य प्रमुदितया तया बहुमानं तोषितस्य मुनेर्दृष्टिः कुक्कुटो-पर्य्यपतत्तं दृष्ट्वा तेनोचे- अयि भद्रे ! अनेन वराकेन ते किमागः कृतं ? येनाऽयं त्वया गृह्यकः कृतोऽस्मै स्वर्णपिञ्जरमपि दुःखप्र-दमेव भवति । किञ्चाऽस्य हिंस्रस्य मुखं दृष्ट्वोत्थानमपि पापायेति ज्ञात्वाऽपि कथं तत्संग्रहः क्रियते ? मुनेर्व्याहृतं निशम्य तयोक्तम्- गुरुदेव ! नाऽयं सामान्यकुक्कुटः किन्त्वयमाभानरेशोऽतिधार्मिकः पृथ्वीशो मे पतिरस्ति, क्रुद्ध्वा राजमात्राऽस्येयमवस्था कृता । गुरुत्वान्निष्फलत्वाच्चैतद् वृत्तं वक्तुमसमर्था पूर्वजन्मकृतघोरपात-कस्य फलं भुञ्जानाऽस्मि । गुरुदेव ! अत एवैनं पिञ्जरे रक्षामि, सामान्यखगो भवेत्तदा भवद्वचसाऽवश्यं मुञ्चेयम् । एतच्छ्रुत्वा मुनिराह- राज्ञि ! एतद्वृत्तान्तमजानता मयाऽयमुपदेशः कृतः, वीरमत्यैतदनुचितमेव कर्म कृतमस्ति । चन्द्रस्तु चन्द्र एवासीत्तस्ये-दृशी दशा न कर्तव्यासीत् । अस्तु, यदभूत्तदभूत्, अतःपरं त्वया दुःखं न करणीयं तव सतीत्वेन सर्वं संकटं नङ्क्ष्यति, सर्वे

जीवाः कर्माऽनुगा भवन्ति, यतः कर्मणां गतिर्न केनाऽपि त्याज्यते।

यतः-

प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वह्नि-
रुदयति यदि भानुः पश्चिमायां दिशायाम् ।
विकसति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायां,
तदपि न चलतीयं भाविनी कर्मरेखा ॥६॥

सञ्चितकर्मणां भोगादेव क्षयो भवति न तु केषाञ्चिदपि भोगं विनेत्थमेव धर्मशास्त्रेऽप्युक्तम्-

यतः-

यद्वज्रमयदेहास्ते, शलाकाः पुरुषा अपि ।
न मुच्यन्ते विना भोगं, स्वनिकाचितकर्मणः ॥७॥

अतः शोकं परिहृत्य धर्माऽऽराधने त्वया चित्तं निवेशनीयं, येन ते कल्याणं भविष्यति ।

यतः-

सुचिरमपि उषित्वा स्यात्प्रियैर्विप्रयोगः,
सुचिरमपि चरित्वा नास्ति भोगेषु तृप्तिः ।
सुचिरमपि हि पुष्टं याति नाशं शरीरं,
सुचिरमपि विचिन्त्यं त्राणमेको हि धर्मः ॥८॥

अयमेव ममोपदेशोऽस्ति, एवं तामुपदिश्य गते मुनौ मनोवाक्कायेन धर्ममाचरन्ती स्वकुकृत्येन पश्चात्तापवती सा गुणावली दानाद्यतिथिसत्कृतौ तत्परा बभूव । इत्थं धर्माऽऽचरणं कुक्कुटरक्षणं च तस्या नित्यकर्म जातम् ।

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्र-स्यैकादशपरिच्छेदे वीरमत्या नीचता-

अथ प्राकृतकुक्कुटवत्प्रातरुत्थाय रुतवतस्तस्य रावेण विबुद्धा साश्रुनेत्रा विदीर्णहृदया सा तमङ्के कृत्वा कथयति स्म- प्रिय ! ताम्रचूडवद्वल्गने प्रायो भवतः कष्टं न पतितं भवेत् ? मया त्वयं शब्दो वज्रादपि कठिनो ज्ञायते । पूर्वं प्रगे कुक्कुटरुते निद्राव्याघातात्तस्मै भवान् कुप्यते स्म, इदानीं तु भवानपि दुर्दैवेन तथैव कृतोऽस्ति । भवत इमं शब्दं श्रुत्वा भवन्माता प्रसन्ना भविष्यति, परं मामयं शब्दो नितरां दुनोति, अतः प्राणेश ! भृशमेवं नो वक्तव्यम् । गुणावल्या वचः पूर्ववज्ज्ञातेऽपि तस्मिन् खगत्वान्मनुष्यवाचां शक्तिर्नाऽऽसीदतस्तदुत्तरं दातुं स नाऽशकत्।

अथैकदा नागरिकचर्चां श्रोतुं कुक्कुटोपरि जनानां दृष्टिश्च यथा पतेदिति धिया सपिञ्जरं तं नीत्वा सा गवाक्षमेत्योपविष्टा । इतश्च नगरे चन्द्रस्याऽनुपस्थित्या महान् हाहाकारो बभूव, तत्रोपविष्टाभ्यां ताभ्यां मिथो वदतां केषाञ्चिदियमुक्तिः श्रुता- भ्रातरः ! चिराद्राजा कथं न दृश्यते ? तेन विनेयं नगरी निश्चन्द्रा शर्वरीव हतश्रीर्लक्ष्यते। एवं श्रुत्वा कैश्चनोचे- बत ! त्वया किं न ज्ञातं यन्मात्रा स कुक्कुटः कृतोऽस्ति ? अतःपरमस्माकं तद्भाग्यं कुत्र ? येन तद्दर्शनं कुर्वीमहि । तेषामिमामुक्तिं श्रुत्वा मिथो विलोक्योभयोरश्रुधारा प्रवहति स्म । तदैवाऽभिगवाक्षं प्रेक्षमाणाः केचन तत्र स्वर्णपिञ्जरे कृकवाकुं दृष्ट्वाऽयमेव चन्द्रोऽस्तीति

सम्यग् विविदुः । पश्यतामेव तेषां तत्र जनताऽऽजगाम, सर्वेऽति-श्रद्धया तं कुक्कुटं प्रणेमुः । परितो विविधा वार्ता प्रसृता, सर्वे चन्द्रस्य प्रशंसां वीरमत्याश्च निन्दां कृतवन्त आसन् । शीघ्रमेव ज्ञातवार्ता धावमाना वीरमती गुणावलीमुपेयाय, आयान्त्येव तां सोपालम्भं जगाद- रे धृष्टे ! अद्य कं कौतुकं कर्तुमत्रोपविष्टाऽसि? अयं गवाक्षे कथमुपवेशितः ? यद्यस्य जीवनमिच्छसि, तर्हीदानीमेवैनं नीत्वाऽन्तर्याहि, किं गुप्तं गृहवृत्तान्तमेवं प्रकटीक्रियते ? ।

उक्तमपि-

आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं, मन्त्रमैथुनभैषजम् ।
तपोदानापमानश्च, नव गोप्यानि यत्नतः ॥१॥

अद्य तवेदमागः सहे पुनः करिष्यसि चेन्नो सक्ष्ये । त्वयाऽवगता भवेद्, यदेनं नीत्वा बहिरुपवेशनेन मातुर्निन्दा भविष्यति, किन्तु नाऽहं तया निन्दया बिभेमि । यतो दावाऽग्निर्गण्डूषजलेन निर्वाणत्वमेति किम् ? तवाऽनेन कार्येणाऽयं मनुष्यत्वं प्राप्तुं नाऽर्हति। अयं तवाऽतिप्रियश्चेत्तदाऽस्मै भूषणमुत्तमभोजनं च दातुमर्हसि, तत्र नाऽहं बाधिष्ये । किन्त्वेवं पुनः करिष्यसि, तदा तवाऽपीयमेव दशा भविष्यति, या ते पत्युरस्ति । शूलायमानेन वीरमत्या भाषिते-नाऽतिदूयमानाऽश्रुधारां मुञ्चन्ती सा तदानीमेव तत उत्थायाऽन्तर्गत्वा बहुरोदनेन शान्तिमाप । अथ कदाचिदपि पुनस्तत्र गवाक्षे नागता। निःसहाया सा पत्युः पुनर्मनुष्यत्वप्राप्त्याशयैव जीवितं दधत्यासीद्यत आशयैव पुत्रकलत्रबन्धुनिमित्तमनुचितमपि कर्म समारभन्ते सर्वे जीवास्तत *आशैव सर्वाञ्जीवयतीति तत्त्वम्*-

यतः-

दन्तैरुच्चलितं धिया तरलितं पाण्यङ्घ्रिणा कम्पितं,
दृग्भ्यां कुड्मलितं बलेन गलितं रूपश्रिया प्रोषितम् ।
प्राप्तायां यमभूपतेरिह महाधाट्यां धरायामियं-
माशा केवलमेकिकैव सुभटी हृत्पत्तने नृत्यति ॥१०॥

एवमाशाश्रिताया अपि तस्याः पतिमन्तरा सर्वं जगत् शून्यं प्रतिभाति स्म । तथा नीतिशास्त्रेऽपि कथितमस्ति-

यतः-

चन्द्रं विना भाति यथा न रात्रि-र्वेदैर्विहीना किल विप्रजातिः।
सुदन्तहीनो न च कुञ्जरोऽपि, पत्युर्विहीना कुलजाऽपि लोके॥११॥

अपि च-

शस्त्रैर्विना स्याद्धि यथेह वीरः, सामन्तशून्यः पृथिवीपतिश्च ।
विद्युद्विहीनाऽभ्रघटा तथैव, पत्युर्विना शून्यतमा च नारी॥१२॥

अतस्तस्यै भूषणभोजनादिकमपि न व्यरोचत, पुनरपि कदाचिद्वीरमती गुणावलीं कुत्राऽपि गमनाय कथितवती, तदा तस्याः प्रसादाय तया सह गतासीत् । समये समये वीरमती तामाम्रवृक्ष आरोह्य दूरदेशान्तरं गत्वाऽपूर्वं कौतुकं दर्शितवती । अनिच्छयाऽपि वीरमतीभयात्तन्मनोऽनुरञ्जयन्ती सातिप्रेमवशेन पत्युः सङ्कटच्छिदं धर्मव्रतादिकमपि विधातुं लग्ना ।

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्य द्वादशपरिच्छेदे राजकुमारीप्रेमलाया मृत्युदण्डः-

विमलापुर्या आभापुरीमागते राज्ञि चन्द्रे किं किमभूत्तस्य विमाता कथं वा तं मनुष्यात्कुक्कुटं व्यरचयत्तत्सर्वं गतपरिच्छेदे निर्दिष्टम् ।

तदनन्तरं प्रेमलालच्छ्याः किमभूत्सा च कथं लाञ्छिता-ऽपमानिता बभूव, तदपि पाठकपरिचयाय लिख्यते- हिंसकमन्त्रिणि समागते कटुशब्दे प्रयुक्ते च राजा चन्द्रो यदा प्रेमलां परित्यज्य बहिरागतस्तदा तयाऽपि बहिरागमनचेष्टा कृता, परं हिंसकमन्त्रिणा तदैव वारिता सा तस्मिन् भृशं क्रुद्धाऽपि नववधूतया किमपि वक्तुं न शशाक । बहुकालं पत्युरागमनं प्रतीक्षमाणा सा बहुतरे काले गते यदा स नाऽऽगतस्तदा मन्त्रिणा कपटः कृतोऽस्ति, येन मम प्राणनाथो मां त्यक्त्वा क्वापि गतोऽस्तीति मन्त्रिणः कपटं विवेद । अनया विडम्बनया चेखिद्यमाना सा भविष्यं शोचन्त्यासीत्तदानीमेव हिंसकमन्त्रिणा शिक्षितः कुमारकनकध्वज-स्तत्सन्निधौ प्रेषितः । दूरादेवाऽऽयान्तं तं वीक्ष्य पूर्वमयं मे पतिदेव एवाऽऽगच्छतीति धिया तत्स्वागतार्थं सम्मुखमेत्य स्थिताऽपि सा समीपमागते कनकध्वजे ज्ञाताऽन्यपुरुषा सती दूरं गता । पश्चात्त-योक्तम्-को भवान् किमर्थं चाऽत्राऽऽगच्छन्नस्ति ? इतः शीघ्रं गच्छतु, अन्यथा द्वारपालो भवतोऽपमानं करिष्यति । स्मयमानेन

तेनोक्तम्- अयि प्रिये ? एतावत्येव समये त्वयाऽहं विस्मृतः किम् ? किं स्वपतिमपि काचित्कुलाङ्गनैवं विस्मरति ? अद्यप्रभृत्येवैवं करिष्यसि, तदाऽग्रे किं भविष्यति ? सुरूपायां सत्यामपि त्वयि ज्ञानलेशो न ज्ञायते, यतः सति ज्ञाने स्वपतिं का स्त्री विस्मरति ? इत्थं वदन्नन्तरागतः स मञ्चे समास्त । तथा दृष्ट्वा प्रेमला व्याघ्रदर्शनेन गौरिवैकत्र कोणे तस्थौ । यतो यथोत्तमानि पुष्पाणि शिरस्यारोहन्ति वने वा पतन्ति, तथैव पतिव्रतानामपि वपुषो द्वे गती भवतः- तस्य स्पर्शं पतिः करोति वाग्निः ।

उक्तं च-

गतियुगमथ चाप्नोत्यत्र पुष्पं वरिष्ठं,
त्रिनयनतनुपूजां वान्यथा भूमिपातम् ।
विमलकुलभवानामङ्गनानां शरीरं,
पतिकरकमलं वा सेवते सप्तजिह्वम् ॥१३॥

इत्थं दूरवर्तिनीं प्रेमलां वीक्ष्य कनकध्वजेनोक्तम्- प्रिये ! इयद्दूरे कथमास्से ? अत्राऽऽगच्छोपविश विषयभोगविलासं च कुरु, अयमवसरो वारम्वारमागमिष्यति किम् ? शीघ्रगामिनोऽस्य यौवनस्य गमने कालो न लगिष्यति । अद्य प्रथमसमागम एवेदृशो वियोगः कथं क्रियते ? त्वं सौराष्ट्राऽधीशस्याऽऽत्मजाऽहं च सिंहलाऽधीशस्य कुमारोऽस्मि । ईदृग्योगस्तु द्वयोः पुण्योदयात्प्रसन्न एव विधातरि सञ्जातः । एवं प्रजल्पन् स प्रेमलासन्निधिं गत्वा स्थितो यावत्तस्याः पाणिग्रहणायाऽचेष्टत्, तावदेव सोच्चैरुवाच- अरे पापिन् ! दूरे तिष्ठ, सम्प्रति ते सकलभेदो मया ज्ञातः, न च

त्वं मे पतिरसि। स्वपतिं सम्यग् जानामि त्वं तु कुतोऽपि मृषा मे गले पतनायाऽऽगतोऽसि, परं परकीया स्त्री स्वकीया भवितुं नाऽर्हति, तवाऽनयाऽज्ञानतया त्वयि मे दयोत्पद्यते। कुष्ठिनि सत्यपि त्वं गुप्ताऽऽवासे कथं रक्षितः ? अहो ! श्लाघ्यतमं ते सौन्दर्यम्, अतो बहिर्निःसरणेनाऽवश्यं त्वयि कस्यचिद्दुर्दृष्टिपतन-शङ्काऽऽसीत्। गच्छाऽधुना तूष्णीं गमनेनैव ते कल्याणमस्ति। कपीनां मुक्ताहारपरिधानस्य वाञ्छा न कर्तव्या, चास्मिन् पर्यङ्के चारूपवेशमात्रेणैव त्वं मे पतिर्न भविष्यसि। देवमन्दिरस्य कलशोप-वेशनेन काकः किं खगेश्वरो भवति ?।

यतः-

गुणैरुत्तुङ्गतां याति, नोच्चैरासनसंस्थितः।
सुमेरुशिखरस्थोऽपि, काकः किं गरुडायते ? ॥१४॥

त्वं मे करं गृहीत्वा मां स्वपत्नीं कर्तुमिच्छसि, परं पूर्वं मुकुरे स्वास्यप्रशंसनीयं लोकगर्हितं च स्वमुखं तु पश्य।

यदेत्थं वादविवादो भवन्नासीत्तदैव तत्राऽऽगता कपिलानाम्नी तस्योपजननी प्रोवाच- प्रियवधु ! दूरे कथं तिष्ठसि ? अयं ते पतिरनेन सहाऽऽस्स्व, दम्पतीप्रेमप्रवर्धकं वार्तालापं कुरु, यथेष्टं सानन्दं सुखेन रमस्व, मया सह किमपि गोपनीयं च नाऽस्ति। किं त्वं कथयसि ? किमयं ते पतिर्नाऽस्ति ? संजाते विवाहे मुखादेवं वचः पतिव्रतया किं क्वाऽपि निःसार्यते ?।

यतः-

पतिर्देवो हि नारीणां, पतिर्बन्धुः पतिर्गतिः।

पत्युर्गतिसमानास्ति, दैवतं वा यथा पतिः ॥१५॥

अमुमुदन्तं यदि कश्चिच्छ्रोष्यति, तदोभयोः कुलयोर्नासाछेदो भविष्यति । एवंविधं धात्र्याः कथनं श्रुत्वा प्रेमला व्याजहार- वृद्धायास्ते मुखाद्दन्ता अपि विगलिताः पुनरेवमयोग्यं कथं जल्पसि? तवाऽस्य वचसः प्रभावो मयि नैव पतिष्यति । एतादृशे प्रलोभव- चस्यागामिनी काचिदन्यैव स्त्री भविष्यति, त्वया व्यर्थं मम वञ्चनाया- ऽयमुद्योगो न कार्यः । हिंसकमन्त्रिणा पूर्वत एवेयं मन्त्रणा कृता तदनुसारमेवाऽखिलं कार्यमपि प्रवर्तितमिति सम्यगवगच्छामि । एवं प्रेमलाकृतमुपालम्भं शृण्वत्येव कपिला बहिरागता चोच्चैःपूत्कृ- त्याऽकथयत्-धावन्तु धावन्तु कश्चिन्निपुणं चिकित्सकं द्रुतमाह्वयन्तु, वधूशरीरस्पर्शेन कुमारकनकध्वजोऽह्नाय कुष्ठी जातः । तस्य काञ्चनमयः कायो नष्टभ्रष्टो जातः, अहो ! अधुना किं करवाणि क्व वा गच्छानि ? तावदेव रविरुदितः ।

यतः-

एते केतकधूलिधूसररुचः शीतद्युतेरंशवः,
प्राप्ताः सम्प्रति पश्चिमस्य जलधेस्तीरं जराजर्जराः ।
चाप्येते विकसत्सरोरुहवनीदृक्पातसंभाविताः,
प्राचीरागमुदीरयन्ति तरणेस्तारुण्यभाजः कराः ॥१६॥

अतो जनाः शय्यां त्यक्त्वा नित्यकर्मणः सामग्रीं चिन्वाना आसन् । तदानीमेव रोरुद्यमानामाक्रोशन्तीं च कपिलां प्रेक्ष्य हिंसकमन्त्री राजा कनकरथस्तस्य महिषी चान्ये प्रेक्षका धावमा- नास्तत्राऽऽगतास्तत्र च महान् हाहाकारः प्रवृत्तः । कुमारस्य

मातापि पूत्कृत्योवाच- हे पुत्रक ! किमिदं जातं ? तव वधूर्विषकन्यैव ज्ञायते । राज्ञा कनकरथेनाऽपि प्रजल्पितम्- हा दैव ! मम पुत्रस्य तद्रूपं, यद् द्रष्टुं सुदूराज्जना आगता आसन्, तत्क्व गतम्? इयं कन्या तु मम पुत्रस्य वैरिणी प्रतिभाति । यदि पूर्वमेवेयं वार्ता ज्ञाता भवेत्तदा राजकुमारेण सहाऽस्याः परिणयो न कार्येत ? सर्वं वृत्तान्तमाकर्णयन्ती प्रत्युत्तरमददाना प्रेमला मनसि विचारयामास- अस्मिन् समये मम कथनमरण्यरोदनमिवाऽश्रवणीयं भविष्यति । मम सत्यमप्युक्तमनृतं मंस्यते तस्मात्सोपयोगः कालः प्रतीक्षणीयः ।

उक्तं च-

कालः समविषमकरः, परिभवसंमानकारकः कालः ।
कालः करोति पुरुषं, दातारं याचितारं च ॥१७॥

विद्युदिवेयं वार्ता मकरध्वजनृपस्य समीपं प्राप्ता । सोऽपि तत्र धावमान आगतः कनकध्वजकुमारस्य कुष्ठं दृष्ट्वाऽऽश्चर्यमियाय । सरलस्वभावत्वादप्रपञ्चज्ञेन सर्वान् सान्त्वयता तेन मकरध्वजनृपेण दुर्घटनाया वृत्तान्ते पृष्टे हिंसकमन्त्रिणोक्तम्- राजन् ! भवत्पुत्री विषकन्येव प्रतीयते ?, यां स्पृशत एव मे कुमारस्येयं दुर्दशा जाता । ह्यस्त्वस्य सौन्दर्यं भवता दृष्टमेव, यस्याऽग्रे कन्दर्पोऽपि त्रपामावहन्नासीत्स एव क्षणे चेमां दशां प्राप्तः । अस्तु, सम्प्रति स्वकन्यां गृहं सुनयतु, यथेच्छं चास्या यत्कर्तव्यं तत्करोतु, वयं त्वनेन परिणयेन महासंकटे पतिताः । वृत्तान्तमिदं शृण्वत एव दन्दह्यमानकलेवरस्य राज्ञो मकरध्वजस्य

नेत्राभ्यामश्रुधारा प्रपतति स्म । तदानीमेवाऽसिमाकृष्य तां हन्तुमागतं मकरध्वजं पुत्रीपितरं जामाता कनकध्वजकुमारः सविनयमुवाच- पूज्यश्वशुर ! इत्थं क्रोधं न कुरुतामत्र नाऽस्या दोषो न च मे पित्रोः, सकलोऽपि दोषो ममैव पूर्वकर्मणोऽस्ति ।

यतः-

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
पुराकृतं कर्म तदेव भुज्यते, शरीरहेतोस्त्वरया त्वया कृतम्॥१८॥

अतो भवान् स्त्रीहत्यापातकं स्वशिरसि न गृह्णातु । कुमार-कनकध्वजस्याऽनेन वचसा शान्तो राजा मकरध्वजस्तं प्रोवाच- भवत्कथनेनैव सम्प्रत्येनां मुञ्चामि, अन्यथेदानीमेव हन्याम् ।

अनया विडम्बनया राज्ञो मकरध्वजस्य चेतः परं चेखिद्यते स्म । अस्मिन्नेव विचारे मग्नेन राजभवनमागतेन तेन तदैवाऽऽहूतः सुबुद्धिनामा स्वमन्त्री कथितः, श्रुतसकलवृत्तान्तेन तेन भणितम्- राजन् ! ईदृशीं स्नेहलां पुत्रीं कथमभिक्रुध्यसि ? अहमपि वरं दृष्ट्वाऽऽगतस्तस्याऽयं रोगो न साम्प्रतिकः किन्तु सहज एवेति दृश्यते, यतोऽस्य वपुषो दुर्वासना तथा निःसरति, यथा न तात्कालिकीति, सर्वं प्रपञ्चजालमिव मे प्रतिभाति । तेनेत्थं कथितेऽपि तत्क्रोधानलो न शशाम, एवं प्रतिबोधितेऽप्यतुष्टे राजनि पुनः सचिवेनोक्तम्- यद्रोचते श्रीमते तत्क्रियतां परं प्रान्ते पश्चात्ताप एव भवताऽऽलम्बनीयो भविष्यति ।

अत उक्तम्-

सहसा विदधीत न क्रिया-मविवेकः परमापदां पदम् ।

वृणते हि विमृश्य कारिणं, गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ॥१९॥

तदैव प्रेमला मातुः सकाशमागता परं पूर्ववृत्तान्तश्रवणेन विषकन्येयमिति विश्वस्तया मात्रा सा किमपि न पृष्टा, का कथा सत्कारादिप्रेमकुशलप्रश्नानां ? यतो 'वामे विधौ भवति विश्वमिदं च वामं' तदैव चाण्डालानाह्वाय प्रेमलां श्मशाने नीत्वाऽस्याः शीर्षच्छेदं कुरुत, इति राज्ञाऽऽदिष्टास्ते त्वरितं तां निगृह्य चलिताः। एतद्विलोक्य किञ्चिद्वक्तुमप्यक्षमास्तत्रत्या जना आश्चर्यमीयुः । तदनन्तरं पुनर्बहुधा मन्त्रिणा बोधितेऽपि तत्फलं किमपि न जातम्। इतश्च ते घातुकाः प्रेमलां सह नीत्वा यदा ग्रामचतुष्पथे जग्मिवांस-स्तदा ज्ञातवार्ताः पौरमहेभ्यास्तान् घातुकान् श्मशानगमनान्निवार्य प्रेमलया सत्रा सर्वान् राजसमीपमानीय राजानं जगदुः- राजन्! अनुचितादस्मात्क्रोधाद्विरम ।

यतः-

न भवति स भवति न चिरं, भवति चिरं चेत्फले विसंवादी ।
कोपः सत्पुरुषाणां, तुल्यः स्नेहेन नीचानाम् ॥२०॥

जामातुर्जायमाने कुष्ठेऽस्याः कोऽपराधस्तदस्माकं प्रार्थना-मङ्गीकृत्य राजपुत्रीं जीवदानेनाऽनुगृह्णीष्व । सुशीलां दुःशीलां वा पुत्रीं पिता क्षमत एव । वैदेशिकानां दुर्जनानां वा वचः प्रमाणी-कृत्येत्थमनर्थो न कार्यः । एवं बहुकथितेऽपि तत्क्रोधाऽहिविषस्तथा चटितो यथा किञ्चिदपि नोत्ततार, निराशाश्च श्रेष्ठिनो निजं निजं निकेतनमाजग्मुः । झटित्येनां जहि, अस्या मुखमप्यवलोकितुं नेच्छामीति राज्ञाऽऽज्ञप्तास्ते चाण्डालाः सहैव तया श्मशानमभिप्रत-

स्थिरे, तेनाऽखिले नगरे महान् हाहाकारः संजातः। गते श्मशाने बद्धाञ्जलिभिर्घातुकैः प्रेमला प्रोचे- हे राजकुमारि ! पित्रा ते वधायादिष्टैरस्माभिस्तदाज्ञाऽवश्यं पालनीया भविष्यति, अतोऽस्माकं जीवनं व्यवसायं च धिक् ! यदि वयमेतत्कार्यं न कुर्याम तदाऽद्यैतत्पापं किं कर्तव्यं भवेत् ? पूर्वजन्मार्जितपापेनैवेदानीमस्माकमीदृशं गर्हितं कर्म कर्तव्यं भवति। अतोऽनेन कर्मणा जन्मान्तरेऽपि नरकादौ पक्तव्यं भविष्यत्यस्माकम् ।

यतः-

जठराग्निः पचत्यन्नं, फलं कालेन पच्यते ।
कुमन्त्रैः पच्यते राजा, पापी पापेन पच्यते ॥२१॥

किञ्च-

पुरुषः कुरुते पापं, बन्धुनिमित्तं वपुर्निमित्तं वा ।
वेदयते तत्सर्वं, नरकादौ पुनरसावेकः ॥२२॥

उदर एव पापकारणं, अयमेव निखिलं पापं कारयति। हे राजकुमारि ! एतदर्थं क्षन्तव्या वयं, अतःपरं स्वेष्टदेवतां स्मृत्वा स्वकर्तव्यपालनायाऽस्मानाज्ञापय। वीरपुत्रीत्वाद् सौनिकानां वचो निशम्य तदसिं च विलोक्य सा मनागपि भीता नाऽभूत्। तद्घटनार्थं च श्वशुरादीनामेव दोषोऽमन्यत न पत्युः, अतः स्वकर्म निर्भर्त्सयन्ती सा घातुकोक्तं श्रुत्वैव किलकिलाशब्देन हसन्ती तान् स्वकर्तव्यपालनायाऽऽदिदेश ।

एतत्तस्या धैर्यं विलोक्य साश्चर्यास्ते घातुका मनसि चिन्तयामासुः- अहो ! किमिदं वृत्तम् ? यन्मरणकालेऽपीयं हसति,

अतोऽत्र किमपि रहस्यमस्तीति तर्कयद्भिस्तैः पृष्टम्- हे राजपुत्रि! अग्रे मृत्युं दृष्ट्वाऽपि कथमिदं ते हास्यम् ? श्रुत्वैतत्तयोक्तम्- अरे भ्रातरः ! अत्र ममास्य हासस्य कारणे कथितेऽपि को लाभः? हुं यदि महाराजेन पृष्टं भवेत्तदा वक्तव्यमासीत्परं तेन तु न पृष्टं न च मे भाषितं श्रुतं, अपितु जनानां मिथ्याभाषणमाकर्ण्यैव स भ्रमे पतितः, एतदर्थमेव मे हास्यमायाति । यदिदानीमपि स श्रोतुमिच्छेत्तदाऽहं समस्तं तथ्यं कथयितुं शक्नोमि, तच्छ्रुत्वाऽवश्यं तन्नेत्रे उन्मीलिष्यतः । विदितवार्तास्ते घातकाः स्वान्ते चिन्तयामासुः- राजकुमार्या एतदखिलं वृत्तं राज्ञे निवेदितव्यम्, अन्यथा रुष्टो राजा मह्यमुक्तवृत्तं कथं न निवेदितमिति वदेत्तदाऽस्माकमनिष्टं भवेदिति विचिन्त्य तद्रक्षार्थमेकं नरं नियुज्याऽपरे सुबुद्धिमन्त्रिण- मुपेत्याऽशेषमुदन्तं तस्मा अवोचन् । प्रान्ते तैरुक्तम्- राजकुमारी सर्वथा निरपराधैव प्रतीयते, अत सकृत् तदुक्तिरवश्यं राज्ञे श्राव्या, राजानमन्तरेण केभ्योऽपि सा निवेदयितुं नेच्छति । तयैव- मुक्तमस्ति मद्वचसि श्रुते सकलरहस्यज्ञो राजा भविष्यति, ततो भवानुपराजं गत्वा तद्वृत्तान्तश्रवणाय तमनुरञ्जयतु, पुनर्यादृशी तदिच्छा । तदानीमेव राजसमीपमागतेन मन्त्रिणा राजोक्तः- राजन् ! कुमारी स्वान्तिमसमग्रे भवते किमपि निवेदयितुमिच्छति। तत्कथनं सत्यमसत्यं वोचितमनुचितं वैकवारमवश्यमेव श्रोतव्यं, नीतिरप्येवमेव वावदीति-सामान्यापराधिने स्वनिर्दोषतां प्रमाणी- कर्तुमवसरो दीयते, पुनरियं तु भवतः प्रियपुत्री यद्यत्र किमप्यनुचितं कार्यं भविष्यति, तदा जगति सहाऽप्रतिष्ठया भवतः पश्चात्तापोऽति भविष्यति ।

यतः-

सगुणमपगुणं या कुर्वता कार्यमादौ,
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥२३॥

आदित एवाऽहं भवते न्यवेदयम्- वैदेशिकानां विश्वासः कदापि नो कर्त्तव्यः ।

यतः-

अज्ञातकुलशीलानां, धूर्तवेश्याविदेशिनाम् ।
विश्वासो नैव कर्तव्यो, विश्वासाद्वञ्चयन्ति ते ॥२४॥

यदि भवान् तां विषकन्यां मत्वा तन्मुखावलोकनं पापं मन्यते, तदा तां यमनिकायां समुपवेश्य तत्कथनं श्रोतुमर्हसि । मनुष्यताया न्याय्यत्वाच्च ममेमां प्रार्थनां सम्यक् स्वीकृत्य तत्कथनमेकवारमवश्यं श्रोतव्यमित्येव श्रीमन्तं प्रति ममाऽनुरोधोऽस्ति । राज्ञा मन्त्रिणोऽनुरोधोऽस्मिन् विषये स्वीकार्य एवाऽभूत् । तस्य तन्मुखावलोकनेच्छा नाऽऽसीदतो मन्त्रिणा प्रतिसीराव्यवस्था कारिता । तदैव वधस्थानादानाय्य सा तत्रोपवेशिता । ततः सचिवेन स्ववृत्तान्तं निवेदयितुमाज्ञप्ता सा मुदिता सती नम्रतया समं निखिलं वृत्तान्तं निवेदयितुं लग्ना-पूज्यपितः ! अहं भवदग्रे स्तोकमपि शब्दमसत्यं न वदिष्यामि ।

यतः-

सुखी न जानाति परस्य दुःखं, न यौवनस्था गणयन्ति शीलम् ।

आपद्गता निष्करुणा भवन्ति, आर्त्ता नरा धर्मपरा भवन्ति॥२५॥

मम परिणयसम्बन्धे या घटना घटिता तस्या निखिलं वृत्तं यदा श्रोष्यसि, तदा भवतो मम निर्दोषतायामवश्यं विश्वास उत्पत्स्यते । यद्यपीमां वार्तां कथयन्त्या मे महती त्रपा भवति, तथाऽप्यशक्यत्वादस्यास्तत्त्वस्फोटनं यदि न कुर्यां तदा तत्फलं मयैव भोक्तव्यं भवेत् । पितः ! शृणु-सर्वप्रथमं भवन्तमिदमेव गदितुमिच्छामि-तत्र रात्रौ येन सह ममोद्वाहोऽभूत्, यस्मै च भवता हस्त्यश्वादीनां प्रदानं कृतं, सोऽयं वरो नैव स त्वाभाधीशो राजा चन्द्र एवासीत्, तद्वार्तया मे यद् विदितमभूत्तयैवाऽहं कथयितुं शक्नोमि, यच्चन्द्राग्रे एते सर्वथाऽगण्याः सन्ति । अत्र मदुक्ताव-सत्यलेशोऽपि नाऽस्ति, यदि तत्र किञ्चिदप्यसत्यं संभवेत्तदा मे तदेव मृत्युदण्डं दातुमर्हसि यदेकस्मै चौराय दीयते । तन्निशम्य मध्ये मन्त्रिणोक्तम्- हे राजकुमारि ! तव पतिराभानरेशोऽस्तीति भेदस्त्वया कथमज्ञायि ? त्वत्सन्निधौ तस्य किं प्रमाणमस्ति ? एतत्सर्वं पितुरग्रे त्वया स्पष्टतया प्रकाशनीयम् ।

तन्निशम्य किञ्चिल्लज्जमाना सोवाच-पितः ! यदा वयं विवाहान्तेऽक्षक्रीडां कुर्वाणा आस्म, तदा तेनाऽनेकशस्तथोक्तं येन मे तद्विषये संशय उत्पन्नः, पश्चात्तद्ध्यायन्त्या मयाऽऽभानरेशो-ऽयमिति निश्चितम् । पुनरक्षदेवनकाले तेनाऽऽभानगर्याः सौन्दर्यस्य तत्प्रान्तस्य च बहुशः प्रशंसा कृता, तदा तद्वचः श्रुत्वाऽहं चकिताऽ-भवम्, परं सिंहलपुर्या वर्णनमकृत्वाऽऽभानगर्या वर्णनं कथं क्रियते? तन्नाऽहमबोधिषम् । इत्थमेवाऽशनार्थं समुपविष्टेन तेनाऽन्यान्यपि वचनान्युक्तानि, यैस्तस्याऽऽभानगर्या सह घनिष्ठः सम्बन्धो विदि-

तोऽभूदिति सम्प्रति तस्याऽऽभाधीशत्वे मे मनागपि सन्देहो नाऽस्ति। तद्वचसि प्रचुरं माधुर्यं लावण्येन च स कामतुल्यः, अयं तु कुष्ठी काकवदस्ति, क्व स देवकुमारः क्व चाऽयं प्रेतबन्धुः ? पितः ! यदा वयं तत उत्थाय तदावासमगच्छाम, तदा स बहुशो बहिर्गमनाय कृतचेष्टो मया वारितः । क्षणान्तरे तत्र समागतस्य हिंसकमन्त्रिणो जल्पनं निशम्यैकत्रैककोणे स्थितां मां विलोक्याऽऽभापतिर्हिंसकमन्त्रिसङ्केतात्ततस्त्वरितमेव निरगच्छत् । तेन सहैव कृतबहिर्निर्गमनचेष्टापि हिंसकमन्त्रिणा रुद्धाऽहं यदि तदानीं लज्जागर्त्ते न पतेयं तर्हीदानीमियं घटना कदापि नो घटेत । अस्तु, तदग्रेऽयं कुष्ठी पतिभवनकामनया ममाऽन्तिकमागतो विविधां वार्तां विरचयितुं लग्नः । यदा तद्वचस्तिरस्कृतं मया तदा धात्र्याऽऽगत्य कोलाहलः कृतः, समे चैकीभूय जना मां विषकन्येयमिति जल्पितुं लग्नाः । स कनकध्वजस्तु पूर्वत एव कुष्ठ्यासीदित्येतैः पूर्वस्मादेव षड्यन्त्रो रचित इति मन्ये । पितः ! एतत्सर्वमक्षरशोऽहं सत्यं वदामि- अहं त्वेनं कुष्ठिनं विवाहकरमोचनावसरेऽपि नैवाऽद्राक्षं मम पतिस्त्वाभापुर्यधीशोऽस्ति, सिंहलनरेशेन भवान्प्रच्छलितोऽहं च व्यर्थं दुःखिनी कृता, अतःपरमपि श्रीमतो विश्वासो न भवेत्तदा यदिच्छसि तत्कर्तुमर्हसि यतो दुहितुर्भाग्यं तु पितुः करे तिष्ठति। भवान् यदाज्ञापयिष्यति तदेव मया कार्यं भविष्यति, परमेतेषां धूर्तानां वचसि भवता विश्वासो न कार्यः । मम तु कथनमात्रमुपायोऽस्ति, यदि भवान् मयि कोपं करिष्यति, मदुक्तौ च न श्रद्धास्यति, तदा भवति मम किञ्चिद् बलं नाऽस्ति । अपितु यत्करणीयं तद्विचार्यैवेति भवन्तं प्रति ममाऽनुरोधोऽस्ति ।

यतः-

शल्यवह्निविषादीनां, सुकरैव प्रतिक्रिया ।
सहसा कृतकार्योत्था-ऽनुतापस्य तु नौषधम् ॥२६॥

येन भवतः सुयशोवृद्धिर्भविष्येच्च पश्चात्तापोऽपि न कर्तव्यो भवेत्, तदेव ममाऽन्तिमं निवेदनमस्ति । तस्यास्तत्कथनं श्रुत्वा सचिवेन भणितम्- स्वामिन् ! राजपुत्र्याः कथनमक्षरशो मेऽतीव सत्यं प्रतीयते यथार्थतोऽयं कुष्ठी नाऽस्याः पतिः । ततः सम्प्रत्येनां निर्दोषां कुमारीं राजमन्दिरनिवासायाऽऽज्ञापय, एकं च भृत्यमाभा-नगरीं प्रेष्य राजानं चन्द्रं शोधयित्वा तस्मिन् मिलितेऽखिले वृत्तान्ते पृष्टे चाऽनायासेन तद्रहस्यज्ञानं भविष्यति । तद्ज्ञानं विनाऽस्यै दण्डदानं महदनुचितं सदाचारविरुद्धं च भविष्यति ।

अत उक्तम् -

दुःखं वरं चैव वरं च भैक्ष्यं, वरं च मौर्ख्यं हि वरं रुजोऽपि।
मृत्युः प्रवासोऽपि वरं नराणां, परं सदाचारविलङ्घनं नो ॥२७॥

ततो राज्ञोक्तं-एतत्कथनश्रवणेनाऽस्माभिः सह तैः सिंहले-शादिकैः कपटः कृत इति ज्ञायते, तथाऽप्येनां स्वगृहे रक्षितुं नाहमुत्सहेऽतो रहस्यप्राप्तिपर्यन्तं त्वमेव स्वगृहे रक्ष । एतदाकर्ण्य-मन्त्री तां स्वाऽऽवसथमानिनाय, ततो भोजनादिकं कारयित्वा शान्तायां तस्यां मन्त्रिणोक्तम्-पश्य पुत्रि ! यस्य रक्षितेश्वरो भवति, तस्य कोऽपि किमपि कर्तुं नाऽर्हति । गता तेऽशुभवेलाऽतःपरं तु मङ्गलमयप्रभोर्दयया सर्वं मङ्गलमेव भविष्यति । अहं ते पत्युः शोधनं कारयित्वा महाराजस्याऽप्रसन्नतां शीघ्रमेवाऽपसारयि-

ष्यामीति कस्याऽपि विषयस्य त्वया चिन्ता न कार्या । तस्याऽनया सान्त्वनया शान्ता सा कियन्तं कालं यावत्स्वीयं कृत्स्नमपि दुःखं विसस्मार । सदैव सायंकाले राजा मकरध्वजः स्वराजसभा-यामुपवेशनं कृतवानासीत् । अत्रान्तरेऽवसरं ज्ञात्वा मन्त्री राजानं प्रत्यूचे- महाराज ! राजकुमार्याः परिणयवार्तां स्थिरीकर्तुं मन्त्रि-चतुष्टयं सिंहलपुरीं प्रति प्रेषितमिति भवतो नो विदितमस्ति किम्? ततः परावृत्याऽऽगते तस्मिन् तेन कुमारलावण्यस्य महती प्रशंसा कृता । अतस्तान् मन्त्रिण आकार्य प्रष्टव्यम्-तैर्दृष्ट्वाऽदृष्ट्वा वा तत्प्रशंसा कृता, यतस्तस्याऽयं रोगः पुरातन इव ज्ञातो भवति, तस्मादस्माकमत्र विषयेऽवश्यं परीक्षा कर्तव्या । एतच्छ्रुत्वा राजा तमुवाच- करस्थकङ्कणस्याऽऽदर्शेन किम् ? अस्य परीक्षा सम्प्रत्येव भवितुमर्हति । तानधुनैवाऽऽकार्याऽशेषं समाचारं पृच्छतु । तदैव सुबुद्धिनाऽऽहूतास्ते राज्ञा पृष्टाः- विवाहनिश्चयार्थं तत्र गतैर्भवद्भिः कुमारो दृष्टो न वा ? सम्प्रत्यहं यथार्थं श्रोतुमिच्छामि, यदि भवन्तो मिथ्याऽऽभाष्य मच्छलनाय चेष्टिष्यन्ते, तदा तन्निमित्तं कठोरादपि कठोरं दण्डं दास्यामि ।

यतः-

अहो ! अहीनामपि खेलनेभ्यो, दुःखानि दूरं नृपसेवनानि ।
एकोऽहिना मृत्युमुपैति दष्टः, सपुत्रपौत्रस्तु नृपेण दष्टः ॥२८॥

राज्ञो भाषितं श्रुत्वैव विच्छायमुखास्ते परस्परं मुखाऽवलोकनं कर्तुं लग्नाः । राजा यं यमपश्यत्स एव प्रथमं तं पृच्छत्विति नेत्र-संकेतं कुर्वन्नासीत् । सुबुद्धिना तेषां तदवस्थां विलोक्य राज्ञः कर्णे प्रोक्तम्- राजन् ! मम तु सर्वं कपटमयं प्रतिभाति, एते

सर्वे प्रथमं वक्तुं बिभ्यति, अत एते चत्वारोऽपि रहसि पार्थक्येनाऽऽहूताः प्रष्टव्याः, येन समस्तं रहस्यं विदितं भवेत् । सुबुद्धिवचो युक्तं ज्ञात्वा तेष्वेकतमं मन्त्रिणमाहूयैकान्ते सत्यकथनाय राजाऽवदत्, बद्धाञ्जलिना तेनोक्तम्- महाराज ! मया भवल्लवणो भक्षितस्तस्माद् भवत्समक्षे कदापि मिथ्या न वदिष्यामि । मया भवत्कार्येऽवश्यं त्रुटिः कृता, यदा सिंहलपुर्यां सर्वे वयं कुमारदर्शनाय परिणयनिश्चयाय चाऽगच्छाम तदाऽऽवासे विस्मृताऽङ्गुलीयकाऽऽनयनाय तत्र गते मय्यन्तर एव कुमारं विलोक्यैतैस्त्रिभिर्विवाहः स्थिरीकृतः । न त्वहं स्वनेत्राभ्यां कुमारमद्राक्षं, न च वार्तायां कश्चिद् भागमग्रहीषम्, अतोऽहं नैजमागोऽङ्गीकृत्य भवन्तं क्षमाप्रार्थनां याचे । तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजा विवेद- यदन्यद् वृत्तं तथ्यमतथ्यं वा स्यात्किन्त्वेतेन वरो न दृष्ट इति तु निर्विवाद एवाऽस्ति । अतः परमन्यः किं कथयति ? तत् श्रोतव्यं तदैवाऽन्यमपि तथैवाऽऽहूय पृष्टे सति तेनोक्तम्- राजन् ! सर्पो बहिस्तिर्यक् चलतु नाम, किन्तु बिलप्रवेशकाले तस्य तत्कौटिल्यं त्याज्यं भवति, तथाहं तत्त्यक्त्वा सत्यं सत्यं कथयामि । महाराज ! सत्यं त्वेतदस्ति- विवाहवार्तालापदिनात्पूर्वदिने कृताऽधिकभोजनस्य मेऽजीर्णतया पुरीषोत्सर्गचिन्तोत्पन्ना तेन तत उत्थायाऽहं बहिरागतः, पश्चादेतैरेव निश्चितो वरो गौरः श्यामो वा तन्नाऽहं जानामि या च मे तदवलोकनेच्छाऽऽसीत्सा मनस्येवाऽतिष्ठत् ।

ततस्तृतीये चाऽऽहूते पृष्टे तेनोक्तम्- महाराज ! विवाहवार्तानिर्धारणकाले वरः काणः कुब्जोऽन्धो वेति मया न दृष्टस्तत्र न मे दोषो यतस्तदानीं सिंहलपतेर्भागिनेयः क्रोधेन कुत्रचित्पलायितो

गच्छन्नाऽऽसीत्तमानयितुं लोकैरहं प्रेषित इतश्चैतैस्त्रिभिरेव विवाहो निर्धारितः । यद्यहं तत्र स्यां तदाऽवश्यमेव पश्येयम्, परं किं करोमि ? ममेयं त्रुटिर्यथार्थमस्ति, नाऽत्र मेऽपराधोऽस्ति । एतदा- कर्ण्य राजा स्वान्ते चिन्तयितुमलगत्- अनेनापि वरो न दृष्टः, स्वाऽपराधं च गोपयितुमाडम्बरं तनोति, अतस्तुर्यमाकार्य प्रष्टव्यं, यत्स किं कथयति ? तदनन्तरमेवाऽऽहूतं तमपृच्छत्- महाशय ! सम्प्रति भवतो वेलाऽऽगता यद्यसत्यं वदिष्यसि तदा तस्य दण्डो भवत एव भोक्तव्यो भविष्यति ।

यतः-

पुरुषः कुरुते पापं, बन्धुनिमित्तं वपुर्निमित्तं वा ।
वेदयते तत्सर्वं, नरकादौ पुनरसावेकः ॥२९॥

तन्निशम्य तेनोक्तम्- राजन् ! अनृतं बहुकालस्थायि न भवति, अतोऽहं सत्यं वदिष्यामि, मिथ्याऽऽभाष्याऽदण्डाऽपेक्षया सत्यमुक्त्वा दण्डोऽपि वर इति मे सम्मतं, तथ्यं त्वेतदस्ति, यत्सिंहलेशः कथमपि कुमारं विवाहयितुं स्वीकृतो नाऽऽसीत्परं हिंसकमन्त्रिणा विवाहो निर्धारितः । तदनन्तरमस्माकं वरदिदृक्षायां सत्यामपि विविधवार्तया स कालक्षेपणं कर्तुमलगत्, यथा- कुमारो मातामहावासे विद्यते, स ततः सम्प्रति नाऽऽगन्तुमर्हति, पुनर्यदा- ऽस्माभिरत्याऽऽग्रहेणोक्तम्- कुमारमदृष्ट्वा वयमितो न गमिष्या- मस्तदा तेनाऽ-स्माकं चतुर्णामपि कोटिदीनाराणां पारितोषिक- मेकैकस्मै प्रदत्तम्, यतो दानमाहात्म्येनेह परत्र च किञ्चिदपि दुस्साध्यं नास्ति ।

यतः-

दानेन भूतानि वशीभवन्ति, दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् ।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानात्ततः पृथिव्यां प्रवरं हि दानम् ॥३०॥

राजन् ! सर्वेषामपि प्राणिनां लोभो दुस्त्याज्य इति बद्धमुखा वयं तदानीमेव सर्वं निश्चित्य वरदर्शनं विनैवाऽऽगताः । तस्मान्निश्चयं भवन्तं प्रति विश्वासघातकाः स्मस्तदर्थं दण्ड्यानस्मान् यथारुचि दण्डयितुमर्हति, अत्र मिथ्यालेशोऽपि नाऽस्ति । तद्वचसा विश्वस्तो राजा प्रेमलाया निर्दोषतां नितराममन्यत । हे प्रिय-पाठकाः ! *पुण्योदये जाते सर्वेऽपि सानुकूलतां व्रजन्ति ।*

अतश्चोक्तम्-

न देवतीर्थैर्न पराक्रमेण, न मन्त्रतन्त्रैर्न सुवर्णदानैः ।
न धेनुचिन्तामणिकल्पवृक्षै-र्विना स्वपुण्यैरिह वाञ्छितार्थाः ॥३१॥

तदा राज्ञा सुबुद्धिरूचे- मन्त्रिन् ! अत्र विवादे तु बहुप्रपञ्चोऽस्ति, एते चत्वारः प्रलोभने पतिता अतस्तैर्वरदर्शनं विनैव विवाहो निर्धारितः । त्रयस्तु लोभजाले पतिता बालका इव कपोलकल्पितां कथां श्रावयन्ति । तत्र प्रलोभनेनाऽनुचितकारिणामप्येतेषां तथा दोषो न मन्ये, यथा सिंहलेशेन तन्मन्त्रिणा चातिकृतापराधं मन्ये। यतस्ताभ्यां ज्ञात्वाऽपि भूतपूर्वकुष्ठिनः कुमारस्य सकलदूषणं मद्दुहितुः शिरसि स्थापनाय चेष्टितमस्ति । अत एतान् स्वमन्त्रिणो मोक्तुमिच्छामि, परं सिंहलेशादीनां विषये ते को विचारः ? सुबुद्धिनोक्तम्- सर्वतः प्रथमं प्रेमलाया यथार्थपतेरन्वेषणं कार्यं, तच्छुद्धिं तद्वार्ताश्रवणं च यावदस्य विवादस्य तत्त्वनिर्गमनं कथं भविष्यति ? अतस्तावत्कालपर्यन्तं सपरिवारः सिंहलपतिः कारागारे

रक्षणीयो यस्मादिमे हिंसकामात्यादयः सामान्यापराधिनो न सन्ति। राज्ञे मकरध्वजाय सचिवोक्ती रुरुचे, अतो द्वयोर्नृपमन्त्रिणोः कोऽपि गुप्तविचारोऽभूत्, पश्चान्निमन्त्रितः स सचिवपरिवारयुतः सिंहलाधीशो भोजनार्थमागतस्तदा राजा मकरध्वजः सिंहलेशं, तद्राज्ञीं, कनकध्वजकुमारं, हिंसकमन्त्रिणं, कपिलाधात्रीं च ग्राहयित्वा शेषाञ्जन्यान् सिंहलपुरीं प्रस्थापयामास । सम्प्रत्येते पञ्च जना विमलापुर्याः काराऽऽवासे स्वकुकर्मफलं भोक्तुं लग्ना-स्तेषां स्वदुष्कृत्यै चातीव पश्चात्तापो भवति स्म, परं तेनेदानीं को लाभोऽस्ति ? ।

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्य
त्रयोदशपरिच्छेदे
आभानरेशस्याऽन्वेषणम् -

प्रेमलाया निर्दोषप्रमाणितायां राजा मकरध्वज आभानरेशस्य शोधनं कारयितुं लग्नः, तत्कृते तेनैका महती दानशाला निर्मापिता । तत्र प्रेमलामधिकारिणीं कृत्वोक्तम्- प्रियपुत्रि ! निशामय, अत्र यावन्तः पान्था आगच्छेयुस्तेभ्यः सर्वेभ्योऽन्नवस्त्रादिकं दत्त्वाऽऽभानगर्याः समाचारः प्रष्टव्यः, केनाऽप्युक्ते समाचारे शीघ्रं मे निवेदनीयः । पितुरस्मादादेशात्तत्रोपविश्याऽभ्यागतेभ्यो निरन्तरं तद्दानं ददत्या तया प्रायः सर्वे पान्थाः पृष्टाः- देशदेशान्तरे भ्राम्यद्भिर्भवद्भिराभानगरी किं दृष्टाऽस्ति ? तथा तद्राज्ञश्चन्द्रस्य नाम श्रुतमस्ति किम् ? तेष्वधिकांशास्तु निराशजनकमेवोत्तरं दत्तवन्तो यथा पृथक् पृथग् जगदुः- वयं तस्यां दिशि गता एव नहि, कश्चित्तन्नामाऽपि नाऽश्रौषमिति, कश्चिच्च को राजा चन्द्रः कुत्र वास्तव्य इति जानाम्यपि नेति । एवंविधं प्रश्नोत्तरं श्रुत्वोदासीना सा रहस्युपविश्याऽश्रुधारां मुक्तवती चान्ते शान्तिमवलम्बितवती, एतदतिरिक्तं सा कर्तुमेव किं शक्नुयात् ? भर्तुः शोधनायाऽन्यः कश्चिदुपायोऽपि नाऽऽसीत्, अतः स्वयं मनो दृढं कृत्वा स्थितवती सा स्वमनोदुःखवार्तां कस्मा अपि नाऽचकथत् । अथैकदा विमलापुर्य्युद्याने जङ्घाचारणमुनेरागमनं जातं, वनपालेन मुन्यागमनवर्धापितो राजा मकरध्वजः प्रेमलया परिवारेण च सत्रा तद्वन्दनार्थं

तत्राऽगच्छत् । चानेके नागरिका अपि तेन सह जग्मुर्जङ्घाचारण-मुनिराजं वन्दित्वा सर्वे यथास्थानमासत । तेनाऽनन्तरं दत्तां धर्मदेशनां श्रुत्वा बहुभव्यजीवानां प्रतिबोधप्राप्तिर्बभूव, तैश्च तदानीमेव गुरुसमक्षेऽनेकविधं व्रतनियमादिकं जगृहे ।

यतः-

इह भुवि कलयति लघुरपि, महतां सङ्गेन कमपि महिमानम्।
लङ्घयति शशिनि लीनः, खमण्डलं हेलया हरिणः ॥३२॥

प्रेमलाऽपि शुद्धसम्यक्त्वधारिणी श्राविकाऽभूत् । अन्यत्र कृतविहारे गुरौ सर्वे स्वस्वस्थानमागताः प्रेमलाऽपि ततःप्रभृति जिनवन्दने पूजनादिधर्मकार्येषु च विशेषेणाऽनुरक्ता जाता । साऽनुक्षणं नवकारमन्त्रस्य जपं कुर्वाणा पुण्यमयं जीवनं गमयन्ती धन्यमन्या जाता ।

यतः-

अपुव्वो हि कप्पतरू, एसो चिंतामणी अपुव्वो अ ।
जो झायइ सयकालं, सो पावइ सियसुहं विउलं ॥३३॥

गतेषु कतिपयदिनेषु तन्मन्त्रप्रजपनप्रभावात् प्रकटीभूतैका शासनदेवता प्रेमलां प्रोवाच- भगिनि ! ते पतिरवश्यं मिलिष्यति, किन्तु सम्प्रति तत्र विलम्बोऽस्ति । विवाहदिनात् षोडशवर्षे गते तेन सह ते संगमोऽवश्यं भविष्यति । तावत्त्वयेत्थमेव परमात्मनो भक्तौ कालो निर्गमनीयः, कापि चिन्ता च न करणीया ।

प्रेमलयैष समाचारः पितृभ्यां निवेदितस्तेन तावपि निश्चिन्तौ जातौ । तन्मन्त्रस्य तत्प्रत्यक्षप्रभावं विलोक्य तत्राऽतिश्रद्धावती

सा पूर्वापेक्षयाऽप्यतिप्रेमतस्तज्जपं कर्तुं लग्ना । सा दर्शनपूजनादिना जिनचैत्यस्य निरन्तरभक्तिं कुर्वाणा यथाशक्ति तपश्चर्यामपि कृतवत्यासीत् । अथैकदा कुतश्चिद्देशाद्विचरन्त्येका योगिनी तत्राऽऽगता, करस्थया सुवीणया स्वस्वरं संगमय्य सुगायन्तीं तां प्रेमला विलोक्य स्वसन्निधावाहूयाऽपृच्छत्- भगवति ! कुत्र ते वासस्थानं ? तयोक्तम्- इदानीं तु यत्रैव तिष्ठामि, तत्रैव वासस्थानमपि विरचयामि, परं कस्मिंश्चित्काले पूर्वदिशाया एकदेशे निवसिताऽऽसम् । मनोज्ञतमस्तद्वेषः, गैरिकवस्त्रं, वपुर्गौरवर्णं, शरीरे वैराग्यप्रभा, मधुरः कण्ठस्वरश्चैतैर्दर्शकाः सद्य आकृष्टाः सन्तः श्रद्धाभक्तिपूर्वकं तां योगिनीं प्रणन्तुमलगन् ।

यतः-

सुभाषितेन गीतेन, युवतीनां च लीलया ।
न भिद्यते मनो यस्य, स योगी ह्यथवा पशुः ॥३४॥

योगिनी तदानीं स्ववीणायां कस्यचिदादर्शतरनृपस्य गुणगानं कुर्वत्यासीत्प्रेमलयाऽपि तदतिप्रेम्णा श्रुतं, पूर्णे गाने च तया पृष्टं योगिनि ? कस्येदं गुणगानं क्रियते ? तयोक्तम्-पूर्वदिशि चन्द्रनामा एको राजा राज्यं शास्ति स्म, स च नृपेष्वादर्शभूतोऽवर्तत । रूपगुणादिपूर्णस्य तस्यैवान्नं भक्षितवत्यहं तं प्राणेभ्योऽप्यधिकमाकाङ्क्षितवती । अधुना तत्सपत्नीमात्रा केनचित्कारणेन स कुक्कुटो विहितस्तेन खिन्नाऽहं तं देशं परित्यज्याऽत्राऽऽगता, सर्वत्र चाऽटिता, परं तत्तुल्यः सच्चरित्रः सुपुरुषो ममाऽक्षिगोचरो नाऽभूत्ततोऽहर्निशं तद्यशोगानमेव मया क्रियते । इयं योगिन्युक्तिः प्रेमलायै बहु व्यरोचत, तदा सैवंविधां वार्तां श्रुत्वा मम पतिदेवस्य

पूर्णशुद्धिर्मिलितेति जानती द्रुतं योगिन्या सह राजान्तिकमागता। योगिन्या च राज्ञश्चन्द्रस्य सकला वार्ता विज्ञापिता, तेन राजा मकरध्वजो महान्तमानन्दं प्राप्तस्सन् प्रेमलामुवाच- प्रियपुत्रि ! निःसन्देहं ते कथनं सत्यं वर्तते, तव पतिरतिभाग्यशाली ज्ञायते, तद्देशस्त्वितो, दूरेऽस्ति, सहैव तन्मात्रा स चरणायुधो विरचितस्त-स्मात्तत्संगमोऽतिदुष्करोऽस्ति, अतस्त्वया चिन्तां परित्यज्य धैर्यं धारणीयम् ।

यतः-

सदा सदाचारपरायणात्मनां,
विवेकधाराशतधौतचेतसाम् ।
जिनोदितं पण्डितमृत्युमीयुषां,
न जातु शोच्यं महतां महीतले॥३५॥

अनुकूले दैवे सर्वं शोभनं भविष्यति, पितुरमुमुपदेशं ध्यान-पुरःसरं श्रुत्वाऽनन्तरं सा तां योगिनीं सहाऽऽनीय प्रेमभरेण भोजयामास । ततः सा यथासमयमन्यत्र गता, प्रेमला च पूर्ववत्पतिं स्मरन्ती धर्माऽऽचरणेन सुखेन कालं व्यतीयाय ।

यतः-

धर्मेण हन्यते व्याधि-र्हन्यन्ते वै तथा ग्रहाः ।
धर्मेण हन्यते शत्रु-र्यतो धर्मस्ततो जयः ॥३६॥

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्य चतुर्दशपरिच्छेदे वीरमत्याः प्रपञ्चः -

कुक्कुटभूतस्य राज्ञश्चन्द्रस्य मासे गते तद्दर्शनं विना प्रजाः क्षोभमागताः। गुणावली तु श्वश्रूभयेन कृकवाकुमदृश्यमेवाऽरक्षत्। यतः पुनरप्रसन्नतायाः कारणे प्राप्ते श्वश्रूस्तं जीवन्तं न त्यक्ष्यतीति तस्या विश्वास आसीत्। एकदा संभूय नागरिका मन्त्रिसमीपमेत्योचुः- हे मन्त्रिन् ! कृपयाऽद्याऽस्माकं राजदर्शनं कारय, यतो मासो गतोऽस्माभिः स न दृष्टोऽस्ति, अतोऽस्माकं मनो व्याकुलं भवति। दर्शनमकरिष्यमाणा वयमितो देशान्तरं गत्वा निवसिष्यामः। शास्त्रकृतामप्युक्तिरस्ति- यथा निर्दयो धर्मः, सुकुलरहितं मनुष्यजन्म, दन्ताभ्यां विना गजः, मूर्तिं विना मन्दिरं, पुत्रं विनाऽऽलयं, जलं विना नदी, चन्द्रं विना रात्रिः, नेत्राभ्यां विना मुखं चेति शोभां नाऽऽवहति, तथा भूपतिं विना राज्यमपि जानीहि। यतः प्रजानामखिलं वृत्तं राजनि निर्भरं तिष्ठति।

यतः-

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः, पापे पापाः समे समाः।
राजानमनुवर्त्तन्ते, यथा राजा तथा प्रजाः ॥३७॥

यदि राजा न भवेत्तदा नगरवासेन किम् ? वन एव कथं न वसेम ?।

यतः-

राजानं प्रथमं विन्देत्, ततो भार्यां ततो धनम्।

राजन्यसति लोकेऽस्मिन्, कुतो भार्या कुतो धनम् ॥३८॥

एतन्निशम्य स सुबुद्धिमन्त्री नागरिकान् सान्त्वयन्नुवाच- चिन्तां जहित, नगरं त्यक्त्वाऽन्यत्र गमनेनाऽलं, मासाऽवधितो मयाऽपि स नो दृष्टः, तथा युष्माकमिवाऽहमपि तद्दिदृक्षया लालायितो भवामि। अद्य राजमातुरन्तिकं गत्वाऽवश्यं तदन्वेषणं कृत्वा यथासमाचारं भवद्भ्योऽपि निवेदयिष्यामि, कृपया तावत्कालं धैर्यमाधत्त। इत्थं बोधिताः प्रजा विसृज्य मन्त्रिणा राजमातुरन्तिकमेत्य प्रजानां वार्ता निवेदिता- राजमातः! नगरे विविधं वातावरणं प्रसरति, राजमात्रा राजा गुप्तीकृत्य रक्षितोऽस्ति, परमेवं कियत्कालं गुप्तं रक्षितुमर्हतीति ? यदि मे कथनमन्यथा न मन्येत, तदा क्षमस्व, सम्यक् चामुं वृत्तं जानीहि, इदं राज्यकार्यं, न बालकानां क्रीडनमस्ति, राज्ञोऽनुपस्थित्या प्रजासु महानसन्तोष उत्पद्यते। एवं जाते जनोपद्रवोऽपि संभाव्यते, महाराजस्य बहुकालिकाऽनुपस्थितावित्थमेव किंवदन्ती प्रसरिष्यति, अपि च शत्रवोऽपि प्रोत्साहिता भूत्वोत्थास्यन्ति। श्रीमती राजमातेति भवत्या किमपि गुप्तं नो वर्तते, कृपया कथयतु-महाराजश्चन्द्रः कुत्र वर्तते कदा च तद्दर्शनं भविष्यति ? विलम्बेन प्रकटितेऽपि महाराजे सर्वत्राऽशान्त्या घोरकोलाहलो भविष्यति। भवती नाऽनभिज्ञा, एतत्सकलं वृत्तं ज्ञायत एव तथाऽपि पूर्वमेव भवतीं सूचयन्नस्मि, येन भविष्ये ममाऽपराधं न जानीयात्।

यतः-

अरैः संधार्यते नाभि-र्नाभौ चाराः प्रतिष्ठिताः।
स्यामिप्रधानयोरेवं, वृत्तिचक्रं प्रवर्तते ॥३९॥

राज्ञश्चन्द्रस्याऽन्वेषणाय मन्त्रिणा तया सहैवं वार्तायां कृतायामपि तत्प्रभावस्तस्यां किञ्चिदपि न पपात । राजमात्रा मन्त्रिणः समस्तं कथनं श्रुत्वोक्तम्- मन्त्रिन् ! महाराजस्याऽन्वेषणं कर्तुमागतस्य ते सम्यग् विदितमेव, यत्त्वयैव स निहतोऽस्ति, सम्प्रति तमपराधमपह्नोतुमेवं वार्तां विरचयन्नसि, परं मयि तवेदं चातुर्यं सफलतां नैष्यति । बहुदिनादेतद् वृत्तं ज्ञातवत्याऽपि मया कुत्राऽपि न प्रकटितम्, यदाऽद्य पश्यामि त्वमेवं विरुद्धं मां पाठयितुमागतोऽसि, तदा मम स्पष्टं वक्तव्यं भवति- मम प्रियपुत्रस्त्वयैव हतोऽस्ति, ममाग्रे च सत्यवक्ता भवितुमागतोऽसि । यद्यहं निन्द्याऽस्मि, तदा त्वं कथमुत्तमो भवितुमर्हसि ? यदि त्वम्मेऽपकीर्तिकरस्तदाऽहमपि त्वां कथं निर्दोषं त्यक्ष्यामि ? ममाऽपकारं कृत्वा त्वमपि सुकृतं नोद्वक्ष्यसि, पुनरन्ते तवापि चिन्तितं नैव सेत्स्यति ।

यतः-

सर्पाणां च खलानां च, चौराणां च विशेषतः ।
अभिप्राया न सिद्ध्यन्ति, तेनेदं वर्तते जगत् ॥४०॥

तदुक्तिं श्रुत्वैव क्षोभितेन तेनोक्तम्- राजमातः ! किमिदमुच्यते ? वृद्धया त्वया विचार्य किञ्चिद् वक्तव्यम् । तद्घातकं मां केन हेतुना कथयसि ? किं तेन मे विराद्धं येन मया स हतः ? इत्थमनृतवचनेन ते को लाभो भविष्यति ? ।

उक्तमपि-

नासत्यवादिनः सख्यं, न पुण्यं न यशो भुवि ।

दृश्यते नाऽपि कल्याणं, कालकूटमिवाश्नतः ॥४१॥

अत ईश्वरस्यापि किञ्चिद् भयं रक्षितव्यं, राज्यहितार्थं तव पार्श्वागतस्य मे भवती गले पतिता, परं नेदं हास्यं यन्मामित्थं मूर्खमापादयसि । वद चन्द्रं केन हेतुना कथं च हन्तुं शक्नोमि ? तत्त्वमेव दर्शय । तत्प्रमाणं च तव पार्श्वे किमस्ति ? तं प्रतारयन्त्या तयोक्तम्- पश्य, मन्त्रिन् ! चतुरो भूत्वाऽपि त्वं तुच्छमपि वृत्तं नाऽवगच्छसि, संप्रति चन्द्रस्य वार्ताकरणमपि निष्फलं । यदि त्वं ममाऽग्रे तद्वार्तां पुनः करिष्यसि, तर्हि तस्यास्ते दुष्टः परिणामो भविष्यति । हुं यदि सरलतया प्रक्ष्यसि तदाऽहं ते सत्यं वक्ष्ये, परमियमपि स्मृती रक्षितव्या, यद् गृहभेदं तुभ्यमेव गदामि, अतः कस्याप्यग्रे तद्वृत्तं न प्रकाश्यम् । सत्यमदोऽस्ति यद्राजा चन्द्रोऽधुना विद्याधरस्य काञ्चिद् विद्यां साधयन्नस्ति, तेन स प्रकटीभवितुं नाऽर्हति । अतःपरं त्वया तन्नामाऽपि न वाच्यं, तत्स्थाने मामेव नृपं मत्वा ममाऽऽज्ञां प्रतिपालय । अत्र काऽपि बाधा त्वया न दास्यते चेत्तदा त्वामेव मन्त्रिपदे रक्षिष्यामि, अन्यथाऽन्यमेव त्वत्स्थाने नियोक्ष्यामि, यतः स्वाम्यादेशपरिपालक एव भृत्यः सर्वदा विश्वसनीयः प्रेमास्पदं च बोभूयते ।

यतः-

प्रोक्तः प्रत्युत्तरं नाऽऽह, विरुद्धं प्रभुणा च यः ।
न समीपे हसत्युच्चैः, स भवेद्राजवल्लभः ॥४२॥

त्वं चतुरोऽसीत्याशासे यदेतावतैव सर्वं ज्ञास्यसि । यदाऽहं स्वयं राज्यधुरं वोढुमर्हाऽस्मि, तदा कस्याऽपि किञ्चित्कथनस्य

श्रवणस्य वा कोऽप्यधिकारो नाऽस्ति ।

यतः-

राजमातरि देव्यां च, कुमारे मुख्यमन्त्रिणि ।
पुरोहिते प्रतीहारे, वर्त्तितव्यं राड्वत् सदा ॥४३॥

प्रजास्वपि तेन सन्तोषो भविष्यति, अराजकं राज्यं च न कथयिष्यते यदि ममाऽऽदेशमवमत्याऽत्र कार्ये बाधा करिष्यते, तदा तवाऽपि तस्य दुष्टं फलं भोक्तव्यं भविष्यति, पुनर्मे दोषो न देयः । अतो ममेमां सूचनां हृदि निधाय सदैव सुरीत्या वर्तितव्यम्।

वीरमत्यास्तुच्छप्रकृत्या सुपरिचितेन मन्त्रिणा विचारितं यदनया सह मिलित्वा चलनेनैव शमस्ति । किन्तु विरोधकरणे सतीयमित्थमेव मिथ्यादोषारोपणं कृत्वा मम प्राणान्तकारिणी भविष्यतीति संभाव्यते । एवं ध्यात्वा तेन तस्याः सर्वमपि वचनमङ्गी-चक्रे । तदा स्वपक्षे समागतं मन्त्रिणं ज्ञात्वा प्रमोदितया तयोचे-मन्त्रिन् ! साम्प्रतं नगरे डिण्डिमं वादयतु, यदद्यप्रभृति राज्ञश्चन्द्रस्य राजपट्टो वीरमत्या गृहीतोऽतः सर्वैस्तस्या एवाऽऽज्ञा मन्तव्या, अन्यथाकारी नगरान्निःसार्यो वा तस्य वधो भविष्यति ।

यतः-

आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणां, गुरूणां मानमर्दनम् ।
पृथक् शय्या च नारीणा-मशस्त्रो वध उच्यते ॥४४॥

यस्मायाभापुरी न रोचते, यमसदनं च रोचते, स एव तदाऽऽज्ञोल्लङ्घनसाहसं कुर्यात् ? मन्त्रिणा झटिति तथैव कृतं नागरिकास्तु तां घोषणां श्रुत्वैवाऽऽश्चर्ये पतिता वक्तुं लग्नाः-

जगत्यां स्त्रीषु पुरुषस्याऽऽज्ञा दृष्टा श्रुता च, परं तत्प्रतिकूलं तु सर्वथाऽसंभवि, आभापुरीमन्तरेणान्यत्र कुत्राऽप्येवं न भविष्यति। इदं तु स्त्रीराज्यं जातं कश्चिदेतच्छ्रोष्यति चेत्तदैवं कथयिष्यति- यत्तत्र कश्चित्पुरुषो न भविष्यति, तदैव तु वीरमत्या राज्यशासनभारो गृहीतोऽस्ति । चतुर्दिक्ष्वेतस्या एव चर्चा प्रवर्तिताऽनया व्यवस्थ- याऽतिदूना अपि प्रजा वीरमत्याः साध्वसेन तद्विरोधकरणेऽशक्ता अभूवन्, अतः सा निर्विघ्नतया राज्यशासनं कर्तुं लग्ना । तेनातिग- र्वितायास्तस्याः शासनं महान्तोऽपि स्वीकर्तुं लग्नाः, कियद्दिने गते तु प्रजासु चन्द्रस्य नामोच्चारणमपि यमामन्त्रणमिव जातम्। एनां राज्ञ्युक्तिं स्वीकुर्वन् सचिवोऽपि तत्तुष्ट्यर्थं चन्द्रस्य नामोच्चा- रणमत्याक्षीत् । अथैकदा वीरमतीं प्रति तेनोक्तम्- राज्ञि ! तव शासनपद्धतिरत्युत्तमा, यतः शासनकार्ये त्वियत्साफल्यं राज्ञाऽपि न लब्धं, अत्र राज्ये स्तेनस्य नामाऽपि न श्रूयते, विरोधिनोऽपि सत्त्वाः परस्परं सानुकूला इव वर्तन्ते । तव कृतां चर्ममुद्रामपि जना मुदाऽङ्गीकर्तुमर्हन्ति, त्रैकालिकानामपि राज्ञामीदृशी व्यवस्था न दृष्टा न च श्रुताऽस्ति । स्त्रीजातौ सत्यामपि त्वयि काऽपि न्यूनता न दरीदृश्यते यतो वसुधाऽपि स्त्रीजात्यन्तर्गतैवाऽस्ति । महोन्नतशिरसो महान्तोऽपि त्वां नमन्ति, तस्मात्त्वं पुण्यशालिषु राजवर्गेषु सर्वेषु धन्यतमाऽसि । किमधिकं तदुक्तं च -

त्वत्कीर्तिः कापि गङ्गाखिलमलनिचयं नाशयन्ती गभीरं,
क्षीराब्धिं त्वत्प्रतापज्वलनकरगणैः शोषितं पूरयन्ती ।
भूलोकस्याऽन्तरालस्फुरदतुलमहादुःखपापौघपङ्कं,
भूयः प्रक्षालयन्ती त्रिजगति महिता सौख्यमाविष्करोति॥४५॥

मन्त्रिणोऽनेन तोषकवचनेन मनसि सुप्रसन्नया स्वदूषणेनाऽलज्जितया मन्त्रिणः पृष्ठं प्रोञ्छन्त्या तयोक्तम्- मन्त्रिन् ! तव स्तुतिसेवया प्रसन्नाऽस्मि, यदि कदाचिन्मम योग्यं कार्यं निवेदयिष्यसि, तदाऽहं तत्सम्पादयिष्यामि । तदुक्तिमाकर्णयता तेन स्वान्ते ध्यातम्- अहो ! भाग्येनैतत्संभवति यत्सिंही प्रतीहारीत्वं व्रजेत्, तदानीमेव मन्त्रिणो दृष्टिः कुक्कुटपिञ्जरोपरि पतिता । तेन वीरमती पृष्टा- राज्ञि ! त्वयेदं किं कृतं ? अयं कश्चिद्देवस्तु नाऽस्ति, वशीकृतो य इत्थं पिञ्जरे रक्षितोऽस्ति ? तयोक्तम्- नाऽयं कश्चिद्देवः, अयं तु वध्वा मनोरञ्जनाय क्रीतोऽस्ति, अतिकष्टमनुभवन्तमेनं दृष्ट्वा दययाऽयं लातोऽस्ति ।

यदुक्तम्-

न सा दीक्षा न सा भिक्षा, न तद्दानं न तत्तपः ।
न तद्ध्यानं न तन्मौनं, दया यत्र न विद्यते ॥४६॥

अपि च -

पठितं श्रुतं च शास्त्रं, गुरुपरिचरणं गुरु तपश्चरणम् ।
घनगर्जितमिव विपुलं, विफलं सकलं दयाविकलम् ॥४७॥

यावदत्राऽस्याऽन्नजलयोगो भविष्यति तावदत्स्यति, अस्य भुक्तं निष्फलं न भवति, यतोऽयं मामीश्वराराधनाय प्रातः स्वकलरवेण सत्वरमुत्थापयति । मन्त्रिणोक्तम्- भवत्याः कथनं सत्यं परं क्रीतवन्न लक्ष्यते, यतोऽस्य व्ययो बहिकायां लिखितो नाऽस्ति । तवाऽऽयव्ययवार्ता मत्तो गुप्ता नो विद्यते । तदा वीरमत्या किञ्चित् कर्कशवचसा प्रोक्तम्- मन्त्रिन् ! अल्पवार्तार्थं भूयो भूयः प्रश्नः

कथं क्रियते ? मया त्वयमाभूषणं मन्यमानया क्रीतः, अतोऽस्याल्प-व्ययो न लिखितः । इयं ते वार्ता मे न रोचतेऽतो विचार्य वक्तव्यम्, यद्यत्र विषये पुनरपि प्रक्ष्यते, तदा भवतोऽप्यवस्था ताम्रचूडवदेव भविष्यति । तच्छ्रुत्वा मौनमालम्बितस्य मन्त्रिणो मुखादेकस्यापि शब्दस्योच्चारणसाहसं नाऽतिष्ठत्तदा तेन दृष्टम्- मन्दिरे समुप-विष्टा गुणावली रोदितीति, तदा वक्तुमप्यसमर्था सा करतललि-खिताक्षरं दर्शयित्वाऽयमेव चन्द्र इति तं सूचितवती, सद्यो ज्ञात-वृत्तोऽपि मन्त्री वीरमतीमकथयित्वैव ततो निःसृत्य तूष्णीं स्वगृह-माययौ । ततः शनैः शनैरियं वार्ता परितः प्रसृता, यद्राज्यलोभे पतितया वीरमत्या चन्द्रस्ताम्रचूडो विहितः, परं तद्भयेन नष्टसाहसैः सर्वैः किमपि तां वक्तुं श्रोतुं न शेके । तस्या अद्‌भुतविद्यायाः प्रशंसा-श्रवणेन भूपालैरपि तद्वश्यताऽङ्गीचक्रे । तदानीं तद्भीताः सर्वे तत्कृपापात्रतयैव स्वकल्याणं विविदुः, परं सदसद्वार्ताया द्रुतं प्रसिद्धिर्भवत्येव । बहुशः पराजितेन हिमालयस्य हेमरथराजेन सह चन्द्रस्य पुरातनं शात्रवमासीत् । अतोऽमुमवसरमुपयुक्तं मन्वानो मनसि वैरमावहन् स तत्प्रतिक्रियायाश्चिकीरासीत् । वीरमत्या विद्यायाः प्रभावं जानन्नपि तद्वृत्तं कपोलकल्पितमिव ज्ञात्वा स एवैकस्तादृश आसीत्, यस्तद्भयमगणयन् मनस्येव तद्राज्यग्रहणाय युद्धोद्योगं कर्तुं लग्नः ।

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्य
पञ्चदशपरिच्छेदे
आभापुर्यां हेमरथनृपस्याऽऽक्रमणम्-

राज्ञा हेमरथेन तां साधारणस्त्रीं जानता राज्यमात्मसाद्विधातुं युद्धोद्योगे परिपूर्णे वीरमत्याः पार्श्वे स्वदूतेनैकं पत्रं प्रेषितम्, यस्मिन् धृष्टवचनेन सार्धं युद्धसूचना दत्ताऽऽसीत् । यथासमयं वीरमत्याः सदस्युपस्थितेन दूतेन तत्पत्रं तस्यै दत्तं, पत्रं पठन्त्या क्रोधारुण-लोचनया कोपाग्निना दन्दह्यमानया तया सकोपाटोपमूचे- हे दूत! तव स्वामिना मद्राज्यग्रहणाय स्वस्याऽऽगमनं लिखितमस्ति, परं तत्र गत्वा तस्मा इदं वक्तव्यम्- तया त्वं सत्वरमाकारितोऽसि। यदि त्वं नरंमन्योऽसि राज्ञ्युदरात्ते जन्म भवेत्, सत्यमातुः स्तन्यं पीतं, अपि च स्वात्मानं क्षात्रं मन्यसे तदा साम्प्रतं क्षणमपि विलम्बमकृत्वैव द्रुतमागच्छ । यतः सत्क्षत्रिया इत्थमेवाभिलषन्ति- यथा-

सत्क्षत्रियास्ते किल सर्वकाले, ये योद्धुमात्मानमहर्निशं वै ।
समुत्सृजन्तश्च सुराङ्गनाया आश्लेषसौख्यं स्पृहयन्ति नान्यत्॥४८॥

अतोऽत्राऽऽगत्य त्वया स्वशौर्यं दर्शनीयम् । यदेतः परा-जित्य नीचवद् गन्तुमभवत्तदा तस्य स्थितिः कीदृशी जाता ? अनेनाऽनुमन्यते, यत्तेन पूर्वं दिनं विस्मृतमस्ति परं न मया विस्मृतम्। तेनाऽहं न दृष्टाऽत आभापूरी-राज्यग्रहणं सुलभं ज्ञायते, परं यदाऽत्राऽऽगमिष्यत्तदा तस्य ज्ञातोऽभविष्यत् । आभाराज्यमिच्छ-

तस्तस्य नूनमेव हिमालयराज्यं ग्रहीष्यामि । पतङ्गस्य मरणसमय एव पक्षोद्भवो भवति, तेन तं काल एव प्रेरयन्नस्तीति मन्ये । एवं कटूक्तं श्रावयन्त्या तया प्रेषितेन दूतेन निखिलं तद्वृत्तं राज्ञे कथितम्, सहैव च स्वसम्मतिरपि दत्ता- इयं स्त्री वक्तुं योग्या नास्ति, परमहङ्कारिणा हेमरथेन तत्कथनमगणयित्वाऽऽक्रमणाय सामग्री सज्जीचक्रे । स्रागेव रथाश्वकुञ्जरेण समं महतीं सेनामादा-याऽऽभानगरीं निकषा स्थितेन तेन मनसि विचारितम्-अस्या एकस्या योषितो हस्तादाभाराज्यग्रहणं किं दुष्करमस्ति ? इदं कार्यं तु पश्यत्स्वेव जनेषु ममाऽधीनं भविष्यति, तस्यां तादृक् सामर्थ्यमेव कुतः स्याद्येन सा मम समक्षमागत्य युद्धं कुर्यात् । एतद्विचार्य स आभापुरीं यावदतिरयेणाऽऽगतः, परं तत्राऽऽगतस्य तस्य मनोवृत्तं मनस्येव स्थितम्, प्रत्युताऽसमञ्जसे पतितः । वीरमत्यै हेमरथस्य युद्धविधानवार्ता युद्धयात्रासमयादेव मिलिताऽऽसीत्, किन्तु तया तच्चिन्ता न कृता । यदा स निकटतरमागतस्तदा तया मन्त्रिणमाकार्योक्तम्- मन्त्रिन् ! भवतेदं श्रुतं भवेत्, यद्धेमरथ आभानगर्यासन्न आगतोऽस्ति, स च सामान्यश्रेणिको राजेति तेन सह योद्धुमहं स्वयं युद्धक्षेत्रे गमनं युक्तं न मन्ये । तस्मिन् मे स्वाऽप्रतिष्ठा लक्ष्यते, ततो भवानेव सकलं सैन्यं लात्वा रणक्षेत्रे यातु, तं च परितोऽवरुध्य तद्धाष्ट्यार्य कर्कशो दण्डो दातव्यः । मयाऽऽशीर्दीयते, यद्विजयलक्ष्मीर्भवन्तमेव वरीष्यतीति भवत एकमपि रोम वक्रं न भविष्यति, भवता चिन्तालेशोऽपि न कर्तव्यः। यतः-

विनाऽप्यर्थैर्वीरः स्पृशति बहुमानोन्नतिपदं,

समायुक्तोऽप्यर्थैः परिभवपदं याति कृपणः ।
स्वभावादुद्भूतां गुणसमुदयावाप्तिविषयां,
द्युतिं सैंहीं किं श्वा धृतकनकमालोऽपि लभते ? ॥४९॥

तस्यास्तदा बलवदादेशं निशम्य राजसदो गतेन तेन समस्तं सैनिकं संमील्य वीरमत्यादेशः श्रावितः सहैव च तेनोक्तम्-राजा हेमरथ आभानगरीनिकटमागत्योपस्थितोऽस्ति, अतो वयं तेन यदि न योत्स्यामहे तदा स आभानगरीमात्मसात्करिष्यति, वयं च संकटे पतिष्यामः । किं वयमिदानीं स्वमातृभूमिरक्षां न करिष्यामहे ? किं वयमित्थमेव हस्ते हस्तं रक्षित्वोपविष्टाः स्याम? क्षत्रियत्वं कलङ्कितं कुर्याम्, नहि नहि स्वप्नेऽप्येवं न भविष्यति । यद्यस्मासु जीवत्सु सोऽध्यकरिष्यत्तदा पुनर्वयं जगति मुखं कथमद्रक्ष्याम ? अत्र विषयेऽस्माकं क्षात्रतेजोवतां वीरमत्याः किमपि नहि किन्तु स्वकुलाभिमानो द्रष्टव्यः ।

यतः-

बालस्यापि रवेः पादाः, पतन्त्युपरि भूभृताम् ।
तेजसा सह जातानां, वयः कुत्रोपयुज्यते ? ॥५०॥

यदि राजा चन्द्रस्ताम्रचूडो जातस्तेन किमभूत् ? तेन स्वसेवा छन्ना स्थातुं न शक्नोति । अस्माभिस्तु साम्प्रतं निजमातृभुवमाभानगरीमभिद्रष्टव्यं यतस्तद्रक्षाकरणं स्वकर्तव्यमस्ति । अत उत्तिष्ठन्तु मनस्विनो वीराः ! कटिबद्धा भूत्वा शत्रोर्मानमर्दनार्थं सन्नद्धा भवन्तु ।

यतः-

कामं प्रियानपि प्राणा-न्विमुञ्चन्ति मनस्विनः ।
इच्छन्ति न त्वमित्रेभ्यो, महतीमपि सत्क्रियाम् ॥५१॥

मन्त्रिण उत्साहवर्धकमदो वचो निशम्य तदानीमेव भटानां भुजाः पुस्फुरुः । ते युद्धयात्रार्थं सपद्येव सज्जा अभूवन्, एकत्रिते सकले सैन्ये मन्त्रिणा द्रागेव रणभेर्यादिना सत्रा संग्रामार्थं प्रस्थानं चक्रे । यथासमयमुभयोर्भटयोर्मेलापकं जातं, तुमुलं युद्धं प्रारेभे, यथा- पत्तिभिः पत्तयः, अश्ववारैरश्ववाराः, हस्त्यारोहैर्हस्त्यारोहाः, रथिभी रथिनो युयुधिरे । तदानीं चपलेव चपला असयो विचकासिरे, घटिकां यावद् घोरं युद्धं बभूव । कातरैः पृष्ठं दर्शयित्वा प्राणा रक्षिता, वीरैः स्वासिं शत्रुरुधिरं पाययित्वाऽन्ते वीरगतिः प्रपेदे, कृत्स्नाऽपि रणभूर्मृतसुभटेभाश्वशरीरैर्व्यानशे । राज्ञो हेमरथस्य परकीयराज्यादानस्य स्पृहा चाभीयवीराणां स्वमातृभू रक्षितव्या आसीत् । एवमेकत्र प्रलोभस्य परत्र प्रतिष्ठारक्षणस्य प्रश्नोऽजनि, परमिदं प्राचीनं शास्त्रवचनम्-यतो धर्मस्ततो जयः-
यतः-

धर्मो जगतः सारः, सर्वसुखानां प्रधानहेतुत्वात् ।
तस्योत्पत्तिर्मनुजा-त्सारं तेनैव मानुष्यम् ॥५२॥

आभीयवीराणामुद्देशो वर आसीत्, ततस्तेषूत्साहमात्राऽपि प्रचुरतराऽविद्यत, हेमरथीया सेना बहुकालं स्थातुं नाऽशकत्तस्या अनेके भटा मृता अनेके च कान्दिशीकाः सञ्जाताः । पूर्ववदत्रावसरेऽपि हेमरथस्य घोरः पराजयो जातः, प्रान्ते प्रधानाज्ञया स जीवन्नेव निगृह्य स्ववशीकृतः । इत्थं विजयवाद्यं वादयता हेमरथं

विजित्य प्रधानेन स्वशेषभटैर्नगरप्रवेशश्चक्रे । बन्दीभूतो हेमरथनृपो झटित्येव वीरमतीसमीपे समानीतस्तं पश्यन्त्या तया सभर्त्सनमूचे- हे रणवीर ! स्वबलस्य महान् गर्वस्ते क्व गतः ? सदैव नीचैर्दृष्टेन त्वयाऽऽभाग्रहणायेदृशी धृष्टता कथं कृता ? किमाभानगर्याः क्षेत्रं न दृष्टमासीत्, यदत्राऽऽगमनदुःसाहसं कृतम् ? अथवा प्रकृतिरियं दुर्जनानां यत्स्वबलाबलमविचार्य द्रुतमेव तुलावदुन्नत्य-वनती प्राप्नुवन्ति ।

स्तोकेनोन्नतिमायाति, स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।
अहो ! नु सदृशी वृत्ति-स्तुलाकोटेः खलस्य च ॥५३॥

त्वं मामबलां ज्ञात्वा मया योद्धुमागतः, परं मया सह संग्रामस्तु दूरेऽतिष्ठत्, ममाऽमात्येन पत्तिभिश्चैव त्वं पराजितः । कथय साम्प्रतं त्वं स्त्री वर्तसे वाहमस्मि ? त्वया सर्वदेदं स्मरणीयम्-यदि त्वमिभोऽसि, तर्हि केसरिणं मां जानीहि, यदि त्वं कपोतस्तदाहं श्येनोऽस्मि, यदा त्वं सर्पस्तदा नकुलोऽस्मि, चेत्त्वमाखुस्तदाहमो-तुरिति विदित्वाऽतःपरमज्ञानतोऽपि मद्राज्यसीम्नि पदारोपणं करि-ष्यसि चेत्तर्हि कदापि तन्नो सहिष्ये । भृशमपमानितस्याऽपि तेऽत्रागमने मनागपि त्रपा कथं न समायाति ? त्वं कटिप्रान्ते करवालं बध्नास्युत काष्ठक्रीडनम् ? चन्द्रेण कतिकृत्वस्ते जीवदानं दत्तमतस्तत्प्रत्युपकारायैव त्वमत्राऽऽगमः किम् ? किं सत्क्षत्रियाणा-मिदमेव कर्तव्यमस्ति ? इत्थं वीरमत्या स बहु निर्भर्त्सितः । कारागारे सर्वदार्थं जिगालयिषन्ती साऽनुचितमिति मन्वानेन मन्त्रिणोचे- राज्ञि ! शाश्वतिकशत्रुत्वापेक्षया तं निजवैरिणमपि

मित्रं विधाय रक्षणं वरमस्ति । मन्त्रिणोऽत्याग्रहं स्वीकुर्वत्यास्तस्या आदेशेन तं सद्यो बन्धनान्मुक्त्वा बहुमूल्यवस्त्रादिदानेन समतूतुषत्। तेन विगतरोषादिना हेमरथेनाऽपि तदधीनताङ्गीचक्रे सदैव च तदादेशानुसारेण चलनार्थं प्रतिज्ञाऽकारि । ततस्तुष्टया तयाऽपि तस्याऽखिलं राज्यं पुनस्तस्मै दत्तं सम्मानेन च स स्वनगरे प्रेषितः ।

यत उक्तम्-

उपकारिषु यः साधुः, साधुत्वे तस्य को गुणः ।
अपकारिषु यः साधुः, स साधुः सद्भिरुच्यते ॥५४॥

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्य षोडशपरिच्छेदे शिवमालायै चन्द्रनृपादिदानम्-

अथाऽन्यदा शिवमालाह्वया स्वपुत्र्याऽन्यैश्च पञ्चशतैर्नटैः सत्रा शिवकुमाराख्यः प्रसिद्धो नटस्तत्राऽऽभापुर्यामागतवान् । नटकर्मनिपुणैस्तैः सार्द्धं शिवकुमारेण राजसभामेत्य, वीरमतीं च प्रणम्य स्वक्रीडां दर्शयितुमाज्ञा ययाचे, तदा वीरमत्योक्तम्- हे नटराज ! किं ते नाम त्वं कुतश्च समागतोऽसि ? बद्धाञ्जलिना शिवकुमारेणोक्तम्- राजमातः ! शिवकुमारनामाहमुत्तराशातो-ऽनेकेषां राज्ञां मनोरञ्जनं कृत्वा विपुलं पुरस्कारं लभमानोऽत्रा-ऽऽगतोऽस्मि, यथाश्रुतैव भवदीयेयमाभापुरी विद्यते । इदानीं क्रीडां दर्शयितुमाज्ञापयन्तु भवत्यः, यतोऽहं भवतीं भवत्याः सभासदो जनांश्च प्रसाद्य स्वदैन्यान्मुक्तो भवितुं शक्नुयाम् । राज्ञ्या वीरमत्या शिवकुमाराय सहर्षं क्रीडां दर्शयितुमाज्ञा दत्ता । तेन हर्षितेनाऽमुना तदानीमेवाखिलेभ्यो नटेभ्यः खेलनायाऽऽदिष्टं, ततः प्राप्तादेशैस्तैर्वि-विधाः खेला दर्शयितुमारब्धास्तदा वाद्यारावं श्रुत्वा पिञ्जरं लात्वा गुणावल्यपि गवाक्षमेत्योपविष्टा । सर्वेषां नटानां खेलाया अनन्तरं शिवमालाऽपि स्वनाट्यदर्शनार्थं सन्नद्धा जाता । तदा नटैः प्रथम-मेकमत्युच्छ्रितं वंशं भूमावारोप्य स चतुर्दिक्षु तथा सम्यग्रश्मिभिर्बद्धो यथेतस्ततश्चलितुं न शक्नुयात् । अथ सादौ तद्वंशोपरि पूगीफलमेकं धृत्वा वीरमतीं राज्ञीं च प्रणम्य राज्ञश्चन्द्रस्य जयजयारावं कुर्वती

वंशोपरि चटिता । ऊर्ध्वं गता सा वंशाग्रे धृतपूगीफलस्योपरि स्वनाभिं संस्थाप्य, स्वोदरबलेन परितो वर्तुलाकारं भ्रमणं चक्रे । अधःस्था वाद्यं वादयन्तोऽनेके नटाश्च तदभिमुखं सावधानदृष्ट्या स्थिता आसन् । शिवमाला स्वदेहं कुलालचक्रवद् भ्रामं भ्रामं स्वकलाकौशलं दर्शयन्ती सकृत् तस्य पूगीफलस्योपरि कृतोर्ध्व-पादाऽसौ स्वशिरोबलेन स्थिता, अर्थात्तस्याः शिरोऽधः पादौ चोर्ध्व-मास्ताम् । यथा केचिद् हठयोगसाधकास्तपस्विनः शिरो नीचैः कृत्वा ध्यानं कुर्वन्ति तथा दृश्यं जातम् । अथ पुनरुत्प्लुत्य वाम-पादतलेन तत्पूगीफले स्थित्वा तदैकेन पादतलाश्रयेण परिभ्रम्य परिभ्रम्य लास्यं कुर्वत्यास्तस्या लास्यं सर्वे जना मुक्तकण्ठं प्रशशंसुः । चान्ते तया पञ्चरङ्गरञ्जितानि पञ्च वस्त्राण्यादाय तस्मिन् वंशे स्थितयैव परस्परं गुम्फित्वा तेषामेकं पञ्चरङ्गपुष्पं निर्मितम् । तदानीमपि तच्छरीरं मनागपीतस्ततो न चलितं, न च तया पुष्पविर-चने भ्रमः कृतः । तदद्भुतकलामिमां वीक्ष्य सर्वे दर्शका मुग्धा बभूवुः ।

यतः-

देवानामिदमामनन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषं,
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा ।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते,
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाऽप्येकं समाराधनम् ॥५५॥

स्वीयामद्भुतकलां दर्शयित्वाऽनन्तरं सा वंशबद्धरज्ज्वा-श्रयेण नागिनीवाऽधोऽवततार । नीचैरवतरितायामेव तस्यां, तज्जनकेनान्यैश्च नटैर्ग्रीवया शिवमालाग्रीवां संश्लिष्य तत्कलानै-

पुण्यार्थं पृष्ठं स्फालयद्भिस्तस्यै स्वाशीर्वादो दत्तः ।
यतः-

गुणेन स्पृहणीयः स्यान्न रूपेण युतो जनः ।
सौगन्ध्यवर्ज्यं नादेयं, पुष्पं कान्तमपि स्वयम् ॥५६॥

तदनन्तरं राज्ञ्याः सम्मुखमुपस्थिता वाद्यं वादयन्तः सर्वे नटा राज्ञश्चन्द्रस्य जयध्वनिं कृत्वा तस्याः पार्श्वात्पारितोषिकं ययाचिरे । तेषामास्याद् राज्ञश्चन्द्रस्याख्यां निशम्य देव्यै वीरमत्यै प्रचुरमरुचिकरमलगत्, यतस्तस्याः समक्षे त्वन्यः कोऽपि प्रशंसनीयो नाऽऽसीत् । अन्यश्लाघामाकर्णयन्त्या एव तस्याः पादतलादाशीर्षं वपुर्ज्वलति स्म । वराकाणां तेषां नटानां तस्या एतन्मनोवृत्तस्य ज्ञानं कुतो भवेत् ? अलब्धे पारितोषिके तस्या अपूर्णं मनोरञ्जनं मन्वानैस्तैः पुनरप्यनेकविधं नाट्यं दर्शयितुमारब्धम् । अथाऽपि पुनश्चन्द्रस्य जयरवं कुर्वाणास्ते तस्याः पार्श्वे पारितोषिकं मार्गयितुं गताः, परमस्यामपि वेलायां दृष्टिमुत्थाप्याऽपि तदभिमुखं नैवेक्षितम्। अन्याऽन्यदर्शकास्तत्कलाकौशल्येन रञ्जिता अपि तेभ्यः पारितोषिकं दातुं समुत्सुकाः सन्तोऽपि वीरमत्याः पूर्वं केषामपि साहसं नाऽभूत्। पूर्वप्रदानादसन्तुष्टा वीरमती दातॄणामपि हानिकर्त्री भविष्यतीति सर्वे विदितवन्त आसन् ।

राजा चन्द्रो यद्यपि कुक्कुटरूपी तथापि तस्मिन् सर्ववृत्तान्तस्याऽवगमशक्तिर्विद्यमानाऽऽसीदिति स स्वमनसि ध्यातवान्- एते नर्तका मम जयशब्दं कीर्तयन्तः सन्तीति मदोन्मत्ता मयीर्ष्यालुर्निखिलबलाभिमानवती वीरमती तेभ्यः पारितोषिकं न दत्ते ।
यतः-

विलसति मदप्रवाहे, वहन्ति मालिन्यमानने करिणः ।
दानप्रवृत्तिसमये, निर्मलमुखवृत्तयो विरलाः ॥५७॥

परमेतेन समस्तदेशेषु बहुलमयशः प्रसरिष्यति, एतेभ्यः किञ्चिद्दत्ते सर्वत्र श्लाघिष्यन्ते, चादत्ते पदे पदे निन्दिष्यन्ति, तस्मादेभ्योऽवश्यमेव किञ्चिद्वितरणीयमिति विचार्य तेन चरणायुधेन पिञ्जरस्था रत्नजटिता स्वर्णकंसी चञ्च्वाऽधः पातिता ।

उक्तञ्च-

वार्नाथोऽपि किलोत्ससर्ज मथितो रत्नानि रत्नाकरो,
मन्थानेन विलोडितं वितरति स्नेहं दधि स्वाद्वपि ।
भद्रोऽपि द्विरदश्च मौक्तिकमणीन् कुम्भस्थलादाहतो,
दत्ते सत्पुरुषास्तु केऽपि कमलां स्थाने व्ययन्ति स्वयम् ॥५८॥

तां दृष्ट्वैव शिवकुमारेण द्रागेवोत्थाप्य तत्कृते च राज्ञश्चन्द्रस्य जयरवं कर्तुमारेभे । मार्दङ्गिकैरपि तदनुकृतिं कुर्वद्भी राज्ञश्चन्द्रस्य जयध्वनिश्चक्रे । केनेदं दानं दत्तमिति जिज्ञासमानैर्दर्शकैस्तदवगमार्थं बहु चेष्टितम् । दत्तेष्वन्येषु वयमपि ददेमहि, इतीच्छद्भिस्तैर्मिलितायां कंस्यां सत्यां हृदयोल्लासेन मुक्तहस्तैर्दानं दत्तं यथा- केनचिद् रूप्यकम्, परेण वस्त्राणि, तथाऽपरेण भूषणानि दत्तानि तेन शिवकुमारो मुमुदेतमां वीरमती च क्रोधाग्निनातीव जज्वाल । शिवकुमारश्चन्द्रराजस्य यशो गायन् वीरमत्या गमनादेशं प्राप्य सपरिच्छदः स्वनिवेशस्थानमाजगाम । गते नटे सा क्रोधज्वालामुखिगिरिरिव विशीर्णा-विदीर्णाऽभूत्तया रुषाऽरुणं लोचनं विस्फार्योचे-क एतादृशो धनवानस्ति, येन मत्तोऽपि प्रथमं पारितोषिकदानस्य दुःसाहसं कृतम् ? स्तोकं मयाऽपि दृष्टो

भवेत्तदा साधु स्यात् । परं तस्य महद् भाग्यं विज्ञायते, येन मया नो दृष्टः । एवं तत्कथनसमये राज्ञश्चन्द्रस्य पञ्जरं वीरमतीपार्श्वे एव धृतमासीत्परमेतावत्कालं यावदनेन चरणायुधेनैव प्रथमं पारितोषिकं दत्तमिति तस्या विदितं नाभूत् । यदि कथञ्चिदपि विदितं भवेत्तदाऽद्य कुक्कुटचन्द्रं जीवन्तं न त्यजेत् । एवं तामतीव क्रुद्धां विलोक्य शान्तिमिच्छुना मन्त्रिणोक्तम्- मातः ! भवत्याः क्रोधकारणं किमपि नाऽस्ति, यतः सर्वतः प्रथमं पारितोषिकं भवदनुगैर्ददद्भिर्भवत्या एव यशो वर्द्धितम् । यो वीरो भवति, स युद्धक्षेत्रे राज्ञः समक्ष एव स्वशौर्यं दर्शयति तथैव दातारोऽपि भवन्ति ते स्वामियशःकीर्तनं श्रुत्वा तदानीं किञ्चिददत्त्वा नैव तिष्ठन्ति । यैर्नटेभ्योऽद्य दानं दत्तं ते भवत्पुत्रा एव सन्ति, न तु भवत्याः परिपन्थिनः । मातुः पार्श्वे तेषामेतत्कार्यं सर्वथा योग्यमेव गणनीयम् ।

यतः-

माता मित्रं पिता चेति, स्वभावात् त्रितयं हितम् ।
कार्यकारणतश्चाऽन्ये, भवन्ति हितबुद्धयः ॥५९॥

इत्थं तेन सा भृशं प्रतिबोधिता, परं तत्प्रतिबोधस्य किमपि फलं न जातमतस्तस्या रोषो वर्धमान एवाऽतिष्ठत् ।

यतः-

अपूर्वः कोऽपि कोपाग्निः, सज्जनस्य खलस्य च ।
एकस्य शाम्यति स्नेहा-द्वर्द्धतेऽन्यस्य वारितः ॥६०॥

तदनन्तरं सभां विसृज्य राजमन्दिरं गतायाः सुखशय्याश्रितायास्तस्या रुषा निद्रालेशोऽपि नाऽऽयातः । सा तु तदेव शोचन्त्यासीत्, यन्मत्तः पूर्वं दानार्पणस्य साहसं केन कृतम् ?

सा तं शोधयितुं विविधां युक्तिं विचिन्तयितुं लग्ना । इत्थं प्रभाते जाते सुमतिहीना सा राजसभामागत्य स्नागेव शिवकुमारं नटमाकार्य पुनर्नाट्यं दर्शयितुमाज्ञां ददौ । तेनानन्दाब्धौ निमग्नः सोऽप्यन्य नटानाहूय सुसज्जयित्वा नानाविधं सक्रीडं भरतादिनाटकं विधातुमादिदेश तेऽपि तथैव चक्रुः । तदा गुणावल्यपि क्रोडे कुक्कुटपिञ्जरं धृत्वा गवाक्षेण सम्यग् नाट्यं पश्यन्त्यासीत् । समाप्ते नाट्ये पूर्ववत्स नटो राज्ञश्चन्द्रस्य श्लोकं गायं गायं वीरमत्याः पार्श्वे पारितोषिकं मार्गयितुं लग्नः, परं तया तु तन्नामश्रवणेनैव दग्धीभूतया न तु नटस्य श्लाघा कृता, न च तस्मै पारितोषिकमपि दत्तम् । अदत्ते तया पारितोषिकेऽन्येऽपि दर्शकाः प्रदानसमर्था न बभूवुः। सर्वे मनस्येवं विचारयन्तस्तदाऽऽसन्-यद् वीरमत्यद्यैवं विपरीतं कथं करोति ? परं कोऽपि वृत्तान्तस्तेषां ज्ञानगोचरे नाऽऽगतः । शिवकुमारेण परित आशाभृद्दृष्टिः पातिता, किन्तु चन्द्रं विना तस्य सकलाऽपि परिषद्विना लवणं भोजनमिव, करीन्द्रं विना सैन्यमिव, पत्रं विना लतेव निःशोभा प्रतीताभूत् । इतः पिञ्जरान्तःस्थो राजा चन्द्रो नटस्येमामवस्थां विलोकयन्नासीत्, नटश्चाऽसकृत्तस्य नाम ग्राहं ग्राहं जयशब्दोच्चारणमकरोत् । अतोऽस्थिरमनसा चन्द्रेण ह्यस्तनवदद्यापि रत्नजटितैका कंसी पिञ्जराभ्यन्तरतो बहिर्निःसार्य पातिता । लक्षमूल्यमिता सा कच्चोलिका शिवकुमारेणोर्ध्वादूर्ध्वमेव लात्वा राज्ञश्चन्द्रस्य बहुतरं यशो गीतम् । एतदवलोकमानैरन्यैर्दर्शकैरपि मङ्क्षु रूप्यकवस्त्राभूषणानां वृष्टिरारब्धा, तदा शिवकुमारः स्वपरिश्रमस्य समुचितं विश्राणनं प्राप्य धन्यंमन्यो जातः । परमेतदसहमाना वीरमती चन्द्रस्य धृष्टतार्थं क्रोधमनवरुध्य

द्रागेव खड्गं करे कृत्वोपगुणावलि गत्वा चरणायुधं सम्बोध्याऽचकथत्- रे दुष्ट ! इदानीमपि ते त्रपा नाऽऽयाति ? त्वया मत्तः पूर्वं दानं कथं दत्तम् ? कुक्कुटो भूत्वाऽपि त्वं नैजं धाष्र्यं न जहासि ? अस्तु, लाहि सम्प्रति तत्फलं स्वादयामि । अधुनाऽहं त्वां कथमपि जीवितं नैव त्यक्ष्यामीत्युक्त्वा तया कुक्कुटरूपं चन्द्रं द्विखण्डं कर्तुमसिरुत्थापितः, परं तावन्मध्ये पतित्वा गुणावल्या झटित्येव तस्याः करो गृहीतः, कृताञ्जलिश्चोचे- मातः ! इत्थं रोषं मा कुरुष्व, अस्य दानादिप्रदानप्रज्ञा कुतो विद्येत ? खगोऽमूं वार्तां किं जानीयात् ? जलं पिबति पिबति कंस्यधः पतिता, नटेन चोत्थापिता, तस्मादत्राऽस्य कोऽपराधोऽस्ति ? पक्षिषु तु विवेकबुद्धेरभाव एव भवति, अतः पक्षिषु मन्युकरणमसाम्प्रतम् ।

यतः-

नाऽकारणरुषां संख्या, संख्याताः कारणक्रुधः ।
कारणेऽपि न क्रुध्यन्ति, ये ते जगति पञ्चषाः ॥६१॥

अयं तु कथञ्चित्स्वोदरं पिपर्त्येतदेव बहु मन्तव्यम् । इत्थं गुणावलीवीरमत्योः परस्परं वार्तालापं निशम्य तत्र बहवो जनाः समुपस्थिताः, तैर्मध्ये पतित्वा च कथञ्चिद्राज्ञश्चन्द्रस्य जीवितं रक्षितम् । विवादकरणेन वीरमत्याः स्तोककोपोपशमोऽभूत्, सा च राजपर्षदि समेत्य सिंहासनमधितस्थौ । नटानामपि तदागमेन प्रमोदोऽजनि, ते च तां प्रसादयितुं पुनः स्वक्रीडनमारेभिरे । शिवमालाऽपि वंशे चटित्वा पिञ्जरोपरि दृष्टिं ददती स्वक्रीडां प्रदर्शयितुं लग्ना । नटी शिवमाला खगभाषां जानातीति वार्ता चन्द्रस्य विदिताऽऽसीत्, अतस्तेन कुक्कुटालापेन तां प्रत्युक्तम्-

शिवमाले ! स्वकलायामतिनिपुणा त्वं सहैव पक्षिभाषामप्यवगच्छसि, अतोऽहं त्वां स्वगुप्तवृत्तान्तं कथयामि-क्रीडनानन्तरं यदा त्वं वंशादधोऽवतरिष्यसि, तदा वीरमती प्रसन्नीभूय त्वां पुरस्कारमार्गणार्थं कथयिष्यति, तदानीमन्यत्किञ्चिदयाचित्वा त्वं मामेव याचेथाः । द्रव्यादेर्लोभे न पतेरिति साञ्जलिरहं त्वां प्रार्थयामि, यदियन्मे कथनमवश्यं त्वया मान्यं, तवानेन कार्येण मम प्राणरक्षा भविष्यतीत्यत्र कथमपि विस्मृतिर्न विधातव्या ।

उक्तमपि-

परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः, परोपकाराय वहन्ति नद्यः ।
परोपकाराय दुहन्ति गावः, परोपकारार्थमिदं शरीरम् ॥६२॥

एतदर्थमहं ते यावज्जीवमुपकृतिं मंस्ये, धनं त्वावां यावदेष्यावस्तावदर्जिष्यावः । तव पार्श्वागतेऽहं ते नैजमखिलं वृत्तान्तं वक्ष्यामि । कृकवाकोरेतत्समस्तं कथनमनायासेन शिवमालाऽबोधीति खेलनान्ते तया स्वपितरं प्रति रहसि निखिलं कुक्कुटोक्तमूचे । सहैव तयाऽनुरोधः कृतो यद् वीरमत्या अयं ताम्रचूडोऽवश्यं केनाऽपि प्रकारेण याचनीयः । शिवकुमारेण स्वदुहितुरियमभ्यर्थना सहर्षं स्वीकृता, वीरमत्याश्च जयारावे कृते यदा तया पुरस्कारमार्गणायोक्तं, तदा स तमेव ताम्रचूडं मार्गयन् वक्तुं लग्नः-राजमातः ! यदि भवती प्रसन्नाऽस्ति, तर्हि मेऽस्य कुक्कुटस्य प्रदानाय दयालुर्भव, अन्येन वस्तुना मे किमपि प्रयोजनं नाऽस्ति। यतो मे तनया साम्प्रतमस्यैव गतिं शिक्षते, तत उत्तमं कुक्कुटं विना तस्या मनोरथपूर्तिर्न भवतीति कृपयाऽयं चरणायुधो मेऽवश्यं दीयताम् । भवत्या स्वकृतेऽन्यं क्रीत्वा पालनीयः, मातः ! तव

कृपातो मे द्रव्यादेरभावो नाऽस्ति, तथापि यदि मम धनस्यावश्यकताऽभविष्यत्तदा राजान्तरादयाचिष्ये, परं भवत्या त्वयमेव कृकवाकुर्दीयताम् । तदाकर्ण्य वीरमत्योक्तम्-शिवकुमार ! किमिदं त्वं याचसे, त्वया तु हस्त्यश्वधनधान्यवस्त्राभूषणानि याचितव्यानि, येषु दत्तेषु ममाऽपि यशोवृद्धिः स्यात् । एकस्य कुक्कुटस्य प्रदानेन मे कीर्तिर्भवितुं नाऽर्हति, अद्य यावन्मया कस्याऽपि कुक्कुटस्य पारितोषिके प्रदानं न दृष्टं न च श्रुतम् । पुनरयं तु वध्वा मनोरञ्जनाय मया पालितोऽस्ति, ततो दत्तेऽस्मिन् तस्या मनः खिन्नं भविष्यति, अतस्त्वमन्यद्वस्तु याचस्व, यत्ते सहर्षं दातव्यं भवेत् यस्मिंश्च वितीर्णे ममाऽपकीर्तिरपि न भवेत् । ततः शिवकुमारेणोक्तं-मह्यं कुक्कुटार्पणेन जात्वपि श्रीमत्या अयशो न भवितुमर्हति, यतो मया मार्गितमेव भवत्या दीयते । अनेनायं भवत्याः प्रेमाऽऽस्पदमिति ज्ञायते, ततोऽस्य प्रदानं श्रीमत्यै न रोचते, अत एवेत्थं भवत्या वाक्प्रपञ्चः क्रियते । परं यदि श्रीमत्येकं कुक्कुटमपि दातुं नाऽर्हति, तदाऽन्यद् बहुमूल्यं वस्तु मार्ग्यमाणमपि कथं दातुं शक्नुयात् ? शिवकुमारोदितामिमां वाचमाकर्ण्य तया बहुबोधितोऽपि स यदा स्वाग्रहं नाऽमुचत्तदा तत्प्रार्थनामवधार्य कुक्कुटमानेतुं धीसखो गुणावलीपार्श्वे प्रेषितः । तेन तत्र गत्वा गुणावल्यै सर्वोदन्तो निगदितः, सहैव सा बोधिताऽपि यदस्य कुक्कुटस्याऽत्र रक्षणाऽपेक्षाया नटसात्करणमेव वरमस्ति, यतोऽत्र वीरमती सदैव तत्प्राणापहाराय सज्जिता तिष्ठति । तस्मै दत्तेऽस्य प्राणरक्षा सम्यग् भविष्यति चाऽमुं स स्वप्राणेभ्योऽप्यधिकं रक्षिष्यति, अतस्तद्दानाऽनङ्गीकरणं नैव वरमिति मे सम्मतिः ।

तदा तन्निशम्य गुणावल्योक्तम्- मन्त्रिन् ! तव कथनमदः सत्यं, परमहमेनं कथं दातुं शक्नोमि ? वीरमती त्वनेन साकं परं शात्रवं भजते, अतः साऽस्य निरन्तरमनिष्टचिन्तनमेव करोति, परं मत्कृते त्वयमेव सर्वस्वं विद्यतेऽहं त्वमुमेव रक्षित्वा जीवामि । अयमेव मम जीवनं धनं प्राणाधारश्च वरीवर्तीत्येनं विना सानन्दं निजसमयं गमयितुं कथमहं शक्ता भवितुमर्हामि ? ।

यतः-

पङ्गुमन्धं च कुब्जं च, कुष्ठाङ्गं व्याधिपीडितम् ।
आपत्सु च गतं नाथं, न त्यजेत्सा महासती ॥६३॥

तस्माद् भवानिममदत्त्वाऽन्यद् वस्तु याचनार्थं नटं बोधयतु। पुनरस्माकमेतदपि विचारणीयं यन्महाराजोऽस्माभिरेकशः, कृकवाकुर्विहितः । साम्प्रतं वयं भरताय दत्त्वा प्रतिगृहं तेन किं नर्तनं कारयिष्यामः ? अयं यावन्मे समक्षे तिष्ठति, तावन्मे मनः सानन्दं कालं गमयति, अतोऽधुनैनं नेत्रदूरवर्तिनं न करिष्यामि । अस्मिन्नापद्यपि समागतायां वीरमत्यै किम् ? सा त्वधिकं हसिष्यति, परं मे हृदयं विदीर्णं भविष्यति । अतो दयां विधाय मम जीवनाऽवलम्बनमिमं मा हरतु । गुणावल्याः सगद्गदमदो वचो निशम्य मन्त्रिणोऽपि चक्षुरम्बुपूर्णमभूत्, परं वीरमत्या आदेशसमक्षे सोऽप्यशक्त आसीत् । तेन पुनरपि प्रतिबोधिताया गुणावल्या अपि चित्तेऽदो वचनं प्रियमलगत्, यदयं ताम्रचूडोऽत्रत्यापेक्षया नट्याः पार्श्वेऽधिकः सुरक्षितः स्थास्यति, अतोऽमात्यकथनं स्वीकृत्य मन्त्रिणे कुक्कुटं दातुं प्रावर्तत ।

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्य सप्तदशपरिच्छेदे

वीरमत्याः कुक्कुटमुक्तिः-

गुणावली मन्त्रिणे कुक्कुटं दातुं समुत्सुका त्वभूत्परं तत्प्रदानकाले तद्धृदयं शतधा विदीर्णमिवाभवत्तल्लोचनतो बाष्पधारा निर्गलिताऽऽसीत् । सा तं मुहुर्मुहुः कण्ठेनाऽऽश्लिषन्ती वक्तुं लग्ना- नाथ ! भवान् मां त्यक्त्वा दूरदेशं प्रति गच्छन्नस्ति । अत्र भवतोऽपि सम्मतिर्ज्ञायते, परमहं तु सत्यपि नाथे निर्नाथा भवन्त्यस्मि । इदानीं मम कोऽप्याधारो नाऽस्थात्साम्प्रतमहं स्वदुःखं कस्याऽग्रे निवेदयिष्यामि ? । यतः-

सुहृदि निरन्तरचित्ते, गुणवति भृत्ये प्रियासु नारीषु ।
स्वामिनि सौहृदयुक्ते, निवेद्य दुःखं सुखीभवति ॥६४॥

स्वमनोवृत्तान्तं कस्मै कथयिष्यामि ? अहं भवन्तं कदाचिदपि नटाय न ददेयं, स्वप्नेऽपि भवद्दानमनिच्छन्त्या मे भवज्जीवनरक्षार्थमेतत्करणमभूत् । हे नाथ ! भवान् यत्र कुत्राऽपि तिष्ठतु, परं मां कदापि नो विस्मरेः, मयि दया रक्षणीया, मम हतभाग्यायाश्चिन्ता रक्षितव्या । यदि मया कोऽप्यपराधः कृतो भवेत्तदा स विस्मरणीयः, अहं तु भवन्तं क्षणमात्रमपि हृदयान्न दूरीकरिष्यामि, सदैव स्वमनोमन्दिरे संस्थाप्य भवन्तं पूजयिष्यामि स्मरिष्यामि च । भवताऽपीयं दासी न विस्मर्तव्या, अनन्ताशाभृतं मे मन इदानीं दैवेन मृत्तिकायां संमेलितमस्ति । मदीयाऽत्र शिष्टाऽप्याशाद्य भवद्वियोगेन नैराश्य-

रूपेण परिणता भवति । नाथ ! पुनरावयोर्मिलनं कदा भविष्यति तद्दिनं धन्यमेव मन्ये ।

यतः-

नित्यं ब्रह्म यथा स्मरन्ति मुनयो हंसा यथा मानसं,
यद्वच्च स्फुटसल्लकीयनयुतां ध्यायन्ति रेवां गजाः ।
तद्वद्दर्शनलालसाः प्रतिदिनं युष्मान्स्मरामो वयं,
धन्यः कोऽपि स वासरोऽत्र भविता यत्राऽऽवयोः संगमः ॥६५॥

स्वामिन् ! मनाक् स्वीयमिमामभागिनीं पत्नीमभिपश्यतु, ममान्तःकरणं भवद्विरहानलेन भस्मीभवति । मुसलधारासम्पातेऽप्यस्य ज्वलनस्य शान्तिकरी शक्तिर्न विद्यते । प्राणाधार ! दैवेनातिक्रूरेणाऽऽवयोरुपरि महान् दुःखाद्रिः पातितः परं तस्यामप्यवस्थायामहं भवद्दर्शनं कृत्वा स्वां धन्यां ज्ञातवत्यासम् । परं दैवेनाऽधुनेयदपि सुखं द्रष्टुं नाऽसह्यत । यदि हृदयं विदार्य दर्शयितव्यं भवेत्तदाऽहं भवन्तं स्वदुःखं दर्शयेयम् । अरावप्येतद्दुःखं न पतेदिति मे सर्वदेच्छा विद्यते । नाथ ! भवदीया वार्ता सदैव मे स्मृतिपथमागमिष्यति भवता शीघ्रमेव कृपया परावर्तितव्यं भवानेव मम जीवनमस्ति । ममेमे साश्रुनेत्रे सततं भावत्कं मार्गं पश्यन्ती स्थास्यतः । भवन्तं नटः प्रतिगृहं भ्रामयिष्यत्यस्य वृत्तस्य मे महत्कष्टं वरीवृत्यते । परमत्र रक्षणे भवत्प्राणसम्बन्धि महद् भयमासीत्, अतो हे प्राणाधार ! विवशीभूयाऽद्याऽहं भवन्तं स्वतः पृथक् कुर्वत्यस्मि । तस्या एतद्वचो निशम्य राज्ञश्चन्द्रस्य चक्षुषी साऽश्रुणी संजज्ञाते । तस्मिन् मानववद्वक्तुं वचनशक्तिर्नाऽऽसीत्, कुक्कुटवचश्च गुणावली समवगन्तुमशक्तेति तेन पादनखेनाऽवनौ

लिखित्वा सा प्रतिबोधिता- प्रिये ! त्वया मे चिन्ता न कार्या । जीवति मयि आवयोः कदाचिदपि संगमोऽवश्यं भावी, दूरस्थेऽपि मयि तवाहं समीपस्थ एवेति त्वया ज्ञातव्यः ।

यतः-

दूरस्थोऽपि न दूरस्थो यो वै मनसि वर्त्तते ।
हृदयादथ निष्क्रान्तः, समीपस्थोऽपि दूरगः ॥६६॥

यावत्ते मानसे मदर्थं स्थानं वर्त्स्यति, तावत्त्वां न विस्मरिष्यामि, देशे विदेशे वा स्थितेन केनाऽपि स्वकीया प्रियतमा न विस्मर्यते ।

यतः-

क्व सरसि वनखण्डं पङ्कजानां क्व सूर्यः,
क्व च कुमुदवनानां कौमुदीबन्धुरेषः ? ।
चिरपरिचयबद्धा प्रायशः सज्जनानां,
न हि विचलति मैत्री दूरतोऽपि स्थितानाम् ॥६७॥

अस्ति मे विश्वासो यदयं नटो मां कुक्कुटतः पुनर्मनुष्यं करिष्यति, अतोऽहमनेन साकं व्रजन्नस्मि । यदि मदीयेयमाशा सफलीभूता स्यात्तदा सत्वरमेव विदेशादागत्य त्वां मिलिष्यामि । राज्ञा चन्द्रेण भूमौ लिखितामिमां वार्तां पठित्वा गुणावल्याश्चित्तं किञ्चिच्छान्तं जातम् । तया पुनः कुक्कुटं हृदयेनाऽऽश्लिष्य मन्त्रिणो हस्ते दत्तः । तदनन्तरं मन्त्रिणाऽऽनीतः कुक्कुटो वीरमत्या तदानीमेव शिवकुमारायार्पितः । सोऽपि तं प्राप्य हृष्टः सन् वीरमतीं प्रणम्य स्ववासस्थाने समागतः । कुक्कुटमवाप्य शिवमा-

लाया हृदि प्रमोदभरोऽभूत्तया पूर्वमेव विदितं यदयं कुक्कुटोऽन्यः कश्चिन्न, अपि तु राजा चन्द्र एव विद्यते, अतस्तया परमादरेणैकस्यां महार्घशय्यायां सपञ्जरस्ताम्रचूडः स्थापितः । ततस्तया तज्जनकेन च करौ संयोज्योचाते- स्वामिन् ! अद्यावधि निर्नाथा वयं भवन्तं प्राप्य सनाथाः संजाताः, अद्यप्रभृति वयं भवन्तं राजानं मत्वा भवत्सेवां करिष्यामः । प्राक्तनश्रेयसाऽस्माकं भवत्प्राप्तिर्जाता, अतःपरं वयं भवतोऽभिवादनमृते केभ्योऽपि नृत्यखेलनादिकं न दर्शयिष्यामः । भवानत्र सुखेन तिष्ठतु, स्वसेवार्थं चाऽस्मानादिशतु वयं भवत एव दीनसेवकाः स्मः । एवमुक्त्वा तैस्तदग्रे विविधां सुखभक्षिकां विमुच्य तद्भक्षणाय तस्याऽनुरोधः कृतः । कुक्कुटराजोऽपि तत्कथनेन तां सुखभक्षिकां भक्षयितुं लग्नः, परं तदैव गुणावल्याः स्मरणेन समागतेन तस्य गलाऽवरोधेन सा सुखभक्षिका कण्ठादधो नोत्ततार । तदवलोक्य शिवमालयोक्तम्- हे कुक्कुटराज! भवता कापि चिन्ता न कार्या, सानन्दं सुखभक्षिकां मिष्टान्नञ्च भुङ्क्तां, कालान्तरेण समस्तं सम्यगेव भविष्यति । तन्निशम्य स किञ्चिच्छान्तोऽभूत्ततः स तत्पार्श्वे स्थितः सन् स्वकालं गमयाञ्चकार।

इतः सभाविसर्जनानन्तरं मन्त्री गुणावलीसन्निधावागतः, सैतावत्कालमुपविष्टा क्रन्दन्त्यासीत्तया सचिवं पश्यन्त्यैवोचे- सचिव ! वीरमतीं राज्ञीं नटं वा प्रबोध्य केनचिदुपायेन मे कुक्कुटं पश्चाल्लात्वा देहि, तद्वियोगो मेऽसह्यो बोभूयते ।

यतः-

वरमसौ दिवसो न पुनर्निशा, ननु निशैव वरं न पुनर्दिनम् ।
उभयमप्यथवा व्रजतु क्षयं, प्रियतमेन न यत्र समागमः ॥६८॥

इमे भरता मम प्राणनाथं न जाने कुत्र नेष्यन्ति, पुनरहं तं कुत्र लप्स्ये । तेषां नटषट्पदानां तु स्थाने स्थाने नूत्नं मित्रं नवीनाश्च स्त्रियो मिलिष्यन्ति, परं मे तद्वियोगेन का गतिर्भविष्यति? यदि स मनुष्योऽभूत्वाऽपि कुक्कुटरूप एव मदासन्ने स्थास्यति, तथाऽपि ममात्मनि महान् सन्तोषो भविष्यति ।

यतः-

अमृतं शिशिरे वह्नि-रमृतं क्षीरभोजनम् ।
अमृतं राजसन्मान-ममृतं प्रियदर्शनम् ॥६९॥

अहं तं निरीक्ष्य निरीक्ष्य जीविता तु स्थास्यामि, अनया वीरमत्या तु ध्रुवं मे प्राग्भवीयं शात्रवमस्ति यतो मनुष्यात्पक्षिरूपे कृतेऽपि तत्कोपो नोपशमितः । जगति सर्वान्मृत्युर्हरति परं न जाने स एनां कथं न हरतीयं कियत्कालं मे दुःखदानाय स्थास्यतीति न वेद्मि ? । मत्प्राणेशस्य यशःश्रवणेनेयं कथं दुःखीयते तन्नाऽवगच्छामि ? मम श्वश्रूकृते स मे प्राणप्रियः कण्टक-तुल्यो भवतु, परं मत्कृते तु स एव जीवितसर्वस्वो विद्यतेतमाम् । तेन विना मे जीवनं भाररूपं निराधारं कथं स्थास्यतीति मे तर्कविचारणा चिन्ताब्धिपारं न गच्छति ।

यतः-

नदीतीरेषु ये वृक्षा या च नारी निराश्रया ।
मन्त्रिहीनाश्च राजानो, न भवन्ति चिरायुषः ॥७०॥

अतो हे धीसख ! यथा भवेत्तथा भवान् तं कुक्कुटराजं परावर्त्याऽऽनीय मे ददातु, भवदीयोऽयमुपकारो मया कदापि न

विस्मरिष्यते, आजीवनं भवतोऽधमर्णः स्थास्यामि । तस्या एवं मनोव्याकुलतां विलोक्य मन्त्रिमनसि बहुदुःखमभूत्तेन भणितम्- राज्ञि ! तवैवंविधः खेदो न कर्तव्यस्तव श्वश्रवाः प्रकृतिरतिकुटिला वर्तते, अतस्तां कोपयितुमपि नोचितम् । यद्यपि सा वृद्धा जाता तथापि तत्कुटिलायाः कोऽपि विश्वासो नास्ति । अतःपरं सा चिरं जीविष्यत्येव नहि, अन्ते त्वस्य राज्यस्य स्वामी त्वत्पतिस्त्वं चैव भविष्यथः । ततोऽधुना धैर्येणैव स्वकार्यसाधनं त्वदर्थं लाभदायकं विद्यते । सचिवस्यानेन परितोषवचनेन गुणावल्याश्चेतः स्तोकं शान्तिमाप । तया कुक्कुटस्य पश्चात्परावर्तनविचारस्त्यक्तः, परमन्यामन्यां काञ्चिद् वार्तां कथयित्वा तथा स्वप्रियार्थं सुखभक्षिकां मिष्टान्नादिकं च प्रदाय तया मन्त्री शिवमालापार्श्वे प्रेषितः। सचिवेन तत्रैत्य शिवमालामाकार्योक्तम्- इदं तु त्वं वेत्स्यस्येव यदयं कुक्कुटो यथार्थताम्रचूडो न विद्यते, परमयं सुधर्मनिरतोऽखिलराजशिरोमणिर्जगदुपकारकरणैकतरणी राजा चन्द्रोऽस्ति। अस्य विमात्रा मन्त्रबलेनाऽयं कृकवाकुर्विहितः, ततो युष्माभिरयं सम्यग् रक्षणीयः, अस्य शुश्रूषणे कथमपि त्रुटिर्न विधातव्या । कदाचित्परिभ्रमन्त्याऽत्राप्यागन्तव्यम्, तव पार्श्वे सुरक्षितं राजानं चन्द्रं निर्वर्ण्याऽस्माकं प्रमोदो भविष्यति । चेदस्यां दिशि समायातुं न शक्नुयास्तदा पत्रेणाऽप्यस्य कुशलोदन्तः सूचयितव्यः, तवैतस्या उपकृतेः किञ्चित्प्रत्युपकारो यथावसरमस्माभिरवश्यमेव करिष्यते। यदुक्तम्-

प्रत्युपकुर्वन्बह्वपि, न भवति पूर्वोपकारिणां तुल्यः ।
एकोऽनुकरोति कृतं, निष्कारणमेव कुरुतेऽन्यः ॥७१॥

एवं बहुविधोपदेशं दत्त्वा कुक्कुटराजं च प्रणम्य, सचिवः स्वस्थानमाययौ। इतो नटैरपि स्वोपकरणानि बद्ध्वा ततः प्रतस्थे। यदा ते वाद्यं वादयन्तो राजमार्गेण निःसर्तुं लग्नास्तदा गुणावल्यपि तान् स्वकुट्टिमतोऽवलोकयामास। तया दृष्टं यन्मत्प्राणनाथस्य पिञ्जरं शिवमाला स्वमस्तकोपरि वहति। स यावद् दृग्गोचरेऽवर्तत, तावद् गुणावली निर्निमेषेण तमवलोकयामास। अतिक्रान्तनेत्रपथे तस्मिन् विटपाऽवरोधेन च तद्दर्शनाऽभावे गुणावली ततोऽधः समागता। तदानीं तस्याः परमार्थतः सैव दशाऽऽसीद्या मणौ हृते पन्नगस्य वा पयसो बहिष्कृतस्य मीनस्य भवति। सैतस्य दुःखस्या-ऽऽवेगमसहमानाऽवनौ मूर्च्छिताऽपतत्। तदीयामिमामवस्था-मवलोक्य वयस्या धावन्त्यः समाययुः, शीतोपचारैश्च कथञ्चित्तां सज्जीचक्रुः। अनया घटनया परितो हाहाकारो जातश्चैतद्वृत्तं ज्ञात्वा तत्र सचिवोऽप्याययौ, तेन बहुधा तस्यै सान्त्वना दत्ता। यतः-

विपदि परेषां सन्तः, समधिकतरमेव दधति सौजन्यम्।
ग्रीष्मे भवन्ति तरवो, घनकोमलपल्लवच्छन्नाः ॥७२॥

अथ वीरमत्यपि तत्राऽऽयाता, परं तस्यास्तु सार्धतण्डुलस्य कृशरं पृथगेव पच्यते। गुणावल्याः शान्तिदानं तथा तद्दुःखकारण-पृच्छा तु दूर एवाऽतिष्ठत्प्रत्युत विरुद्धमेव तयोक्तम्- वधु! चन्द्रस्य गमनेनाऽद्य मे परमानन्दोऽभवत्सम्प्रत्यस्माकं स्नेहे कथमपि बाधा न पतिष्यति, ततोऽप्युत्तरोत्तरं वर्धिष्यत इति मे मनोधारणा-ऽस्ति। वीरमत्या अदो वचो गुणावल्यै परमाप्रियमलगत्पुनरपि स्वसमयं विचार्य तस्यास्तद्वचोऽनुमोदनं कर्त्तव्यमेवाऽभूत्।

यतः-

यदपसरति मेषः कारणं तत्प्रहर्तुं,
मृगपतिरपि कोपात्सङ्कुचत्युत्पतिष्णुः ।
हृदयं निहितवैरा गूढमन्त्रप्रचाराः,
किमपि विगणयन्तो बुद्धिमन्तः सहन्ते ॥७३॥

तेन मुदिता सा वीरमती प्रसन्नतया स्वावासं परावृत्याऽऽगता । इतो गतेषु सर्वजनेषु गुणावल्याश्चेतसि पुनर्दुःखाब्धिरुन्मर्यादो जातः । तन्नेत्राभ्यां गङ्गाकालिन्द्योर्धारा इव बाष्पासारा निर्गन्तुं लग्राः । यथा यथा तस्याः स्वपतेः स्मरणमागतं तथा तथा तद्दुःखमपि प्रवर्धमानमासीत् । सा दीर्घश्वासं ग्राहं ग्राहं तस्यामेव दिशायां दत्तदृष्टिरासीत्, यस्यां दिशि तत्प्रियपिञ्जरं गृहीत्वा नटसमूहो गतोऽभवत् । तद्दिशातो मरुद्वेगस्तथाऽऽयातो येन सा ध्यातुं लग्ना-यदयमवश्यं मे पत्युः स्पर्शं कृत्वात्राऽऽगतो भवेत्, अतः सा तत्स्पर्शेनातीव मुमुदे । सा स्वप्राणप्रियमास्मृत्य वक्तुं प्रारब्धा- अये ! प्राणाः ! यूयं सम्प्रति प्राणेशमन्तरा कथं स्थास्यथ ? गमनं तु युष्माकं धर्ममेव विद्यते । यदा प्राणाधारो गतस्तदा युष्माकमप्यत्र स्थितिर्नोचिता ।

यतः-

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं,
धृत्या न क्षणभासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः ।
यान्तुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वैः समं प्रस्थितं,
गन्तव्ये सति जीवन ! प्रियसुहृत्सार्थः किमुत्सृज्यते ? ॥७४॥

किञ्चित्कालाऽनन्तरं पुनः सा तं ध्यायन्ती वक्तुमारभत- कुत्र गतवान् मे स्वामी, कुत्र यातास्ते नवनवरसानन्दाः, क्व षोडशशृङ्गारास्ते ?, कुत्र च तदपूर्वस्नेहो गतः ? अहो ! यथैन्द्र-जालिका विविधबाह्यमायां विस्तार्य तां पुनः संहरन्ति, तथैवैताः सर्वा वार्ता अपि स्वमधुरस्मृतिरूपं परित्यज्य न जाने कुत्र प्रयाताः। हे नाथ ! भवद्गमनाद् मेऽतितरां व्यथा जायते, परं परमेश्वरं प्रति संप्रतीयमेवाभ्यर्थना विद्यते, यद्यत्र भवन्तस्तिष्ठेयुस्तत्रैव सुखिनो दीर्घायुषो भूयासुर्भवद्यशोवृद्धिश्च भूयादियमेव ममाऽभिलाषा बोभूयते। हे नाथ ! जीवनाधार ! सहैवेयं दास्यपि स्मरणीया न तु विस्मर-णीया किमधिकं ब्रूयाम् ? ।

यतः-

इन्दुं कैरविणीव कोकपटलीवाम्भोजिनीबान्धवं,
मेघं चातकमण्डलीव मधुपश्रेणीव पुष्पाकरम् ।
माकन्दं पिकसुन्दरीव तरुणी प्राणेश्वरं प्रोषितं,
चेतोवृत्तिरियं मम प्रियसखे ! त्वां द्रष्टुमुत्कण्ठते ॥७५॥

इत्थं विरहाऽनलेनाऽहर्निशं दंदह्यमानायास्तस्याः कृत्स्नमपि राजभवनं श्मशानमिव शून्यं प्रत्यैयत । शृङ्गारश्चाङ्गार इवोपाल-क्ष्यत, तद्विग्रहो म्लानः कान्तिरहितश्च समजायत । तथापि स्वभावतो धर्मिष्ठा साऽशुभकर्मणामुदयं मत्वा तत्कर्मक्षयाय प्रत्यहं नवं नवं तपः कुर्वती सती परमात्मनो ध्याने निमग्नाऽतिष्ठत् ।

यतः-

जन्मकोटिकृतमेकहेलया, कर्म तीव्रतपसा विलीयते ।
किं न दाह्यमतिबह्वपि क्षणा-दुच्छिखेन शिखिनात्र दह्यते॥७६॥

परमत्र पाठका एतन्न जानीयुर्यद् गुणावली तावन्मात्रमेव विलापं कृत्वा स्वस्था जाता। सा स्वभर्तू रक्षाकृते विशेषतश्चिन्तिता सती तदैव स्वाधीनस्थान् सप्त माण्डलिकान् राज्ञो बोधयित्वा शिवमालया साकं वासार्थं प्रेषयामास। ते राजानः स्वभटैः सत्रा सदा शिवमालायाः पार्श्वे तिष्ठन्तः सर्वथा राज्ञश्चन्द्रस्य रक्षां कुर्वन्त आसन्। तै राज्ञे चन्द्राय स्पष्टं निवेदितम्–वयं गुणावल्यादेशेन भवद्गोपनायाऽत्राऽऽगताः स्मः, अतःपरं सर्वदा भवता सहैव स्थास्यामः। भवान् कुक्कुटो जातस्तेन किं जातम्? अस्माकं तु भवानिदानीमपि स एव स्वामी विद्यते, यः पूर्वमासीत्। राज्ञामदो वचो निशम्य शीर्षकम्पनसंकेतेन कुक्कुटराजेन तेभ्यः स्वसहवा–सायाऽऽदेशो दत्तः। ततो नटानामयं संघः साम्प्रतमतिमहान् सञ्जातः। शिवकुमारस्य शिवमालायाश्च करे कुक्कुटोऽयं किमागात्, तयोर्भाग्यमेव परावृत्यैवागतमित्यनुमीयते। सप्त राजानस्तद्भटाश्च तेन सत्राऽधुना चलन्ति यतोऽयं सङ्घो निर्गच्छति स्म, तत्रैव प्रेक्षकाणां वृन्दैर्मार्गसाङ्कुल्यं वर्तते स्म। तेषां गमनपरिपाट्यप्य–पूर्वैवासीत्ताम्रचूडाधिपः सदा सुखेन स्वर्णपिञ्जरमध्यवसत्, शिवमाला स्वर्णपिञ्जरं मस्तके निधाय चलति स्म। पृष्ठत एकः पुमान् तच्छिरसि दिव्यच्छत्रेण छायामकरोत्, उभयपार्श्वतश्च द्वौ जनौ चामरे वीज्यमानावास्ताम्। कुक्कुटराजस्याऽमुं समारोहं निर्वर्ण्य निरीक्षकाश्चकिताः सन्तस्तस्य भाग्यश्लाघां कुर्वन्ति स्म। यत्रैते क्रीडां दर्शयन्ति स्म तत्र पूर्वतश्चतुर्गुणो लाभो भवितुं लग्नः। तेनैषा नटमण्डली प्रीता सती सोत्साहेन चतुर्दिक्षु भ्रामं भ्रामं जनानां मनोरञ्जनाय स्वखेलनं दर्शयामास।

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्याऽष्टादशपरिच्छेदे लीलाधरलीलावत्योर्वृत्तान्तः -

शिवमाला चन्द्रराजस्य पिञ्जरं लब्ध्वा देशविदेशेषु भ्रमणं विदधती विपुलधनोपार्जनं कर्तुं लग्ना । तस्यास्ताम्रचूडप्राप्त्यैकः पन्था द्वे कार्ये, इति लोकोक्तिश्चरितार्था जाता । शिवमाला तेन प्रत्यहं सुखभक्षिकां मिष्टान्नं च खादयन्ती स्वप्राणवत्तं त्रायमाणाऽऽसीत् ।

अन्यदेयं नटमण्डली भ्राम्यन्ती वङ्गदेशीये पृथ्वीभूषणाभिधे नगरे गता । तत्राऽरिमर्दनाख्यो भूपो राज्यं करोति स्म, तस्य चन्द्रराजपित्रा साकं परा प्रीतिर्वर्तते स्म । नटैस्तत्र नगरे शोभनं स्थानं निरूप्य तत्र स्वावासः स्थापितः । एकस्मिन् वस्त्रगृहे सिंहासनं सज्जयित्वा तदुपरि कुक्कुटराजस्य पिञ्जरं स्थापितम्। नटानामेतादृशेन समारोहेण स्थापितमावासं विलोक्य कस्यचिद्राज्ञो निकाय्यो यथा भवेत्तथा दर्शकैरज्ञायि । राज्ञोऽरिमर्दनस्य नटाऽऽगमनवृत्ते विदित एव तेन खेलादर्शनाय नटा आकारिताः । तदा सपिञ्जराः शिवकुमारादयोऽपि राजपरिषद्युपस्थिताः, कुक्कुटं प्रणम्य तदाज्ञामादाय दिव्यं नाटकं दर्शयामासुः । नाटकं दृष्ट्वा तुष्टेन राज्ञा तेभ्यः प्रचुरं दानं दत्तम् । तैः साकममुं कुक्कुटं निर्वर्ण्य तदद्भुतसौन्दर्यावलोकनतो विस्मेरमानसेन राज्ञा पृष्टेन शिवकुमारेण तस्य तथ्यवृत्तान्तः संक्षेपेण कथितः । तदाकर्ण्य

राज्ञोऽरिमर्दनस्य यदाऽयं राजा चन्द्र एवाऽस्तीति विदितमभूत्तदा स तच्चरणयोः पतित्वा मणिकाञ्चनहस्त्यश्वाद्युपायनं तदग्रे ढौकित्वा वक्तुं लग्नः -

यथा -

चिराद्यत्कौतुकाविष्टं, कल्पवृक्षमुदीक्षितुम् ।
तन्मे सफलमद्यासी-न्नेत्रं त्वय्यवलोकिते ॥७७॥

हे वीरशिरोमणिचन्द्र ! अहं भवद्दासोऽस्मि भवान् ममाऽतिथिरस्ति । भवदागमनेनाऽहं मद्देशश्च धन्यंमन्यो जातो भवानेतन्मयाऽऽनीतं तुच्छमुपायनमुरीकृत्य मां कृतार्थयतु । इत्थं राज्ञाऽत्यनुरोधकृते नटैस्तेषूपायनेषु स्तोकं वस्तु स्वीकृतम्, तदनन्तरं तेषु जिगमिषुषु राजाऽरिमर्दनः सम्मानपूर्वकं तैः सह राज्यसीमानं यावद् गत्वा पुनः पश्चात् परावव‍ृते । नटास्ततः प्रस्थायेतस्ततो भ्रमन्तः सिंहलद्वीपस्य सन्निधावाजग्मुस्तत्रोदधेर्निकटे सिंहलाऽऽह्वैका महती नगरी वर्तते स्म । ततो बहिरेव तैः स्वोत्तारकः स्थापितस्तद्विलोकनेन तूर्णमेव नागरिकाणां चित्तं तं प्रत्याकर्षितमभूदिति ते सर्वे तत्क्रीडनावलोकनकृते स्पृहावन्तः संजाताः । यदेयं वार्ता सिंहलेशाय विज्ञापिता तदा तेन नटा आकारितास्तैश्च कुक्कुटराजस्य पिञ्जरं नीत्वोपराजमागत्य नाटकादिभी राजादिवर्गो रञ्जितः । भूपतिनापि तत्कालमागतेन पञ्चसहस्रपोतानां शुल्कदानेन सम्मानितास्तेऽपि राज्ञो यशः समुदीरयामासुः ।

यथा-

कल्याणं भवतां यशः प्रसरतां धर्मः सदा वर्धतां,
संपत्तिः प्रथतां प्रजा प्रणमतां शत्रुक्षयो जायताम् ।

वाक्यं संवदतां वपुः प्रभवतां लक्ष्मीपतिः प्रीयता-
मायुस्ते शरदां शतं विजयतां दानाय दीर्घायुषे ॥७८॥

पुनः स्वोत्तारकमागताः पोतनपुरप्रस्थानसज्जनं कर्तुं लग्नाः। इतः सिंहलपतेः प्रिया सिंहला मनोज्ञताम्रचूडदर्शनेन तस्मिन्ननुरक्ता संजाता । तया राजानमाकार्योक्तम्- प्रिय ! केनापि प्रकारेण स कृकवाकुरानीय मह्यं दीयतां तस्मिन्महती मनोमोहनीया शक्ति-र्विद्यते । तेन निजसौन्दर्येण विश्वमपि स्ववशीकृत्य रक्षितोऽस्तीवेति स चरणायुधो मेऽतीव रोचते । तं विनाऽहं तथैव व्याकुलीभवामि, यथाऽपो विना मीना व्याकुलीभवन्ति । तेन मे मनोऽपहृतं मम प्राणास्तत्रैव संलग्नाः सन्ति, तस्माद्यथातथाऽऽनीय दीयताम् । भूपेन भणितम्- प्रिये ! एकेन खगेन सहैतावद्धार्दकरणं न वरम्। तेन कुक्कुटेन तु नटानां जीविका चलति, ततस्तन्मार्गणेनाऽपि ते कथं दातुं शक्ष्यन्ति ? यदि कोऽपि मम याचनं कुर्यात्तदा तस्मै किं त्वं मां दास्यसि ? तथैव तेऽपि कदापि तं दातुं न शक्ष्यन्ति, अतस्तदर्थं ते हठकरणं नोचितम् । तन्निशम्य तया गद्गदस्वरेण प्रोक्तम्- प्रिय ! तथ्यं ते वचनं परं तेन विना मम नैजं जीवनं भारभूतमिव ज्ञायते । नटानां धनप्रलोभने दत्ते तेऽवश्यं दास्यन्त्येव यतो द्रव्योपार्जनाय संसारे संसारिणो जनाः किं किं न कुर्वन्ति?। यतः-

यद्दुर्गामटवीमटन्ति विकटं क्रामन्ति देशान्तरं,
गाहन्ते गहनं समुद्रमतुलक्लेशां कृषिं कुर्वते ।
सेवन्ते कृपणं पतिं गजघटासङ्घट्टदुःसञ्चरं,
सर्पन्ति प्रधनं धनान्धितधियस्तल्लोभविस्फूर्जितम् ॥७९॥

अतो यथा भवेत्तथा मे स कुक्कुटोऽवश्यमानीय दीयताम्। राज्ञ्याः प्रभूतमाग्रहं विदित्वा तेन तदानयनाय नटपार्श्वे स्वभृत्यः प्रेषितस्तेन शिवकुमाराऽन्तिकं गत्वा कुक्कुटो याचितः, शिवकुमारेण तस्योत्तरं ददता कथितम्-अयं ताम्रचूडो नैव किन्तु मम राजाऽस्ति, यदि स कुक्कुट इच्छेत्तर्हि यस्मै कस्मैचनापि मां दातुं शक्नुयात्, परं नाहं तं दातुं प्रभविष्णुरस्मि । अस्माभिर्नृपाय नाटकं दर्शितं, अतस्तेन कुक्कुटयाचनस्य दुःसाहसं कृतम् । परमहं तं बोधयितु-मिच्छामि, यत्तेन मह्यं विपुलद्रव्यस्य दानं न दत्तमस्ति । ईश्वराऽनु-कम्पया मेऽनेकस्थाने ततोऽपि महद् महद् वस्तु मिलितं, अतस्त्वं निजराजानं गत्वा कथय, यत्तस्येदमवाच्ययाचनं कथमपि पूरयितुं न शक्यते । तदा तेन गदितम्-कुक्कुटप्राप्त्यै मे स्वामी समुत्को न विद्यते, परं मे राजमहिषी तदर्थं बहु लालायिताऽस्ति, चेत्तस्याः कृकवाकुरयं नाऽमिलिष्यत्तदा सा प्राणानत्यक्ष्यत् । ततस्तैरखिलै-र्नटैरूचे- राज्ञी प्राणत्यागं करोतु परं वयं केनाऽपि प्रकारेण कुक्कुटार्पणाय शक्ता न भविष्यामः । यथा राज्ञः स्वप्रिया प्रिया-ऽस्ति, तथैवास्माकमप्ययं कुक्कुटोऽतीव प्रियोऽस्ति । तेषां तद्वचनं निशम्य राजसेवको म्लानाऽऽस्यं विधाय ततो वलित्वाऽऽयातः । उक्तमपि-

दक्षिणाशाप्रवृत्तस्य, प्रसारितकरस्य च ।
तेजस्तेजस्विनोऽर्कस्य, ह्रियतेऽन्यस्य का कथा ? ॥८०॥

राज्ञा यदा तदाननान्नटोक्तवृत्तमाकर्णितं, तदा कोपाऽऽकुलेन तेन वक्तुं प्रारेभे-अहमिदानीमेव तान् विडम्ब्य ताम्रचूडमानयामि। यतः-

अनुसरति करिकपोलं,भ्रमरःश्रवणेन ताड्यमानोऽपि ।
गणयति न तिरस्कारं, दानान्धविलोचनो नीचः ॥८१॥

द्रुतमेव स्वसैन्यं सज्जीकृत्य तदाक्रमणाय न्यगद्यत । परं नटसन्निधावपि राज्ञश्चन्द्रस्य रक्षणायाऽपरिमितं सैन्यमासीदित्युभयोः सैन्ययोर्भीषणं युद्धं प्रवर्तितं, पत्तिभिः पत्तयोऽश्ववारैरश्ववारा योद्धुं लग्नाः । विद्युदिवाऽसयो विद्योतन्ते स्म, कियत्कालमुभाभ्यां भटाभ्यां प्रधनं कृतं, परमन्ते सिंहलेशितुः सैन्यं पृष्ठं दर्शयित्वा कान्दिशीकं जातम् । अनेन पराजयेन विगोपितः सिंहलपतिरनुतापं लेभे । यथोक्तम्-

नाभ्यस्ता भुवि वादिवृन्ददमनी विद्या विनीतोचिता,
खड्गाग्रैः करिकुम्भपीठदलनैर्नाकं न नीतं यशः ।
कान्ताकोमलपल्लवाधररसः पीतो न चन्द्रोदये,
तारुण्यं गतमेव निष्फलमहो ! शून्यालये दीपवत् ॥८२॥

तदनन्तरं शैलूषैः पिञ्जरं गृहीत्वा पटहनादं कुर्वद्भिः पोतनपुरप्रस्थानाय प्रतस्थे, परितस्ताम्रचूडाऽधिपस्य च जयशब्दः प्रोचे।

कियत्कालानन्तरं कृशाश्विनां मण्डली तत्र समागता, अतिविशालं सुपर्वपुरनिभं पोतनपुरं विलोक्य साक्षादिन्दिराऽऽवास इवामन्यत । तत्र जयसिंहाख्यो भूजानी राज्यं करोति स्म । तस्य सुबुद्धिनामा सचिव आसीत्तस्यातिरूपवती मञ्जूषाख्या प्रिया, रूपगुणसम्पन्ना लीलावत्यभिधाना कन्या चाऽऽसीत् । तस्यास्तन्नगरवास्तव्येन लीलाधरनामवणिक्पुत्रेण सह पाणिपीडनं कारितम् । तद्द्वन्द्वं परस्परमुपयुक्तं विलोक्य विधात्रा मणिकाञ्चनयोर्योगः कृतोऽस्तीति लोका उक्तवन्त आसन् । एतद्युग्मं परिणया-

नन्तरं दोगुन्दुकदेववदथवा माररतिवद् विषयसुखभोगं कुर्वाणं स्वसमयं गमयामास । अन्यदा पुण्यहीनः कश्चित्परिव्राड् लीलाधर-निकटे याचनार्थमायातः, परं लीलाधरेण तं तिरस्कृत्य स बहि-र्निष्कासितः । ततः क्रोधाऽऽध्मातेन तेन परिव्राजा सकोपाटोपं लीलाधरं प्रत्युक्तम्- हे श्रेष्ठिन् ! भवतैवमभिमानो मा क्रियतामहं यथातथाऽस्मि, परं भवतस्तु कस्मिंश्चिदंशे श्रेयानेवाऽस्मि । यतोऽहं स्वशयोपार्जितं भुञ्जे, त्वं तु स्वजनकोपार्जितधने जीवितं गमयसि। अहं त्वद्वदन्योपकृत्याऽऽभारितो नास्मि, यो निजभुजाभ्यां धनो-पार्जनं न कुरुते तज्जीवनं धिक् । परद्रव्यावलम्बनेनोच्छलनकुर्दनं न वरं, यावत्तव जनयिता जीवन् विद्यते तावन्निश्चिन्तोऽसि, तदभावे न जाने का ते दशा भविष्यति ? तदवस्थायामयं यौवनधनमदः कस्मिन्नपि कार्ये नोपयोगमायास्यति । अद्य ममेमां दशां विलोक्य स्मयमानोऽसि, परं संभाव्यते, यत् श्वो भवदीयाऽपि दशेत्थमेव स्यात्, जना भवन्तं दर्शं दर्शं हसेयुः । अतो जगति भृशं विचार्य वर्तितव्यं, स्वप्नेऽपि च गत्वरायुर्यौवनधनाभिमानो न कार्यः । यतः-

संपदो जलतरङ्गविलोला, यौवनं त्रिचतुराणि दिनानि ।
शारदाभ्रमिव चञ्चलमायुः, किं धनैः ? कुरुत धर्ममनिन्द्यम्॥८३॥

भवदङ्गुलीषु रत्नखचितान्यङ्गुलीयकानि सन्ति, तानि वीक्ष्य प्रायो भवान् प्रसन्नो भवेत्, परं नेयं काऽपि गौरववार्ता । यतः संसृतौ पामरोऽपि जन एतादृशीं मुद्रिकां परिदधाति । परं महान्तमहं तमेव मन्ये, यः स्वोपार्जितेन धनेन जीवति, उरुभावनां भावयन् परोपकारं च करोति ।

यतः-

शास्त्रं बोधाय दानाय, धनं धर्माय जीवितम् ।
वपुः परोपकाराय, धारयन्ति मनीषिणः ॥८४॥

भिक्षोरिमामुक्तिं श्रुत्वा व्रीडितेन लीलाधरेण तदङ्घ्रिं स्पृष्ट्वोचे- हे भिक्षुराड् ! अद्यप्रभृति त्वं मे गुरुर्जातः । अहं त्वदीयमेतद्वचनं निशम्य प्रतिकूलममत्वा सुशिक्षामेव निजात्मनि ग्रहीष्यामि, स्वयं च व्यवसायादिकं विधाय धनोपार्जनप्रयत्नं विधास्यामि । भिक्षुस्त्वित्थमृतमप्रियं वचः श्रावयित्वा तदैव चेलिवान्, परं तत्कथनं लीलाधरहृत्पटोपरि सम्यगङ्कितमभूत्तेन स मनस्येव विदेशगमननिश्चयं चक्रे । पुनः स्वचेतस्येव वक्तुं प्रारेभे- परदेशो दुःखजनक इति लोकोक्तिर्निःसारैव, यतो गृहे परदेशे वा तिष्ठतोऽखिलप्राणिनः प्राक्तनकर्मजन्यं सुखं दुःखं वाऽवश्यं भोक्तव्यमेव भवति ।

यतः-

अकारणं सत्त्वमकारणं तपो, जगत्त्रयव्यापि यशोऽप्यकारणम् ।
अकारणं रूपमकारणं गुणाः, पुराणमेकं नृषु कर्म कारणम् ॥८५॥

अतो गृहे तिष्ठतोऽपि दुःखान्मुक्तिरसम्भवा, इत्थं दृढसङ्कल्पाऽऽकलितोऽसौ त्रुटितायामेकस्यां खट्वायां प्रसुप्तवान्, तदैव तत्पिता धनदोऽपि समागतः । गृहागतेन तेन तथाऽवस्थः सुप्तस्तनयो दृष्टः पृष्टश्च- प्रियपुत्र ! केन कदर्थितो येन त्वं रुष्टस्सन् पतितोऽसि? तेनाऽभिहितम्- तात ! न मे केनाऽपि किञ्चिद्दुःखं दत्तमस्ति, परं द्रविणोपार्जनार्थं विदेशं गन्तुकामो भवदादेशं कामये ।

यदुक्तम्-

योन निर्गत्य निःशेषा-मालोकयति मेदिनीम् ।
अनेकाश्चर्यसम्पूर्णां, स नरः कूपदर्दुरः ॥८६॥

अत इयमेवैका ममाऽभिलाषा वर्तते । पुत्रोक्तमिदमाकर्ण्य श्रेष्ठी चकितो जातस्तद्गेहे धनस्य त्रुटिर्नाऽऽसीत्तथापि तस्य प्रियपुत्रस्तदर्थं परदेशगमनाभिलाषुकोऽभूत्, तस्मात्तेन तद्बोधन-पूर्वकमुक्तम्- सुपुत्र ! तव वयः साम्प्रतं बह्वल्पमस्ति, ततस्ते विदेशगमनं सम्प्रत्यसाम्प्रतं, पुनरपि तव परिणयकालोऽपि अल्प एव जातोऽस्ति स्वसदने धनधान्यस्याऽभावोऽपि न वर्तते, अस्यां दशायां ते विदेशगमस्याऽऽवश्यकता कापि नास्ति । पितुरिदं वचो निशम्य लीलाधरेण तस्य भिक्षोर्वार्तामाख्याय जनकं प्रत्युचे-मन्मानसेऽस्या वार्तायाः सुदृढः प्रभावः पतितोऽस्ति, अतोऽहं सकृदपि परदेशमवश्यं यास्यामि । पुत्रोद्वेगस्यादो यथार्थकारणं विज्ञाय श्रेष्ठिना भृशं प्रबोधितम्, भिक्षुकवार्ताप्रभावाऽपनोदाय च बहु चेष्टितम्, परमवकेशिवृक्षवत्सर्वोऽपि यत्नो विफलो जातः । इत्थं लीलाधरस्य मात्रा, तथा सचिवादिप्रमुखैरन्यैरपि लोकैः प्रबोधितोऽपि धीरो लीलाधरः स्वसङ्कल्पात्किञ्चिदपि न विचेलिवान्। यतः-

अर्थः सुखं कीर्तिरपीह माभू-दनर्थ एवास्तु तथापि धीराः ।
निजप्रतिज्ञामधिरुढमाना, महोद्यमाः कर्म समारभन्ते ॥८७॥

तस्य विदेशगमनोत्कण्ठा तथा प्रवर्धिता यथा स पितुर्विदेश-गमननिदेशावाप्तिं विनाऽन्नजलग्रहणमपि नैच्छत्, परं कथञ्चिच्छ्रेष्ठि-

नोत्थाप्य तेन सुतेन सह खादितम् । द्वितीये दिने गमनस्य निश्चयं कृत्वा तं शयनाऽऽगारे संवेशाय प्रैषयत् । स यावच्छयनागारमेत्य मौनत्वेनैव सुप्तस्तावल्लीलावती पूर्ववल्ललितगत्या हावभावविलासं दर्शयन्त्युपलीलाधरमागता परमन्यदिनवत्तस्य हासालापविषयभोगादिकं तु दूरे तिष्ठतु, प्रत्युताद्य तेन नेत्रमुत्थाप्यापि तत्संमुखं नावलोकितं स तु स्वविचार एव निमग्न आसीत् । तस्यैतामवस्थामवलोक्य तयाऽगादि- प्रिय ! मयाऽऽकर्णितं यद् भवानन्यत्र देशे गन्तुकामोऽस्ति, परमेवं सर्वेभ्यो बन्धुभ्यो रुष्ट्वा गमनं न वरम् । ममैतादृशः कोऽपराधो जातो येन भवते मदभिमुखं दर्शनमपि नो रोचते । अन्यजनरुष्टेन भवता गन्तुं शक्यते, परमहं भवन्तमेवं जात्वपि गन्तुं न दास्यामि । एतादृशि स्नेहेऽकस्माद् वियोगे जाते पुनर्न जाने कदा संयोगो भविष्यति ? अतो यावद् भवेत्तत्र गमनविचार एव त्यज्यताम् । अथवा सहास्यविनोदं सर्वैर्मिलित्वा यथासम्मति गम्यताम्, तथा केऽपि भवन्तं प्रति दुर्भावं न रक्षेयुः । इत्थं लीलावत्या स्वकान्तं निशां यावत्प्रबोध्य तद्विचारपरावर्तनस्य महती चेष्टा कृता, परं दृढागूवति तस्मिन् लेशमात्रमपि सा सफला न जाता ।

यथा-

यथा चित्तं तथा वाचो, यथा वाचस्तथा क्रियाः ।
धन्यास्ते त्रितये येषां, विसंवादो न विद्यते ॥८८॥

पुनः प्रातस्तत्पित्राऽपि प्रबोधितो लीलाधरः स्वसङ्कल्पमयथाकर्तुं कथमपि सम्मतो नाऽभूत्, एवं सर्वोऽपि वृत्तान्तोऽमात्ये-

नाऽप्याकर्णितः । तेन ध्यातं यदधुना लीलाधरस्य प्रतिबोधनेन कोऽपि लाभो न भविष्यतीति तेनैको नूतनोपायो विचारितः । स धनदश्रेष्ठिसन्निधौ समेत्य तं कथयति स्म- यद्यस्य विदेश एव गन्तव्योऽस्ति, अयं च कथमपि स्थातुं नेच्छति, तदाऽस्य रोधनं न वरं, परं तत्र प्रचुरधनप्राप्तिः स्यात्तदर्थं शुभमुहूर्ते यात्रा कारयितव्या। भवत्सम्मतिश्चेत्तदोत्तममौहूर्तिकानाकार्य कश्चिदुत्तमो मुहूर्तः पृच्छ्येत। लीलाधरस्य जनकेनाऽपि मन्त्रिण इयमुक्तिः समर्थिता । लीलाधरोऽपि तत्र कमपि विरोधं नाऽकार्षीत्, अतोऽमात्येनाऽनेकदैवज्ञानाहूय ससङ्केतं तेभ्यः सुमुहूर्ताऽवलोकनायोक्तम् । मन्त्रिणः साङ्केतिक-वचनेन लीलाधरस्य विदेशगमनविरोधज्ञैर्दैवज्ञैर्मुहुर्मुहुः पञ्चाङ्गं विलोक्योक्तम्- षण्मासान् यावच्छुभमुहूर्तो न दृश्यते, परमयमेतावत्कालं चेत्स्थातुं नेच्छेत्तदा कस्मिन्नपि दिने उषसि कुक्कुटे रुत एव यात्रां कर्तुमर्हति । इत्थमपि गमने कृते विदेशे विपुलधनप्राप्तिर्भविष्यतीति तेषामिदं कथनमाकर्ण्य प्रधानेन तेभ्यो यथोचितं दक्षिणां दत्त्वा ते विसृष्टाः । शास्त्रेऽप्युक्तम्-

यथा-

सत्यैकभूषणा वाणी, विद्या विरतिभूषणा ।
धर्मैकभूषणा मूर्ति-र्लक्ष्मीः सद्दानभूषणा ॥८९॥

अपि च-

प्रदत्तस्य प्रभुक्तस्य, दृश्यते महदन्तरम् ।
दत्तं श्रेयांसि संसूते, विष्ठा भवति भक्षितम् ॥९०॥

ततस्तेन यात्रायाः कार्यमिषेण लीलाधरं लीलावतीं च

स्वभवनमानाययत् । तदा तत्स्थिरनिवासायैकतो यात्रासमारोहः प्रारब्धः, अपरत्र सचिवेन समस्तं स्वसेवकमण्डलमाहूय तेभ्यो रहस्यरूपेणादिष्टम्- नगरे यावन्तश्चरणायुधा भवेयुस्तान् सर्वानेकत्र नगराद् बहिः प्रेषय, यथा नगरे नैकोऽपि ताम्रचूडोऽवशिष्येत, यतस्तद्रवं शृण्वन्नेव जामाता परदेशं प्रयास्यति । एतद्रहस्यं यथा जामाता नाऽवगच्छेत्तथा सुगुप्तेन भवितव्यमित्यपि वेदितव्यम्। एतद्वृत्तान्ते प्राप्त एव सेवकैर्नगरस्थाः सर्वेऽपि कुक्कुटा ग्रामाद् बहिः प्रेषिताः । इतो लीलाधरः स्वमार्गसामग्रीप्रगुणीकरणे तत्पर आसीदेवेति कथमपि रात्रिं व्यत्याययत् । प्रातर्यदा चरणायुधस्य प्रलपनवेलोपस्थिता, तदा लीलाधरः सावधानकर्णेनोपविष्टः परं नगरे यदा कुक्कुटो भवेत्तदा वदेदिति शनैः शनैः प्रातरभूत्परं तद्ध्वनिः कुत्राऽपि नाऽश्रूयत । तद् दृष्ट्वाऽधीरो लीलाधरो वक्तुमारभत- यात्राऽवसरो निर्गच्छति, अतोऽहं त्वरितमेव व्रजामि। परं धीसखेन कुक्कुटशब्दं श्रुत्वा गन्तव्यमिति गणकगदनमुक्त्वा स निवारितस्ततो निरुपायस्य तस्य लीलाधरस्य स्थातव्यमेवाभूत्। पुनरन्यस्मिन् दिने कुक्कुटे वदत्येव यात्रां करिष्यामि, एकदिनकृते न किमपि व्येतीति विचारयन् सोऽपि तस्थौ । ततस्तृतीयेऽपि घस्रे सैवाऽवस्था जाता या पूर्वदिनेऽभूत् । अस्य मन्त्रिप्रपञ्चस्या-ऽनभिज्ञतया लीलाधरस्य हृदि विदेशगमनस्य तीव्राऽभिलाषायां सत्यामपि स सुमुहूर्ताऽपेक्षया पुनरपि स्थगितोऽभूत् । इतो लीलावती तं स्वस्नेहाऽऽनाये पातयितुमुरुचेष्टां कुर्वाणाऽऽसीदन्यत्र मन्त्रिणो धनदेभ्यस्य च प्रबोधनं प्रवर्तमानमासीत् । प्रान्तेऽस्योद्यो-गस्येदं फलं जातम्, यदेकैकेन दिनेन षण्मास्यपि व्यतीता परं

लीलाधरो विदेशं न जग्मिवान् । सचिवादयो जानन्त आसन्, यदयमित्थं निवार्य रक्षणेन कदाचित्सर्वथा स विदेशगमनविचारं त्यक्ष्यति परं तथा नाऽभूत् । स्वसङ्गरे निश्चलेन लीलाधरेण मनसि विचार्य रक्षितं, यद्यदा कुक्कुटरवः श्रोष्यते, तदाऽहमवश्यं परदेशं यास्यामि । यदा पोतनपुरे मन्त्रिणो गृहेऽयं प्रपञ्चः प्रवर्तमान आसीत्तदैव तन्नगरे शिवकुमारस्य नटमण्डली समागता । तदा चन्द्रनृपस्य यशोगानं कुर्वन्तश्च वाद्यानि वादयन्तो नटा उपराजं गताः, स्वनिवासाय स्थानमयाचन्त राज्ञापि सचिवसद्मसन्निधावेवैकं स्थानं दर्शितं तत्रैव तैर्निजवस्त्रवेश्म स्थापितम् । परं सैन्यार्थं तत्र स्थानाभावात्पुरो बहिस्तडागतटे तदुत्तारकः कृतः । पश्चात्सायं कुक्कुटराजेनाऽनुज्ञातः परिमितपरिकरः शिवकुमारो राजपरिषदि गतः सदस्यांश्च निजगायनं श्रावयित्वा प्रसादयितुं प्रावर्तत । कुतोऽखिलप्राणिनां मधुररागोऽतीव प्रियङ्करोऽस्ति ।

तदुक्तं च-

पशुमानवदेवाश्चा-नुरज्यन्ते सुरागके ।
तथैवामी विशेषेण, मृगस्त्रीसर्पभूभुजः ॥९१॥

राज्ञोचे- अद्य परिश्रान्ता यूयं विश्रामं विदधीध्वं, श्वो भवतां नाट्यं द्रष्टास्मः, एतन्निशम्य ते निजोत्तारकं समायाताः ।

तदैव केनचित्तत्पार्श्वे कुक्कुटं विलोक्योक्तम्-युष्माकं संस्मर्तव्योऽयं वृत्तान्तो यदत्राऽयं ताम्रचूडो वक्तुं न पारयेत्, यद्ययं शब्दायिष्यते, तदा शब्दे श्रुत एव मन्त्रिणो जामाता विदेशं व्रजिष्यति, तस्य च सर्वो दोषो युष्मास्वैव पतिष्यति, अस्मादेव

कारणान्नगरस्य सर्वे कुक्कुटा बहिर्निर्गमिताः सन्ति । श्रुतैतद्वार्तेन कुक्कुटराजेनाऽपि मौनमवलम्बितं क्रमशो रात्रिर्बभूव । विभाते सति विस्मृतलोकवृत्तान्तस्ताम्रचूडाऽधिपः पूर्ववदुच्चैः 'कुकू कू ३ इति' कलरवं रवीति स्म ।

यथा-

पक्षावुत्क्षिप्य धुन्वन्सकलतनुरुहान्भोगविस्तारितात्मा,
प्रागेवोड्डीननिद्रः स्फुरदरुणकरोद्भासितं खं निरीक्ष्य ।
प्रातः प्रोत्थाय नीडे स्थितचपलतनुर्घर्घरध्यानमुच्चै-
रुद्ग्रीवं पूर्वकायोन्नतविकटसटः कुक्कुटो रारटीति ॥९२॥

तेन प्रातःकालप्रतीत्या देवालयेषु कृतघण्टाध्वनिमाकर्ण्य प्रबुद्धा लोका नित्यकर्मतत्परा बभूवुः । इतो लीलाधरोऽपि कुक्कुटारावे श्रुत एवोत्थायोपविष्टः सैन्धवं च समारुह्य तदानीमेव विदेशाऽभिमुखं प्रयातः । लीलावत्या विदेशाऽगमनाय बहुबोधितेनाऽपि तेन चिरादेतादृशशुभमुहूर्तमिलनेन क्षणमात्रमपि विलम्बमुचितं न मेने । तस्मिन् क्षणे कुक्कुटध्वानो लीलाधरस्याऽमृतति स्म, लीलावत्यै च विषवदाभाति स्म, ततः सा वराकी प्रियविरहेण मूर्च्छिता भूमौ पतिता ।

यतः-

अन्तर्हिते शशिनि सैय कुमुद्वती मे,
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा ।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य,
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ॥९३॥

तदनन्तरं प्राप्तचेतना सा विलापं कृत्वा कथयितुमारेभे- हा दैव ! न जाने केन वैरिणा कुक्कुटं रक्षित्वा ममेत्थमहितमाचरितं? नगरे कोऽस्त्येवंविधो मनुष्यो येन मम तातादेशमुल्लङ्घ्य कुक्कुटरक्षणसाहसं विहितमस्ति ? हे विधातः ! त्वया चेत्कुक्कुटो न निर्मितो भवेत्तदाऽद्येत्थं मे पतिवियोगो नो जायेत ? ततो लीलावत्या त्वरितं स्वजनकमाह्वाय तस्मै स्वपतिविदेशगमनवृत्तान्तो निवेदितः सहैवाऽत्याग्रहपूर्वकमुक्तम्- येन ताम्रचूडेन मया सहाऽरिव्यवहारः कृतस्तं कथञ्चिदपि मृगयित्वा मह्यमर्पय । दुहितुः कथनेन तेन कुक्कुटान्वेषणाय चतुर्दिक्षु भुजिष्याः प्रधाविताः, परं सर्वत्र नगरे निरीक्षमाणैस्तैः कुत्राऽपि कुक्कुटस्य शुद्धिर्न प्राप्ता । अन्ते तेषां विदितमभूत्, यन्नटपार्श्वे कुक्कुटो विद्यते, अतस्तैरमात्याय निवेदितं तेन च स्वाङ्गजा कथिता- पुत्रि ! स ताम्रचूडो नटनिकटे वर्तते, ये ह्यो दिन एवात्र समायाताः सन्ति । ते परदेशिनो विद्यन्ते, सहैव ममाऽतिथयोऽपि सन्ति, अतस्तत्पार्श्वात्तद्याचनं नोचितम् ।

उक्तमपि-

याचना हि पुरुषस्य महत्त्वं, नाशयत्यखिलमेव तथाहि ।
सद्य एव भगवानपि विष्णु-र्वामनो भवति याचितुमिच्छन् ॥९४॥

नटाः प्रायो दुराग्रहा बोभुवति, अतो मार्गणेऽपि ते न दास्यन्ति, पुनर्यद् भाव्यं तदभूत्, अतस्तदर्थं तेऽतिनिर्बन्धो नोचितः। ततस्तयाऽभाणि- नहि तात ! स चरणायुधस्तु मे रिपुरस्ति, तत्प्राणापहरणं विना मां शान्तिर्न संगंस्यते, अतो यथा स्यात्तथा

सोऽवश्यमानीयार्प्यतां, तमप्राप्याऽन्नजलं न ग्रहीष्यामि। दुहितुरिमां प्रतिज्ञां निशम्य चिन्ताब्धौ पतितेन तेनाऽन्यः कोऽप्युपायो नो दृष्टस्तस्मान्नटमाकार्य कुक्कुटप्रदानाय स विज्ञप्तस्तदा तेन कथितम्- मन्त्रिन्! मम परं दुःखमस्ति, यतः स ताम्रचूडो मया भवते न दास्यते, प्रथमस्तु तेन मम जीविका निर्वहति पुनरन्यत्स ममाधिपतिर्वर्तते। भवत्पुत्री तदुपरि रुष्टा जातेति मया श्रुतमस्ति, परं यावन्मम काये प्राणास्तिष्ठन्ति तावत्कोऽपि ताम्रचूडस्यैकं बालमपि वक्रीकर्तुं नाऽर्हति। अस्माकं पञ्चशतीसेना तु तद्रक्षणाय प्राणार्पणायोद्युक्ता वर्तत एव, अपि च मत्पार्श्वेऽपरेऽप्यश्ववाराः सप्त सहस्रमितास्तद्रक्षणतत्परा एव सततं सावधानतया जागरूका विद्यन्ते।

किमधिकम्-

कोऽप्यन्यः कल्पवृक्षोऽय-मेकोऽस्ति क्षितिमण्डले।
यत्पाणिपल्लवोऽप्येकः, कुरुतेऽधः सुरद्रुमम् ॥९५॥

अत्र तेषां स्थानसंकीर्णतया नगराद् बहिस्तैरुत्तारकः कृतः। यदि कुक्कुटराजस्याऽऽज्ञा भवेत्तदा वयं सकृद महतोऽपि महद्राज्यं मृन्मयं कर्तुं प्रभवामः। यदि भवतः प्रत्ययो न स्यात्तदा सिंहलराजः पृच्छ्यताम्, यत्कुक्कुटार्थं तस्य कीदृशी गतिर्जाता ?। कस्य साहसं विद्यते, यस्तदभिमुखं नेत्रमुत्थाप्य कुदृष्ट्या पश्येत् ? अहं तु भवन्तमेतदेव कथयिष्यामि, यद् भवानस्य कुक्कुटस्य वार्तामेव जहातु। अयं कश्चित्तुच्छस्ताम्रचूडो नैव, अतोऽस्य प्राप्त्याशा भवता न कर्तव्या। नटराजस्येदमुत्तरमाकर्ण्य विस्मितेन सचिवेन

स्वदुहिता बोधयतोक्ता- पुत्रि ! मयाऽतिबोधितोऽपि नटजनः कथञ्चिदपि प्रसन्नो न भवति, अतस्त्वमिमं निरर्थकमाग्रहं मुञ्च। अत्रावसरे किञ्चिद् बोधिताऽपि लीलावती, परं कुक्कुटप्राप्तिं विनाऽन्नजलग्रहणस्य तस्याः प्रतिज्ञाऽऽसीत्, अतस्तत्सन्निधौ सकृत्कुक्कुटानयनस्यावश्यकता वरीवर्ति स्मेति विचार्य धीसखेन नटराजमाकार्य गदितम्- भवानेकवारं क्षणमात्रार्थमपि तं कुक्कुटमानीय मे यच्छतु। अहं तं यथातथा पूर्ववत्सुरक्षितं प्रत्यर्पयिष्यामि चेद् विश्वासो न स्यात्तदा पुनरर्पणं यावद् मदङ्गजं स्वपार्श्वे रक्षतु। यदा भवच्चरणायुधं प्रदास्यामि, तदा भवताऽपि मे पुत्रः प्रदेयः। तस्यातिनिर्बन्धमवलोक्य नटराजेन तद्वचोऽवधार्य मन्त्रिपुत्रं स्वसमीपे रक्षित्वा कुक्कुटस्य पिञ्जरं मन्त्रिणे समर्पितम्, सोऽपि सादरेण तमानीय स्वात्मजायै प्रायच्छत्।

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्यै-कोनविंशपरिच्छेदे वियोगस्यान्तः-

ततः कुक्कुटराजस्य नेत्राह्लादकं लावण्यं दृष्ट्वैव लीलावत्या रोषो नश्यति स्म, तेन सा तस्य हार्दिकं स्नेहं कर्तुं लग्ना, सा निजाङ्के तस्य पिञ्जरं संस्थाप्य कुक्कुटं प्रति गदति स्म- हे पक्षिराज ! त्वया मुधैव मया सहैषोऽरिव्यवहारः कथं कृतः ? बहिर्मनोहरोऽपि त्वमन्तर्मलिनो लक्ष्यसे। तव रवो मे प्रियवियोगस्य हेतुर्जातस्त्वमनेन कल्मषेण कथं मोक्ष्यसे ? स्वर्णपिञ्जरे संस्थितस्त्वमविच्छिन्नं सुखमनुभवसि, अतस्ते परकीयपराभवस्य कुतो वेदनम् ? परं हे ताम्रचूडाधिप ! पतिवियोगः सतीस्त्रीणां परमसह्यो भवतितमाम् । त्वं विहगोऽसि परं पक्षिणोऽपि स्वप्रियां विना व्याकुलतामादधते। पुनरहं तु नृजातिरस्मि, एका रमणी स्वरमणं विना कथं तिष्ठेत् ? ।

यदुक्तम्-

कति न सन्ति जना जगतीतले,
तदपि तद्विरहाकुलितं मनः।
कति न सन्ति निशाकरतारकाः ?,
कमलिनी मलिनी रविणा विना ॥९६॥

त्वया प्राग्भवे न जाने कतिदम्पतिवियोगः कपटेन कारितो भवेत्, अतो ज्ञायते यदत्र भवे त्वं तत्पापादेव पक्षी भूतोऽसि ।

यदुक्तम्-

पापी रूपवियर्जितः परुषयाग् यो नारकादागत-
स्तिर्यग्योनिसमागतश्च कपटी नित्यं बुभुक्षातुरः ।
मानी ज्ञानवियेकबुद्धिकलितो यो मर्त्यलोकागतो,
यस्तु स्वर्गपरिच्युतः स सुभगः प्राज्ञः कविः श्रीयुतः ॥९७॥

त्वं स्तोकं निजमानसे विचारय यत्पक्षिजातिरेव विवेकशून्या भवति, तत्राऽपि त्वं तु परं निष्ठुरो निर्मोहश्च लक्ष्यसे । यदि ते किञ्चिदपि विवेकः स्यात्तर्हि प्रातरद्य शब्दं न विदधीत, तदा मेऽपि स्वभर्तुर्वियोगो न जायेत । हे पक्षिराज ! तव तु मयि दयालवोऽपि नाऽऽगतः, परं तव सौन्दर्यं विलोक्य त्वयि मेऽनुकम्पाऽऽगच्छति । लीलावत्या इदं दुःखपूर्णं मर्मस्पृग् वचनं निशम्य कुक्कुटराजस्य स्वपूर्वावस्था स्मृतिपथमागता । तदानीमेव तस्याऽक्षिभ्यामश्रुधारा प्रपतति स्म, स च मूर्च्छामेत्य पिञ्जरे निपतितः। तस्येदृशीमवस्थां निरीक्ष्य क्षुब्धा सती लीलावती पिञ्जरतो निष्कास्य स्वक्रोडे संस्थाप्य विविधोपचारेण तं सचेतनीकर्तुं प्रायतत । तस्मिन् सचेतनीभूते तयाऽऽलपितम्- हे विहङ्गराज ! मया तु सरलस्वभावेनैव सर्वा वार्ता कथिता, त्वयि कोपोऽपि न कृतः पुनस्त्वमित्थं कथमदुःखीयथाः ? मम तु स्वप्रियस्य वियोगदुःखमस्ति, अतो मयेयं सर्वा वार्ता कथिता, परं तवैतादृक् किं दुःखं विद्यते, येन त्वं मूर्च्छितोऽभूः ? अहं त्वसमञ्जसे पतिता मया तु त्वं शान्तिदो ज्ञातः, परं वैपरीत्येन मम तुभ्यमेव शान्तिं दातुं भवति। हे चरणायुधेश ! एतत्समस्तं पश्यन्त्या मयैतदेव लक्ष्यते, यत्त्वं मत्तोऽप्यधिको दुःखी वर्तसे । तावकीनस्यैतद्दुःखस्याऽग्रेऽहं तु

स्वीयं सकलं दुःखं विस्मृतवती । किं त्वं स्वकीयदुःखनिदानं मे न निवेदयिष्यसि ? तदीयामिमामुक्तिमाकर्ण्य तेन निजचरणनखेन भूमौ विलिख्य दर्शितम्- अहमाभापुर्याश्चन्द्राभिधो राजा निष्कारणं विमात्रा कुक्कुटो विहितः, स्वराज्ञ्या गुणावल्या वियोगेन च दुःखाब्धौ पतितो विरहवाडवेनाहर्निशं दह्यमानदेहोऽस्मि । एतदेव मे दुःख- मुख्यकारणं जानीहि ।

किमधिकम्-

तद्वियोगसमुत्थेन, तच्चिन्ताविपुलार्चिषा ।
रात्रिन्दिवं शरीरं मे, दह्यते मदनाग्निना ॥९८॥

पुनरेकेनानेनैव दुःखेन मे दुःखस्यान्तो नास्ति यतो ममेत्थं सर्वत्र नटैः सत्राऽटितुं भवति । कुत्र मे सा पुरी ? क्व च मे तद्राज्यं ? कुत्र च मे सा महिषी ? क्व च सा मनुष्यरूपेण स्थितिः ? क्व च पक्षीभूय क्लेशभोगः, एतत्सर्वं पश्यतस्तु मम दुःखानामन्तो न दृश्यते ।

उक्तमपि-

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं, गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य ।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे, छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति॥९९॥

हे लीलावति ! तव परिणेता विदेशे गतोऽस्ति, स तु जात्वपि पश्चाद्वलिष्यत्येव, परं मम वियोगस्यावसानं भविष्यति न वेतीश्वरो वेत्ति । अयि भगिनि ! मम तु धारणा विद्यते, यत्त्वं मादृग् दुःखभाग् नासि, मम तव च दुःखे गिरिसर्षपयोरिव महदन्तरं वर्तते, मम राज्ञ्या दुःखस्याग्रे तव दुःखमगणनीयमस्ति । अतस्त्वमपि

किञ्चित्तत्त्वमालोचय, यत्केवलमेकदैनिकपतिवियोगेनापि तवैवंविधा दुःखाऽवस्था जाता, तदा चिरकालवियोगवत्या मत्प्रियायाः का गतिः स्यात् ? । यत्सङ्कटोदधितटं न दृश्यते, तद्विपत्प्रवाहे त्वं तु तृणवदतिप्रवहमाना प्रदृश्येथाः । कुक्कुटराजीयामिमां भूमौ नखलिखिताक्षरमालामालोक्य लीलावती किञ्चिन्मनसि धैर्यभागभूदिति तस्यास्तद्दुःखस्याग्रे स्वदुःखमल्पं प्रत्यैयत । ततः सा तमाश्वासयन्त्युवाच- हे राजन् धर्मबन्धो ! भवान् स्वमनसि किमपि खेदं मा कुरुताम् ।

यतः-

नाऽभूम भूमिपतयः कति नाम वारान् ?,
वारानभूम कति नाम वयं न कीटाः ? ।
तत्संपदां च विपदां च न कोऽपि पात्र-
मेकान्ततस्तदलमङ्ग ! मुदा शुचा वा ॥२००॥

यदि भवदीयेष्टदेवेच्छा भवेत्तदाऽह्नायैव भवतः स्वराज्यस्य राज्ञ्यादीनां च प्राप्तिर्भविष्यति । यदि सुदिनं नाऽस्थात्तदाऽयमशुभकालोऽपि चिरं न स्थास्यति ।

यतः-

पातितोऽपि कराघातै-रुत्पतत्येव कन्दुकः ।
प्रायेण हि सुवृत्ताना-मस्थायिन्यो विपत्तयः ॥१॥

अहमद्यतो भवन्तं भ्रातरं मंस्ये, त्वयाप्यहं स्वभगिनी बोद्धव्या, विधात्राऽस्य सम्बन्धस्य स्थापनायैव भवानत्र प्रेषित इति वेद्मि । परमावयोरयं संगमः क्षणिकोऽस्ति, अतो यदा भवतो मनुष्यत्वप्राप्ति-

र्भवेत्तदैकस्य भ्रातुः सम्बन्धेनाऽवश्यं मे दर्शनं देयम् । इदानीं मया यद् रम्यारम्यमुक्तं भवेत्तत्क्षन्तव्यं, अद्य भवन्मिलनेन मे सकलमपि जीवनं सफलं जातं समये स्मरणीयेयं निर्गुणापि भगिनी ।

यतः-

दोषाकरोऽपि कुटिलोऽपि कलङ्कितोऽपि,
मित्रावसानसमये विहितोदयोऽपि ।
चन्द्रस्तथापि हरवल्लभतामुपैति,
नैवाश्रितेषु महतां गुणदोषशङ्का ॥२॥

भवत्पुण्यावलिरावयोराशाः शीघ्रं सफलयतु । एवं कुक्कुट-राजेन सह वार्तालापादिकं विधाय लीलावती तं नटराजसन्निधौ प्रैषयत् । तस्मिन्नागत एव नटेशेनाऽपि मन्त्रिपुत्रो मन्त्रिनिकेतने प्रेषितः, तदनन्तरं तत्र कार्याभावात्क्षिप्रमेव ते नटास्ततः प्रचेलिवांसः। अतःपरं ते नित्यं नवं नवं नगरमेत्य तत्र च राजपरिकरस्य स्वखेलनं दर्शयित्वा चन्द्रराजस्य सत्संगाद् विपुलं पुरस्कारं प्राप्तुं लग्नाः ।

यतः-

किं वापरेण बहुना परिजल्पितेन,
सत्संग एव महतां महते फलाय ।
अम्भोनिधेस्तटरुहास्तरवोऽपि येन,
वेलाजलोच्छलितरत्नकृतालवालाः ॥३॥

बहुषु स्थानेषु कुक्कुटराजकृते तेषां युद्धमपि कर्तव्यमभवत्,

परं साधारणतो जनेभ्यस्तन्नाट्यमत्यरोचत, अतस्ते नटा यत्र यत्र गतास्तत्रैव तेषां धनस्य कीर्तेश्च प्राप्तिरभूत् । इत्थं बम्भ्रमन् स नटवर्गो विमलापुरीं प्रत्यायातः, यत्र च स्थाने वीरमत्या स सहकारवृक्षः स्थापित आसीत्तत्रैव स्थाने नटैर्दूष्याद्यः स्वावास आरोपितः । कुक्कुटराजेन दृष्टमात्र एव तत्स्थानमुपलक्षितं, प्रेमलालच्छ्या सत्रा विवशो भूत्वा परिणयकरणं, तया सार्द्धमपूर्व-वार्तालापभवनं, पुनस्त्वरितमेव तस्या वियोगादिघटनाश्चित्रवत्तस्य समक्षोपस्थिता भवितुं लग्नाः ।

यतः-

तदेवास्य परं मित्रं, यत्र संक्रामति द्वयम् ।
दृष्टे सुखं च दुःखं च, प्रतिच्छायेव दर्पणे ॥४॥

तेन स्वस्वान्ते वक्तुमारेभे-सैवेयं नगरी, यत्रागमनकारणेन मम कुक्कुटभवनं जातम्, सम्प्रत्यहं बम्भ्रमन्पुनरत्रागतोऽस्मि, अतोऽत्रैव मे दुःखस्यावसानं भावीति संभाव्यते । कुत्राऽऽभापुरी क्व च विमलापुरी ? तदाभापुरीत एतावद्दूरमागमनं सुलभं नाऽऽसीत्, परं संसारेऽस्मिन् प्राणिनि जीविते सति किमप्यसम्भवं नाऽस्ति ।

यतः-

दृषद्भिः सागरो बद्ध इन्द्रजिन्मानवैर्जितः ।
वानरैर्वेष्टिता लङ्का, जीवद्भिः किं न दृश्यते ? ॥५॥

यदसम्भाव्यमपि तत्काले दैवेन संभाव्यते, ममात्रागमनेच्छा-प्युत्कटाऽऽसीदिति मत्वैव प्रायो विधात्राऽहं पक्षिरूपेणाऽत्र प्रेषितः।

इतः कुक्कुटाऽधिपे तादृग्विचारमग्नेऽकस्मात्प्रेमलाया वामाक्षिस्फुरणं जातम् । सा तदानीं स्वावासे सखीभिः सह समुपविष्टाऽऽसीत्तयाऽविलम्बितमेव ता गदिताः- प्रियभगिन्यः ! अद्य मे वामेक्षणं स्फुरदस्ति । संभाव्यते यन्मे प्राणप्रियः समेत्य संगच्छेत, ज्ञायते च दुःखदायिवियोगस्यावसानमागच्छेत् । ममोद्वाहस्यापि षोडशाब्दी जाता कुलदेव्याप्युक्तमासीत्, यत्षोडशाब्दे जाते तवास्य वियोगस्यावसानमायास्यति । सम्प्रति सोऽवधिरपि पूर्णो जातः, परमहं न ज्ञातुं शक्नोमि, यदयं योगः कथं भविष्यति ? ।

अथवा-

यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च,
यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म ।
तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च,
तावच्च तत्र च विधातृवशादुपैति ॥६॥

क्व चाभापुरी क्व च मम प्राणनाथः ! इतो गतेन तेन न किमपि वाचिकं न च पत्रादिकं प्रेषितम्, अतो मया कथं मन्तव्यं यत् स मे दर्शनं दातुं कृपां करिष्यति ? परं देव्याः कथनमपि मिथ्या न भवति, यतो लोका अपि कथयन्ति, शास्त्रेऽपि च श्रूयते- 'अमोघं देवभाषितम्' एतस्याऽपि परीक्षा भविष्यति । सकृद् यदाहं चिन्तयामि, यन्मे प्रियः सहस्रक्रोशव्यवधाने विद्यते, तदा मे स्वान्तं नैराश्येन भ्रियते । अपरपक्षे यदा देव्या वचनं स्मर्यते, अद्य जातशुभशकुनं च विचिन्तयामि, तदा लक्ष्यते यदवश्यं कोऽपि लाभो वा मे प्राणवल्लभसङ्गमेन चिरकालिकवियोगदुःखं दूरीकृत्य निजेप्सितसुखावसरो भावी ।

यतः-

तन्न भवति यन्न भाव्यं, भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन ।
करतलगतमपि नश्यति, शिव ! शिव ! भवितव्यता विषमा॥७॥

दृश्यते सम्प्रति किं भवति ? तस्या इदं भाषितमाकर्ण्य सखीभिरुक्तम्- प्रियस्वसः ! तव पुण्यश्रेणी सदैव शुभं करोतु, तव धारणापि फलवती भूयात् । पितृगृहे सुखिन्या अपि स्त्रिया वास्तविकशान्तिसुखप्रदायकं पतिगृहमेवाऽस्ति । पुनर्भवत्या तु चन्द्रराजतुल्यः प्रियो लब्धस्तं स्वजीवने सकृदपि यो द्रक्ष्यति, स कदाचिदपि नो विस्मरिष्यति । भवत्या जपतपश्चर्यादिकमपि बहु कृतं, देव्या दत्तोऽप्यवधिर्दीर्घतरः सन्नपि पूर्णो जातः । अधुना पतिदेवो भवत्या यद्यागत्य मिलेत्तर्हि नात्र कश्चिदप्यलीकः । यथा कालमवाप्योदुम्बरोऽपि फलति, करीरेऽपि पत्रपुष्पादि जायते, शुष्कतडागोऽपि जलैः पूर्यते, तथा भवत्या मनोऽभिलाषः कथं न पूर्णो भविष्यति ?

यतः-

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं,
विद्यापि नैव न च जन्मकृतापि सेवा ।
कर्माणि पूर्वतपसा किल सञ्चितानि,
काले फलन्ति पुरुषस्य यथेह वृक्षाः ॥८॥

इत्थं वयस्याभिर्वार्तालापं कुर्वती प्रेमला यदाऽऽसीत्तदानीमेव कुक्कुटराजस्य पिञ्जरेण सह नटमण्डली राजसदसि समागता। राज्ञो जयशब्दे कृते नटराजेनाऽभिहितम्- राजन् ! तव सौराष्ट्र-

देशस्य विमलापुर्याश्च धन्यवादोऽस्ति चिरादुत्पन्ना मम तद्दर्शनाभिलाषाऽद्य सफला जाता । अनेकदेशेष्वटनं कुर्वद्भिरस्माभिर्द्वे एव नगर्यौ दृष्टे- एकाऽऽभापुरी द्वितीया विमलापुरी च, जगति कापि पुरी अनयोः सादृश्यं प्राप्तुं नार्हति । इत्थं विमलापुर्या बहुश्लाघां विधाय नटैर्नाट्यविधानमारेभे- ते प्रथममेकं स्थानं संमार्ज्य तत्र पुष्पाणां राशिं कृत्वा, तत्र कुक्कुटराजस्य पिञ्जरं संस्थाप्य, चानन्तरं प्रलम्बमेकं वंशमारोप्य, तं रज्जुभिर्दृढं बबन्धुर्येनेतस्ततो न चलेत् । प्रगुणिते नाटकीयातिसुन्दरसर्वोपकरणे शिवमाला भूषणवस्त्राद्यैः सुसज्जिता सती पुंवेषं निर्माय वंशपार्श्वे समेत्य तस्थौ, तस्याः परमाद्भुतां लावण्यसम्पत्तिं वीक्ष्य समाकृष्टचेतसः सकलसभासदश्चकिता बभूवुः ।

यतः-

गुण आकर्षणयोग्यो, धनुष इवैकोऽपि लक्षलाभाय ।
लूतातन्तुभिरिव किं, गुणैर्विमर्दासहैर्बहुभिः ॥९॥

मकरध्वजराजोऽपि स्वान्ते तस्या नितान्तं श्लाघां कर्तुं प्रवृत्तस्तेन प्रेमलालच्छ्यपि खेलावलोकनायाऽऽकारिता । तया पूर्वमेव श्रुतमासीत्, यदाभापुर्याः कतिचिन्नटा इह समागताः सन्ति, ते च स्वक्रीडां दर्शका विद्यन्ते, अतः साऽपरिमितसखीभिस्तदानीमेवोपराजसभमागता, अत्यौत्सुक्येन च तेषां खेलां द्रष्टुमुपविष्टा सहर्षा । यथासमयं कुक्कुटराजस्यादेशमादाय शिवमालाप्याश्चर्यजनकं स्वनाट्यं दर्शयितुं प्रावर्तत । सा वंशं तद्रज्ज्वाश्रयेणारुह्य, नानाविधमासनं नृत्यं व्यायामं च कृत्वाऽदीदृशत् । तदद्भुतकलाकौशलं नेत्रपुटैर्निपीय मुक्तकण्ठं सभ्यास्तां प्रशशंसुः ।

यतः-

निष्कलङ्ककलयापि जनो यः, संयुतः स खलु पूज्यते जनैः।
भद्र! पश्य जडजोऽपि धार्यते, शङ्करेण शिरसा निशाकरः ॥१०॥

वंशादुत्तरिते सा भूजार्नि प्रणम्यैकत्र स्थिता सर्वतः, प्रथमं राज्ञा तस्यै पुरस्कारं दत्त्वा सा सम्मानिता। ततः परितो रूप्यक-वस्त्रभूषणादीनां जनताहस्तमुक्तवृष्टिः पपात, पश्यतामेव जनानां तदग्रे सर्ववस्तूनां महती राशिरभूत्। तदैव कुक्कुटराजस्य दृष्टिः प्रेमलायामपतत्तां दृष्टमात्र एव स उपलक्षितवांश्च षोडशवर्षा-नन्तरं स्वप्रियां निरीक्ष्य स्वात्मनि परां मुदमाप। जडवस्तुनश्वर-णाभावादन्येन तस्य दूरत्वात्संगमोऽसम्भवः, परं मानवानां चरणौ भवतस्तस्मात्सहस्रक्रोशव्यवधाने सत्यपि ते चेदिच्छन्ति तर्हि तेषा-मतिदुर्लभोऽपि प्रियसङ्गमो भवत्येव। प्रेमलां दृष्ट्वा कुक्कुटराजेन मनसि ध्यातम्- किं कुर्याम्? अधुनाऽहं विहङ्गभूतोऽस्मि, अन्यथा तु यथेच्छमानन्दमनुभवेयम्। पुनर्मम प्रसूः कोटिवर्षाऽऽयुष्का भूयात्, ययाऽहं कुक्कुटो विरचितः, इतरथाऽत्र कथमहमेत्य स्वप्रियया मिलेयम्? एतेषां नटानामपि शुभं भूयात्, यैः सर्वत्र मे श्लोकं गायद्भिरहमत्राऽऽनीतः। अद्य मयाऽवश्यं कस्यचित्पुण्या-त्मनो मुखमीक्षितं यतोऽद्यैतावच्चिरान्मे प्रियाया दर्शनं जातम्। अद्य ममाशुभकर्मक्षयाद् वियोगावसानमागत्य संयोगस्यारम्भो-ऽजनि।

उक्तमपि-

स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते।

स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥११॥

अद्यतनं दिनं मत्कृतेऽत्युत्तममस्ति, अतःपरं चेदेभ्यो जाया-जीवेभ्यो लात्वा प्रेमला मां निजपार्श्वे स्थापयेत्तर्हि मे पुनर्मनुष्यत्व-प्राप्तिः संभाव्यते, ममाऽखिलो मनोरथश्च सेत्स्यति । परमेषा वार्ता तदैव भविष्यति, यदा शिवमाला सहर्षं मां प्रेमलायै दद्यात् । यदा ताम्रचूडाऽधिप इत्थं विचारोदधौ निमग्न आसीत्तदैव प्रेमलाया दृक्पातस्तदुपर्यपतत् । ततः कृशाश्विनश्वरणायुधाधिपं प्रणमतो विलोक्य प्रेमलाया मनस्याश्चर्यमुदपादि तदा दत्ताऽवधाना सा कुक्कुटराजं विलोकितुं लग्ना, सोऽपि तत्संमुखं द्रष्टुं लग्नः । उभयोर्नेत्रे मिलिते सत्येवोभौ तथा प्रेम्णा मिथो गुम्फितौ यथोभयोः स्वशरीरादेरपि ज्ञानं नाऽतिष्ठत् ।

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्य विंशपरिच्छेदे कुक्कुटराजे प्रेमलायाः प्रेमभवनम्-

अथोभयोर्मिथश्चक्षुर्मिलने सति तयोश्चक्षुषी षोडशवर्षैश्चन्द्र-चकोरयोरिव मिथो मिलनेच्छायाः प्रभूतत्वान्निर्निमेषेऽभूताम् । यथा-

स्मरतोरभिलाषकल्पितान्, बहुशः स्वप्नभुवः समागमान् ।
अपि दृष्टिपथं प्रपन्नयो-र्निविशश्वास चिरं मनस्तयोः ॥१२॥

तदानीं स्वदृष्टिपरावर्तने चैकतरोऽपि नैव समर्थोऽभवत्, भरतैरनेकविधमाख्यानं विमलापुरीशमकरध्वजाय राज्ञे गायनेनाऽश्रावि, यन्निशम्य राजा परां मुदमाप । अस्मिन्नेव काले तन्मनोऽभिताम्रचूडमाकृष्टमभूत्, तस्मिन्दृष्टमात्र एव तन्मानसे राजहंसवत्तं प्रति हार्दभावः प्रादुर्बभूवेति नृपेण निजोपान्ते पिञ्जरमानाय्य कुक्कुटं च बहिर्निष्कास्य स्वाङ्के संस्थाप्य स्नेहं विधातुं प्रचक्रमे । तदनन्तरं प्रेमाधिक्येन प्रेमलयाऽपि स स्वक्रोडे स्थापितस्तच्छरीरस्पर्शेन वियोगविधुरः कुक्कुटोऽपि नितरां जहर्ष, पुनः स्वान्तरिकवियोग-दुःखकथनाशक्यत्वान्मनसि खेदमपि जगाम ।
यतः-

समानकुलशीलयोः सुवयसोः परायत्तयोः,
परस्परविलोकनाकुलितचेतसोः प्रेयसोः ।
तनुत्यमनुविन्दतोर्बहुविधिं व्यथां विन्दतो-
रशक्यविनिवेदना विरहवेदना वर्धते ॥१३॥

स यथा तद्धृदये प्रवेशाय यतमानो भवेत्, तथा तद्धृदयं चञ्च्वा प्राहरत्तथापि प्रेम्णा प्रेमला तत्पृष्ठं करेण प्रोञ्छाञ्चकार । पिञ्जरतो बहिर्भूतोऽपि स प्रेमलाया हृत्पिञ्जरेऽवरोधितः, साऽपि तत्स्नेहकरणे मग्ना बभूव । तस्याः पार्श्वे तिष्ठासुरपि स वचनशक्त्य-भावात्किञ्चिद् वक्तुं न प्राभवत्तथापि तेनाऽनेकविधां प्रेमचेष्टां विधाय तन्मनोऽपहृतम् । तत्त्वतः सा मनसा कायेन च तस्य स्नेहं कर्तुं लग्ना, चिरान्महाराजेन कुक्कुटं पिञ्जरं पिधाय नटेभ्यः समर्पितस्सः । सहैव तेन पृष्टम्- भवद्भिः कुतोऽयं लब्धः ? तैर्जल्पितम्-इतोऽष्टादशशतक्रोशमिते दूरे देवपुरीवाऽऽभापुरी नाम नगर्यस्ति, तत्र राजा चन्द्रो राज्यं शास्ति स्म, परं तस्य विमात्रा वीरमत्या छन्नीकृतोऽस्माभिः स न दृष्टः, वीरमती तु राज्यं कुर्वती दृष्टा । अस्माकं क्रीडां विलोक्य प्रसन्नया तयाऽयं ताम्रचूडः पारितोषिकतया दत्तः । राज्ञश्चन्द्रस्य महिष्या गुणावल्याऽयं पालित आसीदिति श्रुतम्, सा चाऽस्योपरि महास्नेहं विहितवत्यासीदिति सा कथमप्येनं दातुं न प्रसेदुषी । परमेकदास्मिन् वीरमती रुष्टा सती मारणायोद्युक्ता दयालुभिर्वारिता, अयं च कृपया मरणाद्रक्षितः। यतः-

यदि ग्रावा तोये तरति तरणिर्यद्युदयति,
प्रतीच्यां सप्ताचिर्यदि भजति शैत्यं कथमपि ।
यदि क्ष्मापीठं स्यादुपरि सकलस्यापि जगतः,
प्रसूते सत्त्वानां तदपि न वधः क्वापि सुकृतम् ॥१४॥

ततः कुक्कुटेन मृत्युदुःखान्मदात्मजा संबोधिता, तस्याश्च

कथनेनाऽस्माभिरयं मार्गितः । इदं सकलं बलमस्यैव वर्तते, अस्माभिः समस्तैरेनं स्वभूपतिं मत्वाऽस्य दासत्वमङ्गीकृतमस्ति। अद्य नवाब्देभ्यो भ्रमन्तो वयमत्रागताः स्मः, तस्येदं वृत्तं निशम्य सौराष्ट्राधिपो राजा मकरध्वजः प्रससाद । प्रेमलाऽपि तन्नामा-ऽऽकर्ण्य मुमुदेतरामिति तस्याः स कुक्कुटोऽतिप्रियो भवितुं लग्नः, परं राजा चन्द्रः सम्प्रति कुक्कुटरूपेणाऽवर्तत, अतः सा तं ज्ञातुं न प्रबभूव । यदेयं नटमण्डली राज्ञो मकरध्वजस्य सविधे समायाता तदा प्रावृडारम्भोऽपि बभूव, इतीतस्ततो भ्रमणमशोभनं मत्वा नटराजेन प्रोक्तम्- राजन् ! भवदादेशश्चेच्चातुर्मास्यं वयमत्रैव व्यतीयामः । तदा प्रसत्तिभाजा सादरं राज्ञाप्यभिहितम्-सुखेन भवन्तोऽत्र स्थातुमर्हन्ति । ममाप्यनेन परा मुद् भविष्यति, यतो मे भवद्भिर्भवदीयकुक्कुटेन चातिप्रेम जातमस्तीति राज्ञः कथनमवधार्य तत्रैव तस्थिवांसो नटाः प्रत्यहं राजसमितौ समेत्य गायनकलया नृपादीनां मनो रञ्जयामासुः । अथान्यदा राज्ञा मकरध्वजेन प्रेमलां प्रत्युक्तम्-प्रियपुत्रि ! पूर्वं तव कथनमसत्यं जानतो मेऽधुनाऽक्षर-शस्तथ्यं प्रतिभाति । तथ्यं त्विदम्-कर्मणा यत्क्रियते तत्केनाऽपि कर्तुं न शक्यते । प्राणिमात्रेण सुखदुःखयोरनुभवं पूर्वकर्मैव कारयति। यतः-

यथा धेनुसहस्रेषु, वत्सो विन्दति मातरम् ।
एवं पूर्वकृतं कर्म, कर्त्तारमनुधावति ॥१५॥

नात्र सन्देहलेशोऽपि यत् परमात्मना कयाचिदपेक्षया कर्मैव कर्तृरूपेण परिणतीचक्रे । वत्से ! तव भर्तातिदूरे वर्तते तेन

साक्षात्संगमस्त्वसंभाव्यः, परं चेत्त्वं कथयेः, तदा नटपार्श्वादमुं ताम्रचूडं नीत्वा ते ददानि । तल्लालनपालनादौ त्वं संलग्ना स्थास्यसि, तेन तव दिनानि सुखेन निर्गमिष्यन्ति । एतदृते वयं कर्तुमेव किं शक्नुमः ? दैवसमक्षे केषाञ्चित्किमपि बलं नास्ति । यतः-

कर्मणो हि प्रधानत्वं, किं कुर्वन्ति शुभा ग्रहाः ? ।
वशिष्ठदत्तलग्नोऽपि, रामः प्रव्रजितो वने ॥१६॥

यतः कर्मणां गतिर्विचित्राऽस्ति, इष्टं वैद्योपदिष्टमिव तमिच्छन्त्या तया तातोदितं श्रुत्वाऽतिनिर्बन्धेन व्याहृतम्- पूज्यपितः ! अहं तु स्वयमेव भवते तदर्थं प्रार्थयामि । यथा भवेत्तथाऽवश्यं मेऽमुं तत्रत्यताम्रचूडं दापय । अयं मत्पतिगृहखगो वर्तते, अतो मेऽयं परं प्रियः प्रतिभाति, एनमतिथिं मत्वा स्वासन्ने रक्षितुमिच्छामि। ततोऽनुकम्पया कथञ्चिन्नटान् प्रबोध्य तत आनीय स दीयताम् । राज्ञा झटित्येव निजभृत्येनाऽऽकारितोऽग्रेसरो नटस्तदानीमेवोपराजमागत्योपस्थितोऽभूत् । भूपतिना परमादरेण तं प्रति जल्पितम्-भोः शिवकुमार ! तव सार्थे योऽयं कुक्कुटोऽस्ति, स मे दुहितुः पतिगेहस्य वर्तते । इयं वार्ता गुप्ततमाऽस्ति, यतोऽतिस्पष्टतया कामपि वार्तां कर्तुमशक्तोऽस्मि, परमेतज्ज्ञापने मम काप्याप्तिर्न विद्यते, यदद्य षोडशाब्दे गते मया त्वदास्याद् राज्ञश्चन्द्रस्य प्रवृत्तिः श्रुता । प्रेमलाया अप्ययं चरणायुधश्चित्तरञ्जकोऽस्ति, यतोऽयं तच्छ्वशुरगृह्यको विद्यते । अतश्चेत्त्वमिमं देयास्तदा न केवलं तवोपकारमेव मंस्ये, अपि तु तवोदितं सर्वमस्य प्रतिदानं दास्यामि।

यद्यप्यत्र विषये मम किमपि प्रभुत्वं नाऽस्ति, तथापि त्वमेकः पुरुषरत्नमतो विश्वासोऽस्ति, यत्त्वं मदीयेच्छां निश्चयं पूरयिष्यसि। यतः-

उत्तमोऽप्रार्थितो दत्ते, मध्यमः प्रार्थितः पुनः ।
याचकैर्याच्यमानोऽपि, दत्ते न त्वधमाधमः ॥१७॥

नृपोक्तं निशम्य नटोऽवोचत- धराधिप ! अयं कुक्कुटस्त्व-स्माकं सर्वस्वमस्ति । स कथमप्यस्माभिर्दातुं न शक्यते, पुनरपि वयं गत्वा तं कुक्कुटं प्रार्थयामः । चेत्तस्याऽत्राऽऽवासेच्छाऽभविष्य-त्तदा तमत्राऽवश्यं सहर्षममोक्ष्याम । इति कथयित्वा शिवकुमारः स्वोत्तारकमेत्य शिवमालासमक्षे कुक्कुटराजाय सर्वं वृत्तं न्यवेदयत्। तदाऽऽकर्ण्य प्रमोदं प्राप्तः स मानसे ध्यातवान्- इदं तु सुशोभनं जातमातुराऽनुकूलं वैद्योपदिष्टमिव । अस्य राज्ञः, एतन्नगरस्य, अस्याः कामिन्याश्च संयोगं विनाऽस्य मिलनसौभाग्यस्य कदा संभव आसीत् ? एतत् कस्याप्युरुश्रेयसः फलं बोद्धव्यम् । यतः-

कुलं विश्वश्लाघ्यं वपुरपगदं जातिरमला,
सुरूपं सौभाग्यं ललितललना भोग्यकमला ।
चिरायुस्तारुण्यं बलमविकलं स्थानमतुलं,
यदन्यच्च श्रेयो भवति भविनां धर्मत इदम् ॥१८॥

चेच्छिवकुमारो मामत्रैव मुक्त्वा गच्छेत्तदा चारुतरं स्यात्। तदानीमतिप्रसत्तिभाजं कुक्कुटं विलोक्य विदिततद्भावा शिवमाला खिन्ना भूत्वा तं प्रति वक्तुमारेभे- स्वामिन् ! ममैतादृशः को

मन्तुरभूत् ? येन मय्यसन्तुष्टो भवान्, मया जात्वपि भवत्सुसेवायां त्रुटिर्न कृता, सदैव स्वप्राणवद् भवान् रक्षितः । ज्ञातेऽज्ञाते च न किमप्यपराद्धम्, भवत्कृतेऽनेके राजानो महाराजादयश्च मय्यप्रसन्ना जातास्तथापि शिरसि निधाय भवन्तं चतुर्दिक्षु भ्रान्ता । जगति घटिकामात्रकृतेऽपि केनचित्सम्बन्धो जायते, स तु तस्य जीवननिर्वाहं करोति, पुनरावयोर्नवाब्दिकस्य प्राचीनः सम्बन्धो विद्यते, एवं सत्यपि मया न ज्ञायते यदद्याकस्मिकोऽस्येष्टसम्बन्धस्य विच्छेदो भवता कथं क्रियते ? हे पक्षिराज ! भवदादेशेन मया वीरमतीपार्श्वे-ऽन्यं पुरस्कारमयाचित्वा भवन्मार्गणमेवोरीचक्रे, भवता चाप्यद्य यावदस्मासु दृढस्नेहो रक्षितः, परमद्याकस्माद् भवान् कुतोऽस्माभिः पृथग् बुभूषुरसि ? भवति गते मम सेवायाः प्रत्युपकारफलदायी कः स्यात् ? किं भवान् कस्यचिद्वञ्चकस्य वचने समायातोऽस्ति ? अन्यथा पुनरीदृशो निःस्पृहः कथं भवेत्? यद्येवमेव कर्तव्यमासीत्तदा पूर्वमेतावनस्माकं स्नेहः कथं दर्शितः? शिवमालाया दुःखपूर्णमदः कथनं निशम्य कुक्कुटराजेन स्वगिरोक्ता सा-शिवमाले ! त्वमेवं कथं कथयसि ? नाहमज्ञः किन्तु सर्वं जानामि, सतां वियोगः प्रतिक्षणं शूलवद् हृदयं दुनोति ।

यतः-

अत एव हि नेच्छन्ति, साधवः सत्समागमम् ।
यद्वियोगासिलूनस्य, मनसो नास्ति भेषजम् ॥१९॥

परं तेषां हार्दं तु जात्वपि न मुच्यते, पुनस्तव स्नेहस्तु तस्मादसाधारणप्रेम्णोऽप्यधिकोऽस्ति । अत्र त्वत्स्नेहे तूपकारस्या-

प्यंशो वर्तते, अतोऽमुं स्नेहं त्वहं कथमपि न विस्मर्तुं शक्नोमि ।
यतः-

उपकारः कृतोऽल्पोऽपि, सतां याति न विस्मृतिम् ।
करम्बभोजनं वध्याः, कुमारनृपतेरिव ॥२०॥

त्वया मयि या योपकृतिः कृता सा मम सम्यक् स्मृतिरिति तव स्वाऽऽस्येन निजवर्णनस्य प्रयोजनं नास्ति । पुनर्नवाब्दिक-स्नेहस्य परित्यागोऽतिदुष्करो वर्तते, तव संगो मे भाग्येन जातः, एवंभूतसंगस्य परित्यागो मूर्खेणैवेष्यते, परं हे नटपुत्रि ! एतत्सर्वं जानन्नप्यहमेतत्कृत्यं कर्तुं कथमुद्यतोऽस्मि, तस्य मुख्यकारणं ते ज्ञापने काप्यापत्तिर्न विद्यते । शृणु-अत्रत्य राजकुमार्याः प्रेमलायाः परिणयो मया सहैवाऽजनि, अस्यैवोद्वाहस्य कारणेन मे विमात्रा रुष्टभूतयाऽहं खगो विहितः । सम्प्रत्यस्य वृत्तस्य स्मृतिमात्रेणैव मे हृदयं विदीर्यते, परं दैवेन दत्तं सुखं दुःखं वा सोढव्यमेव भवति निखिलचराचरैर्जगति ।
यतः-

च्युत्या नृपतिकिरीटा-त्पतितं भूमौ तिरोहितं रजसा ।
विधिविलसितेन रत्नं, जनचरणविडम्बनां सहते ॥२१॥

त्वया वीरमतीतो विमोच्याऽहमत्राऽऽनीतः, अतस्तवोपकृति-रवश्यं मया मन्यते, परं प्रेमला मद्वियोगेन दुःखीयतेतराम् । तस्या इदमपि ज्ञातं न, यदिह जन्मनि पुनः पतिसंगमो भविष्यति न वेति ? अतोऽत्र मे स्थातुमिच्छा भवति, किन्त्वेतत्कार्यं तदैव संभाव्यते, यदा त्वमेतदर्थं सहर्षं मामादेशं विदधीथाः । त्वां

दुःखिनीं कृत्वा वा त्वदिच्छाविरुद्धोऽहमत्र स्थातुं नेच्छामि। त्वदुपरि मे किञ्चिद् बलमपि नाऽस्ति, मां तु त्वं यत्र नेष्यसि, तत्रैव मे गन्तव्यं भविष्यति। यथाऽजापालकोऽजायाः कर्णं धृत्वा यत्र तां नयति, तत्रैव तस्या गमनीयं भवति। कुक्कुटस्येदं वचनमाकर्ण्य शिवमाला म्लानाऽऽस्या जाता, तस्या उभाभ्यामक्षिभ्यां वारिधारा निःसर्तुं लग्ना। अथ हृदयं निरुध्य तयोक्तम्- हे आभानरेश! भवान् प्रेमलायाः प्राणाधारोऽस्तीति वृत्तं मे विदितं नाऽऽसीत्। अधुना मया ज्ञातुं शक्यते, यदत्र स्थितौ भवतस्तस्याश्च कल्याणमस्ति। साम्प्रतमहं भवतामस्मिन् कार्ये विरोधिनी न भविष्यामि। यतः-

मा गा इत्यपमङ्गलं व्रज इति स्नेहेन हीनं वच-
स्तिष्ठेति प्रभुता यथारुचि कुरुष्वेत्यप्युदासीनता।
किं ते साम्प्रतमाचराम उचितं तस्योपचारं वचः,
प्रस्थानोन्मनसीत्यभीष्टमनुजे वक्तुं न शक्ता वयम् ॥२२॥

भवन्तं चेह सहर्षं मुक्त्वा गमिष्यामि। मम सहवासेन भवान् स्वप्रियया मिलन्नसि, एतन्मत्कृतेऽल्पानन्दस्य विषयो नाऽस्ति, अनेन मे सर्वा सेवा सर्वश्च परिश्रमः सफलो जातश्च स्वशुश्रूषणस्यैतत्फलं विलोक्य स्वजीवनमपि धन्यं मन्ये। इत्थमुभयोर्वार्तालापः प्रवर्तमान आसीत्, अत्राऽन्तर एव दुहितुरनुरोधेन राजा मकरध्वजः स्वयमेव तत्रागतवान् शिवकुमारेण च तस्य परमादरः कृतः। ततोऽवनीपेनाऽऽसनग्रहणानन्तरं शिवकुमारं प्रत्यभिहितम्- अहं तं कुक्कुटमादातुमेव भवत्पार्श्वे समायातोऽस्मि। चेद् भवता सहर्षं

स दास्यते, तदाऽहं मंस्ये, यद् भवता मद्वचनं मत्वा मद्दुहितुर्जीव-दानं दत्तम् । एतदर्थमहं भवतश्चिराय ऋणी भविष्यामि, अतोऽधिक-मन्यं मया किं वक्तव्यम् ? नटराजेनोक्तम्- राजन् ! भवानमुं विहङ्गमं साधारणं न जानातु । मद्बोधे त्वयमाभानरेश एवास्ति, अत एतावत्कालमेतद्दानस्येच्छा नाऽऽसीत्, परं यदा भवानेव स्वयमेतदर्थमायातस्तदा तद्दानास्वीकारमपि मे नोचितम् । ममा-ऽवस्था तु साम्प्रतमुभयतः स्पाशारज्जुरिव जायमानाऽस्ति । अत्रान्तर एव शिवमालया भाषितम्- देव ! अस्यैव कृते न जाने कियन्तो राजानो महाराजाश्चास्मास्वसन्तुष्टाः सन्ति, कियन्तश्च शात्रवं बद्ध्वा स्थिताः । अस्य पृष्ठेऽस्माभिर्बहुकष्टमपि सोढं, अत एतदर्पणार्थमनिच्छाभवनं स्वाभाविकमस्ति । परं भवत्तनया प्रेमला स्नेहला मम सत्या वयस्या विद्यते, इत्यहमेतद्विश्राणने-ऽस्वीकारं कर्तुं न शक्नोमि । यतो नीतिशास्त्रेऽपि षड्विधं सुप्रीति-लक्षणं समुदितम् ।

यतः-

ददाति प्रतिगृह्णाति, गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भुङ्क्ते भोजयते चैवं, षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥२३॥

राजन् ! भवान् सुखेन नयतु, युवयोः सदैव शमस्तु । अस्य प्राणेभ्योऽप्यधिका रक्षा कर्तव्या, आभानरेश एवायं बोद्धव्यश्च। अमुं सामान्यं पक्षिणं मत्वाऽस्य रक्षणे प्रमादो न विधेयः, अनेन भवत्सुतायाः सकलमनोवाञ्छापूर्तिर्भविष्यति । इत्याभाष्य नत्वा शिवमालया कुक्कुटराजो राज्ञो मकरध्वजस्य हस्ते समर्पितः ।

राजा तं प्राप्य मोदमानो नटराजस्य कृपालुतां कीर्तयन् स्वाऽऽवासमाजगाम । ततो राजा प्रेमलां स्वनिकटे समाहूय प्रोवाच-प्रियपुत्रि ! त्वदर्थमिमं ताम्रचूडं समानीतवानस्मि । अयं त्वया यत्नेन रक्षणीय इति कथयन् राजा कुक्कुटराजस्य पिञ्जरं स्वहस्तेन प्रेमलायै समर्पयामास । ततो यथा कश्चिन्निस्वश्चिन्तामणिं कल्पतरुं वाऽऽसाद्यातिमोदेत तथैव साऽपि तमपूर्वकुक्कुटराजं प्राप्य तदर्थं नटान्प्रति वारंवारं धन्यवादं ददाना मुमुदेतराम् ।

अथ श्रीचन्द्राराजसंस्कृतचरित्रस्यै-कविंशपरिच्छेदे सूर्यकुण्डे कुक्कुटस्योद्धारः-

प्रेमलाया जनकेन कुक्कुटस्य पिञ्जर आसादित एव तया ततस्तं बहिर्निष्कास्य पाणौ चोपवेश्य तत्समक्षे नैजं दुःखं वक्तुमारेभे- हे कुक्कुट! त्वं मे श्वशुरालयस्य महोत्तमः पक्षी वर्तसेऽद्य षोडशाब्दे तत्रत्यप्राणिना सह मम समागमो जातस्तव नगरस्य भूपो मे पतिरस्ति, परं यथा भिक्षुकेन रत्नं हारितं तथैव मयाऽपि स कराद् गमितः। तद्वियोगदुःखसन्तापशुष्कान्मे शरीरादस्थीनि निर्गतानि तथापि तस्य दर्शनं नाऽभूत् ।

अत उक्तम्-

परार्थानुष्ठाने जडयति नृपं स्वार्थपरता,
परित्यक्तस्वार्थो नियतमयथार्थः क्षितिपतिः ।
परार्थश्चेत्स्वार्थादभिमततरो हन्त! परवान्,
परायत्तः प्रीतेः कथमिव रसं वेत्तु पुरुषः ॥२४॥

मयैतादृशः को मन्तुः कृतो येन तेनाऽद्यावधि मच्छुद्धिरपि न कृता? स मां परिणीयैकस्य कुष्ठिनो हस्ते समर्प्य गतः। एतेन तत्प्रतिष्ठायां कथमपि वृद्धिर्जाता भवेदित्यहं न वेद्मि, प्रत्युतैतेन मम जीवनं नष्टमभूत्। तस्मा एतत्सर्वं केन शिक्षितम्? चेदसौ गृहभारोत्थापनेऽशक्त आसीत्तदा तेन पाणिग्रहणमेव कथं कृतम्? करपीडनानन्तरमेव मत्तो रुष्टः कथं जातः? हे पक्षिराज! मया तु तव राज्ञा तुल्यो निःस्पृहोऽन्यो नरो जगति दृष्ट एव न

हि। विवाहादर्वाक् तेन कदाचित्पत्रेणाऽपि ममोदन्तो न पृष्टः, कुत्र साऽऽभापुरी क्व चेयं विमलापुरी ? उभयोरियदन्तरं विद्यते, यत्तत्र मनसोऽपि गतिर्न संभाव्यते, तथाऽपि मन्नाथेन यथा व्यवहृतं, तथा कश्चिच्छत्रुरपि न करिष्यति । नाऽसावत्राऽऽगन्तुमर्हति, न चाहं तत्र गन्तुं शक्नोमि, अस्यामवस्थायां मदीयदिनानि कथं निःसरिष्यन्ति ? ।

यतः-

पदन्यासो गेहाद्बहिरहिफणारोपणसमो,
निजावासादन्यद्भवनमपरद्वीपतुलितम् ।
वचो लोकालभ्यं कृपणधनतुल्यं मृगदृशः,
पुमानन्यः कान्ताद्विधुरिव चतुर्थीसमुदितः ॥२५॥

पुनरस्मिञ्जगति मयैतादृशः परोपकारिजनोऽपि न दृश्यते, यो मत्प्रियोपान्ते गत्वा तं बोधयित्वा तस्य निष्ठुरं स्वान्तमार्द्रयेत्। षोडशाब्दे गतेऽपि यन्मानसे स्नेहो नाऽजनि, तस्य कठोरमनसं विनाऽन्यत्किं वाच्यम् ? मम पित्राऽपि तत्पृष्ठे मे बहु कष्टं दत्तम्, परं तन्न्यायमहं केन कुत्र च कारयेयम् ? अस्मिन् जगति स्नेहविधानं सुलभं परं तन्निर्वाहो दुष्करोऽस्ति । पुनर्यस्य मानसे प्रेमैव न, तेन सार्धं प्रेमकरणं तु ज्ञात्वा दुःखनिमन्त्रणमिव भवति। त्वं तद्गृहखगोऽसीति, त्वामवलोक्य मे मानसं पुलकितायमानं जातम् ।

यतः-

यं दृष्ट्वा वर्द्धते स्नेहः, क्रोधश्च परिहीयते ।

स विज्ञेयो मनुष्येण, एष मे पूर्वमित्रकः ॥२६॥

अतस्तव समक्षेऽहं हृदयमुद्घाट्य निजदुःखं विलपामि। तवाऽवलोकनेन मे स्वान्तस्य बहुशान्तिप्राप्तिर्भवति । पुनर्ममैवं ज्ञातं भवति, यथाऽहं स्वप्रियमेव किं न पश्यामि ? परं हे पक्षिराज! त्वमपि तद्वदेव निष्ठुरो न भवेः, यतो ब्रुडतस्तृणाश्रयोऽपि बलिष्ठो भवति ।

यथोक्तम्-

उत्तिष्ठेत्यपि सद्वाक्यं, पततो वै यथा बलम् ।
तथैव ब्रुडतोऽपि स्या-त्तृणालम्बं परं बलम् ॥२७॥

अपि च-

वियोगविधुरायास्तु, पत्युर्नामापि मुत्प्रदम् ।
किं पुनस्तत्प्रियं वस्तु, सुयोग्यं शुभलक्षणम् ॥२८॥

प्रेमलायाः प्रेमपुष्टमिदं वचनं निशम्य कुक्कुटराजस्य हृदि महानेव तत्प्रभावः पतितः, परं पक्षित्वात्स तदुत्तरं दातुं न शशाक। इत्थं सौभाग्येन दम्पत्योः संगमे जातेऽपि कर्मजेन महदन्तरेण तयोस्तेन कोऽपि लाभो नाऽभूत् ।

यतः-

क्वचित्पाणिप्राप्तं घटितमपि कार्यं विघटय-
त्यशक्यं केनापि क्वचिदघटमानं घटयति ।
तदेवं सर्वेषामुपरि परितो जाग्रति विधा-
वुपालम्भः कोऽयं जनतनुधनोपार्जनविधौ ॥२९॥

यदा प्रेमोन्मत्ता प्रेमला कुक्कुटराजाग्रे दुःखोक्त्या निज-

मानसं दुःखमुक्तं विदधानाऽऽसीत्तदैव तत्र शिवमालाऽऽगता, तया ताम्रचूडं स्वाङ्के निधाय तच्छरीरे सुगन्धिद्रव्येण संसिच्य तत्सन्निधौ सुखभक्षिकामिष्टान्नादि रक्षितं, तं तोषयितुं मधुरस्वरेण गायनं श्रावितम् । इत्थं कुक्कुटं प्रसादयित्वाऽनन्तरं तया प्रेमलां प्रत्यालपितम्-भवती चतुरो मासान् यावदमुं कुक्कुटं स्वीयपार्श्वे रक्षतु। चतुर्मास्यां व्यतीतायां यदा वयमितो गन्तुका भवेम तावद् भवत्यस्य पालनं सप्रेम करोतु । अहमप्यत्र प्रत्यहमेनमवलोकयितु-मायास्यामि। चेच्चतुर्षु मासेष्वनेन भवत्याः कामः पूर्णो भवेत्तदैत-स्याऽत्र मोचने मम काप्यापत्तिर्न भविष्यति ।

इत्थं शिवमाला रहस्यगर्भितां वाचमुक्त्वा स्वावासमायाता, परं सरलाशया प्रेमला तद्वार्ताया रहस्यं नाऽबोधि । सा तु कुक्कुटं क्रोडे कृत्वा भूयो भूयः पूर्ववत्तस्य भोजनलालनादिकरणे तन्मयी जाता, इत्थं कुर्वती बहुदिनानि गमयामास । प्रेमला सदैव कुक्कुटराजं स्वसमक्षे रक्षन्ती तद्भक्तिं विदधाना तदग्रे समुपविष्टा शीतोच्छ्वासं मुञ्चन्ती लोचनाभ्यामश्रुधारां वर्षन्ती गद्गदगिरा निजकष्टं प्रकाशयामास । तदानीं प्रावृट्त्वादाकाशे कादम्बिनी व्यानशे विद्युद् विद्योतते स्म घनगर्जनं वृष्टिश्च प्रावर्तत। अनया वृष्ट्याऽखिले जगति प्रशान्तेऽपि विरहवह्निना दन्दह्यमाना सा प्रेमला त्वधिकं संतप्ता जाता ।

अत उक्तम्-

गर्जति वारिदपटली, वर्षति नयनारविन्दमबलायाः ।
भुजवल्लिमूलसेके, विरहलता पल्लवं तनुते ॥३०॥

अतस्ताम्रचूडाभ्यर्णे विविधवचनैर्नैजं दुःखं प्रकटयाञ्चकार। शिवमालोक्त्या कदाचित्तस्या भ्रमोऽप्युदपादि, यदयमेव मत्प्रियोऽस्ति, अतः सा पतिमोहवशेन सबाष्पलोचना वक्तुं प्रावर्तत-प्रिय! अत्रागतेऽप्यधुनेयानन्तरः कथम् ? अन्यदा चातुर्मास्यां पूर्णकल्पायां प्रेमलया सर्वसौख्यदा सिद्धाचलयात्रा मनसि स्थिरीकृता । तत्फलं शास्त्रेऽपि तथा चोक्तम्-

आरम्भाणां निवृत्तिर्द्रविणसफलता सङ्घवात्सल्यमुच्चै-
र्नैर्मल्यं दर्शनस्य प्रणयिजनहितं जीर्णचैत्यादिकृत्यम् ।
तीर्थौन्नत्यं च सम्यग् जिनवचनकृतिस्तीर्थसत्कर्मकत्वं,
सिद्धेरासन्नभावः सुरनरपदवी तीर्थयात्राफलानि ॥३१॥

विमलापुरी सिद्धाचलस्योपत्यकायामेवातिशोभमानासीत्, अतस्तया सर्वाः स्वसख्यः सहगमनाय कथिताः, तदानीमेवैको दैवज्ञस्तत्राऽऽजगाम । प्रेमला तमतिसत्कृत्याऽपृच्छत्- हे गणकाग्रगण्य ! किं भवान् कथयितुं शक्यते, यन्मम पतिदेवः कदा संगंस्यते ? यदि भवानस्मिन्विषये कञ्चिच्छुभसंवादमश्रावयिष्यत्तदाऽहमवश्यं भवन्तं प्रासादयिष्यम् । सविनयं दैवज्ञेनोक्तम्- अयि राजकुमारि ! अहं त्वदर्थमेव ज्योतिःशास्त्राऽध्ययनाय कर्णाटकं गत आसम् । ततोऽनेकशास्त्राणामध्ययनं विधायाऽद्यैव गृहमागतोऽस्मि । अहं भवदाह्वानं विनैव भवत्यै तदेव कथयितुमागतोऽस्मि, यद् भवत्पतिदेवो भवत्या अद्य श्वो वाऽवश्यं प्राप्स्यते, चेन्ममेदं वचः सत्यं प्रमाणितं भवेत्तदा मे सपारितोषिकं धन्यवादं दद्या मद्विद्या च श्लाघनीया । सनिश्चयमहं ब्रवीमि, यन्मदीयमिदं वचनं

कदाप्यनृतं न भविष्यति। अत्र मादृशां दैवज्ञानां वचसि त्रिकालेऽपि सन्देहलेशो न विधेयो भवत्या।

यतः-

दूतो न संचरति खे न चलेच्च वार्ता,
पूर्वं न जल्पितमिदं न च संगमोऽस्ति।
व्योम्नि स्थितं रविशशिग्रहणं प्रशस्तं,
जानाति यो द्विजवरः स कथं न विद्वान्? ॥३२॥

मौहूर्तिकीयामिमामुक्तिमाकर्ण्य प्रहृष्टया तया यथोचित-दानेन सत्कृत्य स दैवज्ञो विसृष्टः, पितुरादेशं चाऽऽसाद्याऽऽलीभिः सार्धं सिद्धगिरियात्रायै सा प्रस्थिता, कुक्कुटराजं चापि सह ललौ। शैलारोहणसमये तया कुक्कुटं पिञ्जरान्निष्कास्य स्वपाणावुपवेशितः। तदा तीर्थराजं सिद्धाचलं वीक्ष्य प्रहृष्टः कुक्कुटराजः स्वजीवितं धन्यं मेने।

यतः-

यो दृष्टो दुरितं हन्ति, प्रणतो दुर्गतिद्वयम्।
सङ्घेशार्हन्त्यपदकृत्, स जीयाद्विमलाचलः ॥३३॥

ऊर्ध्वं गते शिवपदस्य शिखरमिव श्रीऋषभदेवचैत्यमदृश्यत। प्रेमलया तत्र प्रविश्य युगादिदेवस्य दर्शनं कृत्वा तस्याऽष्टविधाऽर्चा कृता। भगवतः श्रीऋषभदेवस्य दर्शनमवाप्य कुक्कुटराजोऽपि धन्यम्मन्यो जातः।

यतः-

शत्रुञ्जये जिने दृष्टे, दुर्गतिद्वितयं क्षिपेत्।

सागराणां सहस्रं च, पूजास्नात्रविधानतः ॥३४॥

मूलनायकस्य भगवतो भक्तिं विधाय तत्प्रधानचैत्याद् बहिर्निर्गत्य प्रेमलया कुक्कुटराजं सार्थे नीत्वाऽन्यान्येषु चैत्येषु गत्वा गत्वा दर्शनं कृतम्। प्रान्ते भ्रमन्ती भ्रमन्ती सा राजादन-वृक्षान्तिकमागतवती तत्र भूमौ पतितानि पर्णानि कुक्कुटराजेन चञ्च्वोत्पाटितानि तेन स मनस्येवातिप्रसेदिवान्। क्रमशोऽर्चनीयं सर्वविधिं प्रपूर्य प्रेमला स्ववयस्याभिः सत्रा सूर्यकुण्डं वीक्षितुं प्रस्थिता । निर्मलपयःपूर्णं पङ्कजैश्च सुशोभितं सूर्यकुण्डं तथा प्रत्यैयत यथा समतारसस्य कुण्डं किं न भवेत् ? तज्जलं संस्पृश्य शीतलः सुरभिर्वायुः प्रवहमान आसीदिति प्रेमला कुक्कुटराजं करस्थं कृत्वा तस्य कुण्डस्य तटे समुपविष्टा स्वर्गीयसुखानुभूतिप्रदं तद्वायुसुखस्पर्शमादातुं लग्ना । सूर्यकुण्डं वीक्ष्य पूर्वं प्रसन्नोऽपि ताम्रचूडाधिपः पश्चादतीतवर्तमानघटनां संस्मृत्य खिन्नमनाश्चित्ते चिन्तयितुं लग्नः-अहो! इत्थं तिर्यगवस्थायां मे षोडशाब्दा व्यतीयुः, कुत्र स्त्री ? कुत्र गृहम् ? क्वात्मीयस्वजनाः? कुत्र च तद्राज्यम् ? इदानीं मदर्थं तेषां सर्वेषां भवनमभवनतुल्य-मेवास्ति ।

यतः-

इतो न किञ्चित्परतो न किञ्चिद्,
यतो यतो यामि ततो न किञ्चित् ।
स्वात्मावबोधादपरं न किञ्चि-
द्विचार्यमाणेऽपि जगन्न किञ्चित् ॥३५॥

मम विमाता तत्त्वतो मे वैरिणी विद्यते, यतस्तयैव मामकीनेदृशी दशा कृताऽस्ति। सकलोऽप्ययं संसारः स्वार्थपूर्णो वर्तते। यतः-

वृक्षं क्षीणफलं त्यजन्ति विहगाः शुष्कं सरः सारसाः,
पुष्पं पर्युषितं त्यजन्ति मधुपा दग्धं वनान्तं मृगाः ।
निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति गणिका भ्रष्टं नृपं सेवकाः,
सर्वः स्वार्थवशाज्जनो हि रमते नो कस्य को वल्लभः॥३६॥

अत्र सारभूतं किमपि नाऽस्ति, पुनर्नटैरहं सर्वत्र देशे भ्रामितः, परं मे दुष्कर्मणोऽवसानं नायातम् । अहं मनुष्यत्वं विलोप्य कचवरखनकः कुक्कुटोऽभूवम् ! अधुनैतावद्दिनेषु गतेषु पुनर्मनुष्यत्वप्राप्तेराशा व्यर्थैवास्ति । एतादृश्याशा रक्षितव्यैव मे कथं भवेत्? स्त्रियाः पार्श्वे खगीभूयाऽवस्थानं तु परं पामरत्वलक्षणमस्ति । तद्दर्शनं हृद्दाहकं कथं सह्यते ? मम सकलं यौवनं निष्फलमेव निरगमत् । मम दुःखस्मृतिरपि स्वान्तं नितान्तं खण्डशः करोति, अस्यामवस्थायां जीवनमपि व्यर्थम् । अस्यां दुराशायां कियन्ति दिनानि गमयिष्यामि ? इत्थं विहङ्गो भूत्वा स्थित्यपेक्षया मृत्युमिलनमेव सहस्रगुणं श्रेयस्करं विद्यते । अहमेतस्मिन् कुण्डे कथं न निपतेयम् ? यथैषां समस्तदुःखानामन्तमेत्य मत्कल्याणोदयो भवेत् । अत्र जगति कः कस्याऽस्ति ? कस्य माता कस्य पिता, कस्य स्त्री, कस्य नगरी, न कोऽपि कस्यचिदस्ति, एषु मोहकरणं निष्फलमेव ।

यतः-

कोऽहं कस्मिन् कथमायातः, का मे जननी को मे तातः ।
इति परिभावयतः संसारः, सर्वोऽयं स्वप्नव्यवहारः ॥३७॥

एतेषु कश्चिन्मामकीनोऽत्र दुःखे सहायको नाऽभूत् । पुनरहमेव कियत्कालं तदाशायां जीवंस्तिष्ठेयम् ? अत्राऽसारे संसारे तु सर्वः स्वार्थस्यैव सम्बन्ध्यस्ति । इत्थंभूता वार्ताश्चिन्तयन् कुक्कुटराजो वैराग्यं भेजे ।

यतः-

पुत्रमित्रकलत्रेषु, सक्ताः सीदन्ति जन्तवः ।
सरःपङ्कार्णवे मग्नाः, जीर्णा वनगजा इव ॥३८॥

स स्वान्ते संसाराऽसारतां चिन्तयन्ननन्तरं तत्र सूर्यकुण्डे पतनमेव वरमिति स्थिरीचकार ।

यतः-

उद्घाटितनवद्वारे, पञ्जरे विहगोऽनिलः ।
यत्तिष्ठति तदाश्चर्यं, प्रयाणेऽनिश्चयः कुतः? ॥३९॥

इत्थं ध्यायंस्तदानीमेव स कुण्डे निपपात । एतदवलोक्य क्षुब्धया प्रेमलयाऽऽलपितम्-हे विहङ्गराज ! त्वयेदं किं कृतम्? अधुनाऽहं गत्वा शिवमालां स्वपितरौ च किं कथयिष्ये ? मया ते किमपि कष्टमपि नाऽदायि । प्रायस्त्वया मत्परीक्षार्थमेवैवं कृतमिति लक्ष्यते, चेत्सत्यमिदमेव तर्ह्यहमपि त्वत्पृष्ठे स्थातुं नेच्छामि । या गतिस्ते भाविनी सैव ममाऽपि भविष्यति ।

यतः-

जीवति जीवति नाथे, मृते मृता या मुदा युता मुदिते ।

सहजस्नेहरसाला, कुलबाला केन तुल्या स्यात् ? ॥४०॥

इति कथयन्ती प्रेमलाऽपि कस्यचित्किमपि कथनं श्रवणं विनैव कुक्कुटराजस्य पश्चादेव तत्र कुण्डे झम्पापातं चकार। वयस्यास्तां तथा प्रेक्ष्य सत्वरं धावमानाः समागता विचारशून्या अजनिषत । सर्वतोऽनया घटनया हाहाकारोऽजायत । कुण्डपतनानन्तरं तया कुक्कुटराजग्रहणाय चेष्टा कृता, तस्यामेव चेष्टायां वीरमत्याऽभिमन्त्रितं कुक्कुटराजचरणबद्धं सूत्रं प्रेमलायाः करघर्षणेन त्रुट्यते स्म । भिद्यमान एव तस्मिन् सूत्रे कर्ममुक्त इव राजा चन्द्रश्चरणायुधान्मनुष्यत्वमाप, अयमपि विमलाचलतीर्थस्पर्शधर्मप्रभाव एव ।

यतः-

व्यसनशतगतानां क्लेशरोगातुराणां,
मरणभयहतानां दुःखशोकार्दितानाम् ।
जगति बहुविधानां व्याकुलानां जनानां,
शरणमशरणानां नित्यमेको हि धर्मः ॥४१॥

तद् वीक्ष्य सर्वेषामाश्चर्यमजनि, तदैव शासनदेव्योभावपि कुण्डान्निष्कास्य ताभ्यामाशीर्वादो दत्तः । बहिर्निर्गते प्रेमलया राजा चन्द्रः समुपलक्षितोऽतोऽनिमेषदृष्ट्याऽवलोकमानायास्तस्याः प्रहर्षोत्कर्षात्किमप्यालपनसाहसं न बभूव ।

यथोक्तम्-

नान्तःप्रवेशमरुणद्विमुखी न चासी-
दाचष्ट दोषपरुषाणि न चाक्षराणि ।

सा केवलं सरलपक्ष्मभिरक्षिपातैः,
कान्तं विलोकितवती जननिर्विशेषम् ॥४२॥

तदीयाऽखिलाप्याशा युगपदेव पूर्णाऽभूत्, सत्वरमेवाऽयं समाचारो व्योम्नि विद्युदिवाऽखिले नगरे प्रससार चानेन चतुर्दिक्षु प्रमोदाब्धिकल्लोला उत्तस्थिवांसः । तीर्थवासिभिर्देवैर्मुक्ता पुष्पवृष्टिस्तदुपरि पपात, सर्वत्राऽस्य तीर्थस्य माहात्म्यं विस्तृतम् । सूर्यकुण्डोदकं ततःप्रभृति पापपङ्कप्रक्षालकत्वेन प्रसिद्धमभूत्, अस्यैव कुण्डस्य प्रभावाद्राज्ञश्चन्द्रस्य मनुष्यत्वप्राप्तिर्जातेति सर्वैरबोधि। प्रेमलया यदा राजा चन्द्रः परिचितस्तदा सा नैसर्गिकह्रिया संकुचिता जाता । पुनरपि तयाऽञ्जलिं संयोज्य विनयेन तस्मै विज्ञपितम्-स्वामिन् ! साम्प्रतमस्य कुण्डस्योदकेन स्नात्वा श्रीऋषभजिनेश्वरो भवतार्च्यताम् ।

यतः-

एअं जम्मस्स फलं, सारं विहवस्स इत्तिअं चेव ।
जं अच्चिज्जइ गंतुं, सत्तुंजे रिसहतित्थयरो ॥४३॥

अस्य गिरिराजस्य महिम्ना मामकीनं सर्वं कार्यं समपद्यत, अतोऽस्याऽपि वरिवस्या विधीयताम् । सहैव सम्यक्त्ववृक्षमपि भक्तिरसेन सिच्यताम्, येन सपल्लवितकुसुमितः स विरक्तिफलमुत्पादयेत् । राज्ञा चन्द्रेण प्रेमलोक्तमङ्गीकृतं, ततो जायापती तत्राऽभिषिच्योत्तमैरष्टद्रव्यैः सोत्साहं परमात्मनः श्रीऋषभदेवस्वामिनो द्रव्यार्चां चक्रतुः ।

यतः-

जिनपूजनं जनानां, जनयत्येकमपि संपदो विपुलाः ।
जलमिव जलदविमुक्तं, काले शस्यश्रियो ह्यखिलाः ॥४४॥

तदनन्तरं भावपूजामपि विदधतुः, यद्वर्णनमग्रिमपरिच्छेदे सविस्तरं करिष्यते ।

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्य द्वाविंशपरिच्छेदे महानन्दोत्सववर्णनम्-

अथ राजा चन्द्रो भगवन्तमृषभदेवं स्तुवन्नूचिवान्-हे त्रिभुवनसमुद्धारक ! शान्तिसुधारसेन्दो ! भव्यजनाशाश्रय ! दिव्यसुरतरो ! भवोदधितारणसत्तरण्ड ! भवच्चरणारविन्दे चञ्चरीकायमाणाः सकलसुरेन्द्रा निलीनास्तिष्ठन्ति । अनन्तगुणवतो भवत आज्ञाखिलेऽपि जगति प्रवर्तते भवन्नामग्रहाशनिः प्राणिनामघपुञ्जमहीधरं विदारयति ।

किमधिकम्-

यन्मनोरथशतैरगोचरं, यत्स्पृशन्ति न गिरः कवेरपि ।
स्वप्रवृत्तिरपि यत्र दुर्लभा, लीलयैव विदधाति तद् भवान् ॥४५॥

अतोऽनुभवरससिन्धोर्भवतोऽभ्यर्णेऽन्ये सर्वे देवा भवत्सद्गुणौघैरगण्या भवन्ति । केवलज्ञानेन भवान् जगच्चक्षुरिवाऽस्तीति हरिहरब्रह्मप्रभृतयोऽपि देवा भवदग्रे खद्योतन्ति । चेत्समस्तमप्युदधिजलं मसीभूतं स्यात्तथापि भवदीया गुणा न लिख्यन्तेऽनन्तत्वात्। शिवगिरिगुहावास्तव्यः पञ्चाननो भवानिति भवत्सभायामच्युतेन्द्रादयो मृगनिभा दासायन्ते । अन्ये देवास्तु गजायन्ते यथा गन्धहस्तिनो मदगन्धात्सामान्यगजानां मदो गलति, तथैव भवद्गुणकीर्तनकालेऽन्यदेवानामपि मदो मन्दायते, कर्मविषधरापसारकत्वाद् भवाननुपमस्तार्क्ष्योऽस्ति । ये भव्यजीवा भवन्तमभिष्टुवन्ति, नमन्ति च तेषां पुनरन्यदेवसमक्षे शिरो न नामितव्यं भवति, यतः कल्पतरु-

च्छायामनादृत्य सकण्टकवृक्षाश्रयं को नामाऽनुमोदते ? भवदाराधनजलधरेण भवदावानलतापः शाम्यते ।

यतः-

अरिहंतनमुक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ॥४६॥

भवान् गुणमणिरोहणाचलोऽस्ति, परिषहोपसर्गादिसहने सर्वंसहायते, कर्मकेसरिनिराकरणे साक्षादऽष्टापदोऽस्ति । हे अनन्तशक्तिशालिन् ! हे भगवन् ! मदीया केवलमियमेवाऽभ्यर्थना- मम जन्मान्तरेऽपि स्वीया सेवाभक्तिर्दातव्या । एवं परमात्मनः स्तुत्यनन्तरं राजा चन्द्रो मनसि दध्यौ- अहो ! क्वाऽहं क्व चाऽयं गिरिराजः ? मम पूर्वपुण्योदयादेवाऽस्य सद्यात्राया लाभो जातोऽस्ति।

यतः-

तैश्चन्द्रे लिखितं स्वनाम विशदं धात्री पवित्रीकृता,
ते धन्याः कृतिनः सतां सुकृतिनो वंशस्य ते भूषणम् ।
ते जीवन्ति जयन्ति भूरिविभवास्ते श्रेयसां मन्दिरं,
सर्वाङ्गैरपि कुर्वते विधिपरा ये तीर्थयात्रामिमाम् ॥४७॥

इत्थं विचिन्तयन्तौ दम्पती जिनमन्दिराद् बहिरागतौ । तत्र चारणश्रमणमुनिं प्रेक्ष्योभौ तमभिवन्द्य तदासन्ने धर्मोपदेशश्रवणं कर्तुं लग्नौ । अथ गिरिराजं प्रदक्षिणीकृत्य स्वमनुष्यत्वं सार्थकं मेनाते । इतो विमलापुर्यामेका दासी धावमाना राज्ञो मकरध्वजस्य समीपमागत्य तस्मै प्रमोदप्रवृत्तिं श्रावयन्त्युवाच- हे महाराज !

सूर्यकुण्डमहिम्ना राज्ञश्चन्द्रस्य कुक्कुटयोनेः पुनर्मनुष्यत्वप्राप्ति-र्जाताऽस्ति । तच्छ्रवणेन प्रसन्नमनसा राज्ञा दास्याः सविस्तृत-मस्या घटनायाः समाचारः पृष्टस्तस्यै च तुष्टिदानं दत्तम् ।

नगरे सर्वतः प्रतिसद्माऽयमुदन्तः प्रससार, तेन प्रमुदिता नागरिका अपि सर्वत्रानन्दोत्सवं विदधुः । राजानं चन्द्रं दिदृक्षवो लोकाः समुत्सुकाः परस्परं वार्तयन्तः परमेश्वरस्येमां कृपां श्लाघयाञ्चक्रुः । अस्य प्रमोदस्योपलक्षे राज्ञा मकरध्वजेन तन्महिष्या च महाडम्बरकृताऽऽयोजनायां निमन्त्रिताः सचिवादयो माण्डलिक-राजन्याश्चेदं वृत्तं निशम्य प्रमोदात्प्रावृषि नीपपुष्पवद् विकशिता बभूवुः । महाराजेन शिवकुमारो नटः शिवमाला चापि निमन्त्रिता सर्वसमक्षे च तयोः कृतज्ञतां प्रकटयतोचे-भवत्प्रसादादेव ममाऽयं जामातृलाभो जातोऽतो भवत्कृते महानपि प्रत्युपकारोऽल्पति । महाराजस्यानेन कथनेन राज्ञश्चन्द्रस्य च मनुष्यत्वप्राप्त्या नटराजस्य शिवमालायाश्च निःसीमानन्दो बभूव । अथ राज्ञा मकरध्वजेन राज्ञश्चन्द्रस्य रक्षार्थं तिष्ठतः सैनिकानाकार्य तेभ्य इयं वार्ता श्राविता, तेऽपि तन्निशम्य भृशं प्रसेदुः ।

ततो राजा मकरध्वजस्तान् सार्थे नीत्वा विमलाचलाभिमुखं चचाल तत्र चन्द्रेण सहाऽमिलत् । तात्कालिकं दृश्यं दर्शनीयतरम-भूदुभयतोऽतीव प्रेमानन्दयोः संगमो भवन्निवासीत् । द्रष्टारोऽप्या-नन्दाब्धौ निमज्जन्त आसन्, अस्य स्नेहसंगमस्याऽनन्तरं राजा चन्द्रः श्वशुरादिसमस्त-परिकरैः सह पुनः प्रभोः प्रासादमेत्य परमात्मनो दर्शनस्य परं लाभमीयिवान् । अथ प्रेमला पितरौ प्रणमन्त्यवक्-भवतोराशीर्वादात् पुण्यप्रभावाच्चैवाऽद्याहं पतिप्राप्त्या-

ऽऽजीवनं सुखिनी जाता । अयमाभापुरीशोऽस्य पितुर्नाम वीरसेनोऽस्ति, सूर्यकुण्डपयःप्रभावादस्य कुक्कुटयोनितो मनुष्यत्वप्राप्तिर्जाता । सम्प्रति भवान् निजजामातरं पश्यतु, तथा तं सम्यगुपलक्षयतु। अस्मिन् संसारे बहुशः सरूपाः समानाकृतयश्च प्राणिनो दृश्यन्ते, परं भवज्जामातृसदृशो मर्त्यः काठिन्येन पुण्येन चैव प्राप्यते । भाग्येनाऽद्य मदीयं कलङ्कं दूरीकृत्य चन्द्रमसोऽप्यधिकमहमुज्ज्वलीकृता । गिरिराजसेवयैवावयोराशा सफलीभूतेत्यहं मन्ये । दुहितुरिदं वचनं निशम्य प्रहृष्टः सौराष्ट्रपती राजा मकरध्वजः प्रेमपूर्णदृष्ट्या राजानं चन्द्रं पश्यति स्म । श्वश्र्वा मौक्तिकमयं वर्षणं कृत्वा जामातुः स्वागतं कृतं, श्वशुरेण च प्रेम्णा तत्कण्ठाश्लेषः कृतः । राज्ञश्चन्द्रस्याऽधीनस्था राजानोऽपि तं सादरं प्रणेमुर्नटमण्डल्या तु तच्चरणौ संस्पृश्य तद्गुणगानं चक्रेतमाम् । तत्रोपस्थिता जनताऽप्यसकृद्धर्षनादेन सह राज्ञश्चन्द्रस्य स्वागतकरणे कथमपि त्रुटिं न कृतवती । अथ सुवाद्यैः सह राजा चन्द्रो मकरध्वजश्चादिमद्वयोर्देवलोकयोरिन्द्रवत् शोभमानौ स्वस्वपरिकरैः परिवृतौ प्रभोर्गुणकीर्तनं स्तवादिकं च कुर्वन्तौ यदा गिरेरधोऽवतेरतुस्तदातिसमारोहेण नगरप्रवेशस्य महोत्सवः प्रावर्तत। राज्ञा मकरध्वजेनैको महासङ्घसमारोहः कृतस्तत्र राजा चन्द्रो महान्तमेकं गजेन्द्रमारूढः सर्वतोऽग्रे चेलिवानासीत् । तदुत्तमाङ्गे छत्रमुभयतश्चामरे च शोशुभतः स्म, राजा मकरध्वजोऽपि गजमधिष्ठित आसीत् । प्रेमलालच्छी रथस्थाऽन्येऽपि जनाः स्वस्वयोग्यवाहनारूढा आसन् । इत्थमत्याडम्बरेण सुसज्जितसङ्घोऽग्रे चचाल, तदानीं वाद्यानि वाद्यन्ते स्म, बन्दिजना बिरुदावलीमुच्चैरुच्चेरुर्याचकेभ्यो दानं दीयते स्म, सर्वत्र

ध्वजपताकादयः प्रस्फुर्यन्ते स्म, नटा वाराङ्गनाश्च नरीनृत्यन्ते स्म। इत्थं प्रजाजनान् प्रसादयन् महामहेन राज्ञा चन्द्रेण विमलापुर्यां प्रवेशः कृतः ।

यथोक्तम्-

वाद्यानि केचित्खलु वादयन्ति, प्रोच्चैर्यशो गायति बन्दिलोकः ।
दीनाश्रितेभ्योऽतुलदानमाने, यच्छन्ति नृत्यन्ति च वारवध्वः॥४८॥

तदानीं नागरिकाः स्त्रियः पुरुषाश्च गवाक्षाट्टालिकाचन्द्रशालाद्यारूढा राजानं चन्द्रं निरीक्षितुं प्रेमलायै चाऽऽशीर्वचनं दातुं लग्नाः। जनता यदा राजमन्दिरासन्नमियाय तदा राजा चन्द्रो विमलेशमकरध्वजश्च गजादुत्तीर्णवन्तौ । तत्क्षणे राज्ञा मकरध्वजेनार्थिभ्यो दानं वितीर्य वस्त्राभूषणाद्यैस्तथाऽलङ्कृतास्तोषिताश्च यथा गृहागतास्ते निजस्त्रीभिरपि नोपलक्षिताः । अथ शिवकुमारनटं राज्ञा चन्द्रेण स्वसन्निधावाकार्य तस्मै रूप्यकाणां लक्षं पारितोषिकत्वेनाऽर्पितम्, येन तत्स्थितिर्नृपकल्पा बभूव । पुनस्तेषां नृपाणामप्युपायनदानेन सत्कृतिः कृता, ये तद्रक्षणाय ससैनिकाः संततं तेन सहैव तस्थिवांस आसन्, राज्ञा चन्द्रेण तैः साकं सख्यं विधाय निजतुल्यं पदं तेभ्यः प्रदत्तम् । कतिदिनानि यावत्सर्वे जना आनन्दोत्सवं मानयन्त आसन्नगरेऽपि महामहः प्रवर्तते स्म । ततो राज्ञश्चन्द्रस्याऽनुमतिं गृहीत्वा सर्वे निजं निजं निकेतनं जग्मुः । सर्वत्रानन्दस्याऽखण्डं साम्राज्यं संस्थाप्यते स्मेव । इतः प्रेमला प्रहर्षेण तथा प्रफुल्लितशरीरा जाता यथा तत्कुचौ कञ्चुक्यां न ममतुः । अथास्या दुःखलेशमपि नाऽवाशिषत्सा

तु प्राच्यमपि निजं कष्टं शनैः शनैर्विसस्मार, परं राज्ञो मकरध्वजस्य स्वप्राक्कृतकृत्यर्थं महापश्चात्तापोऽभवत् । सोऽन्यदा निजतनयाऽभ्यर्णमागतः साम्बुनेत्रो वक्तुं प्रचक्रमे- प्रियपुत्रि ! अहं त्वत्तः क्षमाप्रार्थनार्थमागतोऽस्मि । मम निजाविचारिते कार्ये पश्चात्तापः समुत्पद्यते, यतः षडधिकं दशवर्षं यावन्मया जात्वपि प्रेमदृष्ट्या त्वं न दृष्टा । जनको भूत्वाऽपि मया पितृकर्तव्यं नाऽऽचरितं, कुष्ठिकनकध्वजकुमारकथनेन त्वां विषकन्यां मत्वा ते मृत्युदण्डो दत्तस्तदा चेन्मयका सचिवोक्तिर्न स्वीकृता भवेत्तदा तत्परिणामः कीदृगशुभ आगच्छेत् ? परं तदानीं तव रक्षा त्वद्भाग्येनैव विहिता ।

यतः-

औषधं मन्त्रवादं च, नक्षत्रं गृहदेवता ।
भाग्यकाले प्रसीदन्ति, चाभाग्ये यान्ति विक्रियाम् ॥४९॥

प्रत्युत मया तु त्वत्कष्टदाने काचिन्न्यूनता नावशेषिता । त्वं तु प्रथमत एवाऽऽलपन्त्यासीत् यन्मे पाणिग्रहणमाभानरेशेन सह जातं, परमहं तेषां धूर्तानां वाग्जालेऽपतम् । मन्मतिरेव भ्रष्टा जातेति ते यथार्थपतिर्मया नोपलक्षितः । क्वायं चन्द्रो नृपः क्व स मण्डलकी ? उभयोर्मेरुसर्षपयोरिवान्तरमस्ति। प्रियवत्से? तव पूर्वकर्मैव प्रबलं, येनाशुभतरमपि दिनमिदानीं शुभोदर्कं जातम्। यदुक्तम्-

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगाः,
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः ।

फलं कर्मायत्तं यदि किममरैः? किं च विधिना,
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥५०॥

मम साम्प्रतं स्वकृतकृत्ये प्रबलोऽनुतापो जायते । अथापि त्वं ममापराधमवश्यं क्षमिष्यसे, भूतपूर्ववार्ताश्च शाश्वतिकार्थं विस्मरिष्यसि । तयोक्तम्- पूज्यतात ! अत्र भवतो दोषलेशोऽपि नैव किन्तु सर्वं दूषणं मत्कर्मणामेव वर्तते । *समस्तप्राणिभिः सुखदुःखे स्वकर्मानुरूप एव प्राप्येते ।* अन्यत्सर्वं निमित्तमात्रमेव भवति, एतादृशः सत्पतिर्मया भवद्भाग्येनैव प्राप्तोऽहं तु निर्गुणाऽस्मि, भवता गतवार्ता कदापि नैव स्मरणीया । यतः कदाचित्कुसन्ततिरुत्पद्यते, परं जनकौ कुजनकौ न जायेते ।

यदुक्तम्-

गते शोको न कर्तव्यो, भविष्यं नैव चिन्तयेत् ।
वर्तमानेन योगेन, वर्तन्ते हि विचक्षणाः ॥५१॥

अपि च-

माता मित्रं पिता चेति, स्वभावात्त्रितयं हितम् ।
कार्यकारणतश्चान्ये, भवन्ति हितबुद्धयः ॥५२॥

किन्तु येन दुर्जनेन भवान् भ्रमे पातितस्तदीयमपि श्रेयो भवतु। यदि स दुर्जनो न भवेत्तदाऽहं जगति ख्यातिं कथं यायाम्? मम भवत्पूर्वाचरिते मनागपि मन्युर्नाऽस्ति, यतस्तदहं स्वभाग्यचक्रविरुद्धभ्रमणमेव मन्ये, तत्र भवतः को दोषः ? ।

यतः-

न देवसेवया याति, कर्मबन्धः परिक्षयम् ।

जघास घासमेवासौ, बलीयर्दः कपर्दिनः ॥५३॥

परमतःपरं मामकीनेयमेव प्रार्थना वरीवर्ति यद् भवान् मयि मे पत्यौ चापि प्रचुरं प्रेम रक्षेत्, यतोऽस्माकं जीवनतरिरियं सम्प्रत्यवारीणे तटे तिष्ठति। राज्ञा मकरध्वजेनाभाषितम्- प्रियपुत्रि! एतेषां विषयाणां ते मनागपि चिन्ता न कर्तव्या। अस्या विमलापुर्या आभापुर्याश्चान्तराले यावन्तः प्रदेशा वर्तन्ते तान् सर्वान् राज्ञे चन्द्राय दत्त्वा मया तेषां स्वतन्त्राधिपः स कृतः। मत्कुले जनिमेत्य त्वया मदाननं समुज्ज्वलं कृतम्। त्वद्भाग्येनैव ममैतादृशस्य जामातुः प्राप्तिर्जातास्ति। त्वच्चरित्रं तु कवयो गास्यन्ति शास्त्रेषु च लेखिष्यन्ति। अहं दैवं प्रार्थयामि-यद्युवां सुखिनौ रक्षेत्, युवयोरैश्वर्यं सुखं च प्रतिदिनं वर्धयेत्। एवं ब्रुवन् स ततो गतः, तेन राज्ञे चन्द्राय पृथग् राजभवनस्य प्रबन्धः कृतः। तत्रैव प्रासादे राजा चन्द्रः प्रेमलया सह तिष्ठन् दोगुन्दुकदेववद् वचनातीतं सुखमन्वभूत्। अथान्यदा विमलेशेन विजने राजा चन्द्रः पृष्टः- हे चन्द्रनरेश ! भवानत्र कथमागतः ? प्रेमलया च कथं परिणयः कृतः ? कृते विवाहेऽकस्मात्केन कारणेन कथमितो द्रुतं गतवान् ? केन ताम्रचूडः कृतः ? एतत्सर्वं वृत्तान्तं ज्ञातुं ममात्युत्कण्ठा वर्वर्ति चेदनापत्तिः कथ्यताम्। राज्ञा चन्द्रेणोक्तम्- भूपते ! दुष्टमन्त्रतन्त्रप्रवीणा मम विमाता वीरमत्याख्या गुणावलीनाम्नी च मे प्रियाऽस्ति। विमात्रा वञ्चिता गुणावली तत्कथने पतिता, एकदोभे आम्रपादपमारुह्यात्रागमनाय प्रस्थानं चक्रतुः, तज्ज्ञोऽहमपि तदाम्रकोटरे छन्नस्तस्थिवान्। वीरमती नगराद् बहिराम्रवृक्षमुद्याने संस्थाप्योत्तीर्य गुणावल्या सममुत्सवा-लोकनायाऽत्राऽऽगता, मयाऽपि तूष्णीं

कोटरान्निरीय तदनुसरणं कृतम् । मार्गे हिंसकमन्त्रिभृत्यैरहं गृहीतस्ते मां सिंहलेशाऽभ्यर्णं नीतवन्तः । ससचिवेन सिंहलाधीशेन विविधयुक्तिभिरहं रुद्धो यतः प्रेमलया कृतसम्बन्धो राजकुमारो जन्मतः कुष्ठ्यासीदिति हेतोः प्रेमलया सह मामुद्वाह्याऽनन्तरं गमनाय तेन भृशमहं कदर्थितः । ममाऽपि द्रागेव गन्तव्यमासीदतः कथञ्चिदहं प्रेमलापार्श्वतो निर्गत्य पूर्ववत्तत्रैव कोटरे गुप्तेन स्थितः। मत्पृष्ठेऽस्मद्विमाता गुणावली चापि तत्राऽऽगतवती । अथ वयं तत्राऽऽरूढा आभापुरीमागताः, द्वितीयघस्रे मन्मातुरयमुदन्तो ज्ञातोऽभूत्, ततोऽतिचण्ड्या तया विमात्रा मन्त्रबलेनाऽहं कुक्कुटो विहितः। अथ शैलूषशयाऽऽपतितोऽहमितस्ततो भ्रमन्नत्रेयिवान् । इह सिद्धशैलतीर्थमहिम्नः कथं मदुद्धृतिर्जाता कथं च मानुष्याप्तिरभूदिति सर्वं भवतो विदितमेवास्ति । राज्ञश्चन्द्रस्यास्यादमुमुदन्तं निशम्य मकरध्वजभूपतेर्मनसि महाननुतापोऽजनि । तेन मनसि ध्यातम्- अहो ? चतुरो भूत्वाऽप्यहं कुष्ठिकथने कथं विश्वासमागतः ? । स्वस्त्यस्त्वस्मै सुबुद्धिसचिवाय येन राजकुमारी सुरक्षिता, अन्यथा यावज्जीवनमिदं दुःखं शल्यवन्मम मर्मावित् स्यात् । ममाऽस्मादश्रेयसो मुक्तिरसंभाव्यैवाऽऽसीत् स कुष्ठ्यपि नितान्तदुष्टोऽविद्यत, यतः स निजगदसंगोपनाय मदीयां तनयां विषकन्यात्वेनाऽजूघुषत् । अद्यास्य कपटस्य सर्वाङ्गस्फोटनं जातं, तथ्योदन्तप्रकटनं चाभवत्- यतः पापघटोऽभग्नः कदापि न तिष्ठति। संप्रति तत्र कश्चित्सन्देहो नाऽवशिष्टः, यत्तैर्दुष्टैः संभूय भीषणषड्यन्त्ररचना कृता । इदानीं तेषां सिंहलनृपसचिवादीनामस्य कुकृत्यस्योचिता शिक्षा दातव्या ।

यतः-

पिता वा यदि वा भ्राता, पुत्रो वा यदि वा सुहृत् ।
नीतिच्छेदकरा राज्ञा, हन्तव्या भूतिमिच्छता ॥५४॥

इति ध्यात्वा विमलेशेन स्वकर्मकरेभ्य आज्ञा दत्तासिंहलनृपादयो ये जनाः कारागारे रुद्धाः सन्ति, तान् सर्वान् मत्समक्षे समानयत। सत्वरमियमाज्ञा कार्यरूपेण परिणतीकृता, ते पश्चाऽपि सत्यवृत्तकथनाय राजपर्षद्युपस्थापिताः ।

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्य त्रयोविंशपरिच्छेदे गुणावल्या समं पत्रव्यवहारः-

ससचिवः सिंहलाधीशो राजसमितावानीयते स्म दृष्ट एव तस्मिन् राज्ञा मकरध्वजेन सकोपमुक्तम्- हे दुष्ट ! सिंहलेश! त्वयेदं किं कृतम् ? राजपुत्रो भूत्वाऽपि त्वया मया सममिदं शत्रुत्वं कथं बद्धम् ? त्वया शयानः केसरी निजविनाशाय कथं जागरितः ? त्वदर्थं त्विदं हास्यकारणं जातं मदङ्गजायास्तु प्राणापहारि कार्यं विनिर्मितम् । त्वया प्रथममहं छलितः, पश्चान्मे दुहिता कलङ्किता। त्वदीयस्यास्याशुभकृत्यस्यापि कश्चित्सीमा वर्तते ? अनेन कुकृत्येन तवायुरल्पमहं मन्ये, अतःपरं त्वं चिरं जीवितुं नाऽर्हसि । पुनस्त्वादृशस्य पापिनो मुखावलोकनमपि महत्कल्मषजनकमस्ति । इत्थं भृशं तिरस्कृत्य सिंहलाधिपादेर्वधाय राज्ञा मकरध्वजेन घातुका आदिष्टाः । अक्षम्यागस्त्वान्मौनिनस्ते स्वरक्षार्थमपि किञ्चित्कथनसाहसिका न बभूवुः, ते द्रुतमेव मृत्यवे सज्जिताः संजाताः । परं परमोपकारिणा राज्ञा चन्द्रेणैतन्नादृश्यत, अतस्तेन सपद्युत्थाय व्याहृतम्- राजन् ! एते पञ्चजना भवच्छरणागताः सन्ति, तत एषां प्राणापहरणं न वरम् । यद्यपकारिभिः सत्राऽपकार एव क्रियेत, तदा सदसतोः संसारे को भेदो भवेत्?। यतः-

सुजनो न याति विकृतिं, परहितनिरतो विनाशकालेऽपि ।

छेदेऽपि चन्दनतरुः सुरभयति मुखं कुठारस्य ॥५५॥

पुनरेभिस्तु प्रकारान्तरेणाऽस्माकमुपकृतमेवाऽस्ति। चेदेभिः षड्यन्त्रमिदं न रचितं भवेत्तदाऽऽवयोरयं सम्बन्धः कथं युज्येत? जगति शुभप्रतिदानाय बहवो जना शुभं विदधति, परमपकृते कृतोपकार एव प्रकृतिसज्जनो बोद्धव्यः।

यतः-

नाहिताय हिताय स्यात्, महान् संतापितोऽपि हि।
पश्य रोगापहाराय, भवेदुष्णीकृतं पयः ॥५६॥

अतोऽतिरिक्तो द्वितीयोऽयमुदन्तोऽस्ति, यदेतेषां मोचनेन भवद्यशः समेधिष्यते, जना भवतः श्लाघां च करिष्यन्ति। चेद् भवानेतद्विचिन्तयन् भवेत्, यदपराधिनोऽवश्यं दण्डनीयाः, येन तेषां स्वकृतावनुतापो जायेत। परमहं भवन्तं ब्रवीमि-यदेते स्वागोमितं पर्याप्तदण्डं भुक्तवन्तः। एषु यद् व्यतीतं तदेवैषां शिक्षाग्रहणाय बहुलं विद्यते। अतःपरममी पुनरीदृशीं दुष्कृतिं कदाचिदपि न करिष्यन्ति। पुनर्यद्येषु छलप्रपञ्चकार्येषु भवान् निजाङ्गजाया एव कर्मणां विपाकं मन्यते, तदा भवता एतदपि मन्तव्यं भवेत्, यदिमे तु निमित्तमात्रमेवासन्नेतेऽन्यत्कर्तुमेव किं शक्नुयुः ? सिंहलाधिपतनयोऽपि कुष्ठरोगाभिभूतोऽस्ति, अत एभिर्यदकारि तत्पुत्रप्रेमप्रेरणयैव कृतं, अथैतेषु दयापूर्णव्यवहार एव करणीयः।

राज्ञो मकरध्वजस्य मानसे चन्द्रोक्तवार्ताया महाप्रभावोऽपतदिति सोऽपि तद्वचनमन्यथा कर्तुं न शक्नोति स्म। तेन तत्क्षण एव तदिच्छानुसारं पञ्चाप्यपराधिनो बन्धनमुक्ताः कृताः।

तदानीं प्रेमलया ध्यातम् जनानां स्वस्वामिदेवस्य कोऽपि प्रभावः प्रदर्शनीयः । अतो द्रुतमेव सा राजास्थानीमुपेत्य राज्ञश्चन्द्रस्य चरणौ प्रक्षाल्य तदेव पादोदकं नृपात्मजस्य कनकध्वजस्य काये सिषेच । सिक्त एवाङ्घ्रिजले सद्यः कनकध्वजकुमारस्य कुष्ठ-व्याधिर्निववृते । तत्काले एव राज्ञश्चन्द्रस्य जयारावं कुर्वद्भि-र्देवैराकाशात्पुष्पवृष्टिस्तदुपरि कृता । ततः कुमारकनकध्वजोऽपि निजोपकारिणश्चन्द्रस्य चरणयोः पपात । तदा सर्वे सभासदो-ऽमुमलौकिकं चमत्कारं विलोक्य विस्मयमापन्नाः, पुनरनया घटनया भूजानेश्चन्द्रस्यापि भूतले बहुला सुयशोवृद्धिर्बभूव । राज्ञा मकरध्वजेन सिंहलेशः कियद्दिनानि यावत् स्वातिथिरूपेण तत्रैव स्थापितश्चान्ते सम्मानेन स स्वदेशे विसृष्टः।

तत्रैव सुखेन कियद्दिने गतेऽन्यदा निशीथे जाग्रतः पूर्वापर-वार्तां ध्यायतश्चन्द्रस्य गुणावल्याः स्मृतिरागता स मनसि वक्तुं लग्नः- अहो ! अहं त्वत्र सुखे समयं गमयन्नस्मि, परं गुणावल्याः कालो न जाने कथं निर्गतो भवेत् ? ।

यतः-

यल्लभोत्सङ्गसङ्गेन, विना हरिणचक्षुषः ।
राकाविभावरीजानि-र्विषज्वालाकुलायते ॥५७॥

तत आभापुर्या गमनसमये मया तस्यै वचनं दत्तं यन्मनुष्य-त्वावाप्त्यनन्तरं सपद्येवाहमागत्य त्वया संगंस्ये, परमत्र प्रेमलाप्रेम-पाशबद्धत्वादहं तां गुणावलीं नितान्तमेव विस्मृतवान् तन्नोचितम्।

यतः-

प्रेम सत्यं तयोरेव, ययोर्योगवियोगयोः ।
वत्सरा वासरीयन्ति, वत्सरीयन्ति वासराः ॥५८॥

अतोऽधुना मे निजोक्त्यनुसारेण झटित्येव तया सह संगमनीयम् । संसारस्याप्ययं नियमोऽस्ति, यद्यो हृदयेन येन समं यथा प्रेम करोति तस्यापि तेन सह निष्कपटभावेन तथैव क्षीरनीरतुल्यं प्रेम कर्तव्यम् ।

तथा चोक्तम्-

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः,
क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा ह्यात्मा कृशानौ हुतः ।
गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद् दृष्ट्वा तु मित्रापदं,
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री भवेदीदृशी ॥५९॥

गुणावली विमातुरुक्तावववश्यमागता, परमत्र कश्चित्संदेहो नास्ति, यत्सा मय्यत्यादरं विदधाति स्मेति ममापि जीवनपर्यन्तं तदस्मृतिर्नोचिता। इत्थं वार्तां मुहुर्ध्यायमान एव प्रातरभूत्ततः कृतनित्यक्रियेण राज्ञा चन्द्रेण गुणावल्यै पत्रं व्यलेखि तच्चैकस्मै सेवकाय दत्त्वोक्तम्-इदं पत्रमाभापुर्यां नीत्वा विजने सचिवाय दातव्यम्। स चैतद्दलं गुणावल्याः समीपं प्रापयिष्यति, तत्र तव गमनोदन्तः कस्यापि वेदनीयो न भाव्यः । यतः सर्पादप्यतिदुष्टा मम विमाता त्वदशुभकारिणी भविष्यति ।

यतः-

सर्पदुर्जनयोर्मध्ये, वरं सर्पो न दुर्जनः ।
सर्पो दशति कालेन, दुर्जनस्तु पदे पदे ॥६०॥

गुणावल्या रहसि संगते त्वं मन्मुखेन कुशलप्रवृर्तिं पृच्छेः, तां च कथयेः कथङ्कारमपि चिन्तां न कुर्यात् । पुनस्तस्या एतदपि निवेदनीयम्-यन्महाराजेनोक्तमस्ति द्रागेवैत्याहं त्वच्चिर-कालिकवियोगदुःखं हरिष्यामि । वयं पुनः पूर्ववदाभापुर्यां राज्यं करिष्यामो दुर्जनाश्च करौ मर्दन्तः स्थास्यन्ति । अत्र सिद्धाचलतीर्थ-स्थसूर्यकुण्डमहिम्ना मे मनुष्यत्वप्राप्तिर्जाता, परमहमत्र सुखेन तिष्ठन्नपि त्वद्विरहात्स्वजीवनमसारं मन्ये ।

यतः-

चन्द्रश्चण्डकरायते मृदुगतिर्वातोऽपि वज्रायते,
माल्यं सूचिकुलायते मलयजालेपः स्फुलिङ्गायते ।
रात्रिः कल्पशतायते विधिवशात्प्राणोऽपि भारायते,
हा हन्त! प्रमदावियोगसमयः संहारकालायते ॥६१॥

अतःपरं त्वां त्वद्धिताय सूचयामि-श्वश्रूवचनमङ्गीकृत्य त्वं मां न विस्मरेः । देशान्तरीयमहासुखसम्पत्त्यपेक्षया स्वदेशी-यालपसुख-सम्पदपि निजेष्टतमाङ्गिनां भवतीति मम तत्रागमने काचिदापत्तिर्नैव तथाऽत्रापि मे देवगुरुकृपया किञ्चित्कष्टं न वर्तते, तथापि तत्रागत्य तवामृतमयवचनश्रवणादिमिलनसुखस्य तीव्रेच्छया बाध्यमानोऽस्मि ।

किं बहुना-

त्वदीयमुखपङ्कजं यदि विधोरलं वार्तया,
तवाधरसुधा यदा भवति किं सुधा नो मुधा ? ।
त्वदङ्गपरिरम्भणं यदि कृतं सुधागाहनै-

स्त्वदीयदृगनुग्रहस्तदपि धिग् धिगैन्द्रं पदम् ॥६२॥

इह तल्लाभेन नूनं वञ्चितेन मया स्थीयते, अतोऽधुनेश्वरं प्रतीयमेव प्रार्थना प्रवर्तते-स शीघ्रमेवावयोर्मिथः संगमयतु । यस्मिन्दिने क्षणे चाऽस्मत्संगमो भवेत्तद्दिनं क्षणं च धन्यं स्यात् । त्वया संगते सर्वमुदन्तं सविस्तरं कथयिष्यामि, पत्रेऽधिकलेखोऽसाम्प्रतम्। सेवकेनाऽपि सर्वा वार्ता न निगाद्यते, तस्मादिदानीमेतावद्भिरेव वृत्तान्तैः संतुष्टिर्विधेया ।

इत्थं सेवकं प्रबोध्य राज्ञा चन्द्रेणाभापुर्यां स विसृष्टः, यथासमयं तत्र गतः, स गुप्तेन मन्त्रिणा संगतः । राज्ञा चन्द्रेणामात्यनामाङ्कितमप्येकं पत्रं दत्तं, धीसखस्तत्पठित्वा भृशं जहर्ष। सेवकेन निवेदिते स तं गुप्तमेव गुणावलीसमीपं निन्ये । तत्र तेन स्वयं निजहस्तेन तस्यै पत्रमर्पितम्, पत्रं पठित्वा तल्लोचनाभ्यामश्रुधारा चचाल, सा स्वहृदयेन श्लेषं श्लेषं तत्पत्रं मुहुर्मुहुः पपाठ । तत्पत्रमित्थमासीत्- प्रिये ! गुणावलि ! अहं भगवतोऽनुकम्पयाऽत्र विमलापुर्यां प्रसन्नस्सन्नपि तावकीनं कुशलोदन्तं ज्ञातुमत्युत्कण्ठितो भवन्नस्मि । मनस्येषैवेच्छा जायते, यदिदानीमेवागत्य त्वया संगच्छेय परं त्वमवगच्छसि-विमलापुर्य्याभापुर्योर्बह्वन्तरं विद्यते । ततः पत्रं प्रेषयामि, देशान्तरस्थयोः सुहृदोः पत्रेणैव मिलनं भवति । अत्रत्योऽयं समाचारोऽस्ति, यत्सूर्यकुण्डप्रभावान्मे पुनर्मनुष्यत्वप्राप्तिर्जाता । नूनमस्य तीर्थस्य महामहत्त्वं वर्तते, अतोऽस्य यावती प्रशंसा क्रियेत, तावत्येवाणूयते । ममोद्धारस्येमां वार्तां ज्ञात्वा ध्रुवं ते प्रमोदो भविष्यति । अनेन पत्रेण

प्रायस्तवाऽऽनन्दथुरेधिष्यते, चैवं भवनं स्वाभाविकमेवास्ति। ममापि प्रत्यहं तावकी स्मृतिरायाति, परं सहैव त्वदीया सा करवीरयष्टिरपि न विस्मर्यते । त्वया मत्स्नेहस्य चिन्ता न कृता, श्वश्रूवचनमागत्य ममोपेक्षा कृता । स्मृतेऽस्मिन् वृत्तान्ते मदीयं मनश्चेखिद्यते, परमत्र ते को मन्तुः ? एतदर्थमहं त्वामपराधिनीं न मन्ये। यतः समस्तः संसार एतदेव कथयति, यत् स्त्री कस्यापि न भवति ।

उक्तमपि-

चतुरः सृजता पूर्व-मुपायांस्तेन वेधसा ।
न सृष्टः पञ्चमः कोऽपि, गृह्यन्ते येन योषितः ॥६३॥

योषिदेकत्र स्वभर्तारमपि विक्रेतुं, स्तेनलुण्टाकानां च संमु- खीना भवितुमर्हति, अन्यत्र लोकवञ्चनाय मार्जारनेत्रदर्शनादपि भयेन भृशं कम्पते, अतो बुधैरुक्तमस्ति, यत् स्त्रीणां विश्वासो न कार्यः। ताः स्वान्तेऽन्यच्चिन्तयन्ति, बहिरन्यद् ब्रुवते, कश्चिदक्षि- संकेतेनान्यं करसंज्ञया संकेतयन्ति, तासामिदमखिलं चरित्रं परमेश्वरं विनाऽन्यः कोऽपि ज्ञातुं न प्रभुर्भवति । मनुष्यः कदा- चित्तारकवृन्दं गणयितुमलं भवति, पारावारपयोऽपि प्रमातुं शक्नोति, परं स्त्रैणचरित्रपारं कदापि नैति ।

यतः-

जल्पन्ति सार्धमन्येन, पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमम् ।
हृदये चिन्तयन्त्यन्यं, प्रियः को नाम योषिताम् ? ॥६४॥

स्त्रीभिरिन्द्रचन्द्रादिसदृक्षा अपि निजजाले पातिताः सन्ति, तदा पामरजनानां का वार्ता ? नार्यो यद्यप्यबला उच्यन्ते, परं

बहुशो विषयवासनावासिताः सत्यः स्वसाहसबलेन वृष्टितरङ्गितामपि तरङ्गिणीं तरन्ति, चानेकशो निजनायकमपि नाशयन्ति। यतः-

स्त्रियो ह्यकरुणाः क्रूरा, दुर्मर्षाः प्रियसाहसाः ।
घ्नन्त्यल्पार्थेऽपि विश्रब्धं, पतिं भ्रातरमप्युत ॥६५॥

ता नगरे श्वानमपि विलोक्य बिभ्यति, परं कानने केसरिणोऽपि कर्णं गृह्णन्ति । पुनरवसरे तु रज्जुं वीक्ष्यापि धावन्ति, भीतास्यं चोच्चैरारटन्ति, कार्ये प्राप्ते तु विषधरानपि करेणाऽऽददते। प्रिये ! किं बहुना भर्तृहरिविक्रमादित्यप्रमुखा महाप्रतापिनोऽपि पुरुषाः स्त्रीचरित्रपारं नेयुः । अतोऽहं त्वां किं ब्रूयाम् ? इयं तु जगतो रीतिरेवास्ति, परं तथाप्यहं ते कुलीनतां विलोक्य कदाचिदपि त्वत्त ईदृशस्य दुर्व्यवहारस्याशां न कृतवानासम्। तव मत्तोऽन्तरं न रक्षितव्यमासीत्, यतोऽहं तु ते सदाशयेन प्रेम कृतवानासम्। अस्यामवस्थायां त्वदीयममुं दुर्व्यवहारं प्रेक्ष्य मे स्वान्ते दुःखं कथं न भवेत्? त्वया मत्तश्छन्नं स्वश्वश्र्वा सह सम्बन्धो योजितस्तस्मिन्नेव सौख्यं बुद्धं, मदनुमत्यादानं चापि नोचितं ज्ञातम्। अस्य परिणामोऽपि यो भावी स जात एव ।

यतः-

तादृशी जायते बुद्धि-र्व्यवसायोऽपि तादृशः ।
सहायास्तादृशाश्चैव, यादृशी भवितव्यता ॥६६॥

यत्र कुमतिस्तत्रापदामेव निवासो भवति। तवाहं प्रियो नासम्, श्वश्रूः प्रियाऽऽसीत्तयैव श्वश्र्वा सह सुखं कुर्विति तव

कथनेच्छा मे जायते, परं पुनरपि विचिन्तयामि तदा तत्र कर्मणि ते कोऽपि दोषो न दृश्यते । यद् भाग्ये लिखितमासीत्तदेवाऽभूत्, यतोऽनेकोपायेषु कृतेष्वपि भवितव्यं केनापि नापमृज्यते ।

यतः-

हरिणापि हरेणापि, ब्रह्मणा त्रिदशैरपि ।
ललाटलिखिता रेखा, न शक्या परिमार्जितुम् ॥६७॥

तवाऽसद्व्यवहारस्मृत्याऽवश्यमेव स्तोकरोष आगच्छति, परं यदा तव प्रेम्णः स्मरणं विजृम्भते, तदा मे मनः संतोषैर्भ्रियते। अस्तु, अतोऽधिकं किं लिखेयम् ? गतवृत्तान्तस्य विस्मरणमेव श्रेयस्करं बोभूयते, प्रेमपात्रस्यागः सदा क्षम्यमेव। पुनरहमिदमपि जानामि, यत्त्वया स्वकृतापराधाय पर्याप्तः पश्चात्तापोऽनुभूतोऽस्ति, अतोऽमुमेव दण्डं त्वत्कृते पर्याप्तं मत्वाऽहं ते क्षमाप्रदानं करोमि, मल्लोचने त्वद्विलोकनायातीव लालायिते स्तः ।

किं बहुना-

प्रियादर्शनमेवाऽस्तु, किमन्यैर्दर्शनान्तरैः ।
प्राप्यते येन निर्वाणं, सरागेणापि चेतसा ॥६८॥

मच्छरीरमत्र प्राणाश्च त्वत्समीपे सन्ति, इदानीमेव तव संगमेच्छा जायते । यद्दिनान्यतिकष्टेन निर्गच्छन्ति, पश्येयम्, ईश्वरोऽस्मान् कदा संगमयति । पत्रोत्तरं सपद्येव लेखनीयं, निजश्वश्रवाऽस्मिन् विषये भ्रमादपि कापि वार्ता न कर्तव्या। अन्यान्यमुदन्तं पत्रवाहकमपि प्रष्टुमर्हसीति तव शुभचिन्तकश्चन्द्रकुमारः ।

गुणावल्याऽस्य पत्रस्य पठनानन्तरं पत्रवाहकादपि समा-

चारः पृष्टः, तेनाऽपि च चन्द्रकथितः सर्वो वृत्तान्तः श्रावितः। यद्यपि पत्रे राज्ञा चन्द्रेण गुणावल्याः किञ्चिच्छुभाशुभं लिखितमासीत्, तथापि तत्पत्रं पठित्वा तस्या मुदेवाजनि। तया तदानीमेव पत्रं लिखित्वा पत्रवाहकायार्पितं, स च सम्मानपूर्वकं तूष्णीमेव विसृष्टः। किन्तु यथा विकसिते पुष्पे तत्सुरभिः प्रकटनं विना न तिष्ठति, तथैवेयं वार्तापि सुगुप्ता नाऽस्थात्। आभापुरीं परितोऽञ्जसैवेयं वार्ता प्रससार-राजा चन्द्रश्चरणायुधात्पुनर्मनुष्यो बभूव। यत्र तत्र सर्वत्रेयमेव वार्ता प्रवर्तमानाऽऽसीत्, सर्वे जना इदमेवाऽभिलषन्ति स्म-कदाऽऽयास्यति नृपस्तं च दृष्ट्वा स्वनेत्रे प्रीणयिष्यामः। अखिले नगरे वीरमत्येवैका तादृश्यासीत्, यस्या अस्योदन्तस्य श्रवणेन महद्दुःखमभूत्। अस्तु।

राज्ञ्या गुणावल्याः पत्रमादाय स पत्रवाहको राज्ञश्चन्द्रस्य समीपमागतस्तस्मै च समस्तं वृत्तान्तं निवेद्य गुणावलीदत्तं पत्रं ददौ। राज्ञा चन्द्रेण तत्पत्रं हृदयेनाश्लिष्य पुनरतिप्रेम्णा तत्पठनमारेभे। तत्पत्रमित्थमासीत्-प्रियप्राणनाथ! भवत्पत्रं प्राप्तं पठित्वाऽत्यानन्दोऽभूत्। भवता पत्रे य उपालम्भा लिखितास्ते मदीयापराधाऽपेक्षयाऽत्यल्पाः सन्ति। भवांस्तद्योग्योऽहं च श्रवणयोग्याऽस्मि, तत्त्वतोऽहं दोषाणां पेटा, कथञ्चिदपि दयापात्रं नास्मि। किन्तु सागरवद् गम्भीरो भवान् स्वभावेनैव परोपकारं विदधाति। यथा जीमूतो जलेन सरित्तडागादीन् पूरयित्वापि तत्प्रत्युपकारं नेच्छति।

यतः-

उपकारिषु यः साधुः, साधुत्वे तस्य को गुणः? ।
अपकारिषु यः साधुः, स साधुः सद्भिरुच्यते ॥६९॥

आम्रपादपः पाषाणप्रक्षेपकायापि फलं ददाति, चन्दनतरुश्छेदकायाऽपि सुगन्धं वितरति, पीलितोऽपीक्षुदण्डो मधुररसं प्रयच्छति । तथा भवतापि मे दुर्गुणान् स्वान्तेऽगृहीत्वा स्वसौजन्यस्य पूर्णपरिचयो दत्तोऽस्ति, तदुचितमेव भवादृशानां सत्पुरुषाणाम् । यतः-

अपेक्षन्ते न च स्नेहं, न पात्रं न दशान्तरम् ।
सदा लोकहितासक्ता, रत्नदीपा इवोत्तमाः ॥७०॥

यथार्थतो ममागोऽत्यनुचितमासीद्यतः श्वश्रूवचनं मत्वा भवद्वञ्चना कृता । तदानीं तामजानत्या मया यथार्थतः स्वोदरं ताडयित्वा पीडाऽऽहूता, तदर्थं मे महान् पश्चात्तापो भवति । परं कदाचित्कदाचित्पुण्यापचयात्कर्मदोषाद्वा मनुष्याणां बुद्धिर्भ्रश्यते। यतः-

कर्मणा बाध्यते बुद्धि-र्न बुद्ध्या कर्म बाध्यते ।
सुबुद्धिरपि यद्रामो, हैमं हरिणमन्वगात् ॥७१॥

मद्विषयेऽपि तथैवाऽभूत्-श्वश्रूवचनमेत्याहं[1] कौतुकविलोकनाय गता, परं तत्र मे तस्माद्धानिर्जाता तेन सांप्रतमपि मे पश्चात्तापो भवति । चेन्मया तस्यै भवदुद्वाहवार्ता न कथिता भवेत्तदैतादृशोऽनर्थः कदापि न स्यात्, मम निजकृतेः फलं भोक्तव्यमभूत् । परमहमात्मीयं दुःखं कस्मै निवेदयेयं, स्वजाड्यवार्ता

1. आ + इ + क्त्वा ।

कस्मैचित्कथयितुं स्फूर्तिर्नेयर्ति । कृतेऽपि पश्चात्तापे विकृता वार्ता न शुद्ध्यति, यतः पयसि पीते जातिप्रश्नेन को लाभः ? यद् भाग्ये लिखितमासीत्तद् भोक्तव्यमभूत् । भाग्यस्याग्रे कस्यचित्किञ्चिन्न प्रगल्भते ।

उक्तमपि-

भगवन्तौ जगन्नेत्रे, सूर्याचन्द्रमसावपि ।
पश्य गच्छत एवास्तं, नियतिः केन लङ्घ्यते ? ॥७२॥

प्रिय ! भवद्वियोगस्य षोडशाब्दी व्यतीता । एतेषु दिनेषु मयि किं किं व्यतीयाय, मम किं किं शारीरिकं मानसिकं च कष्टं सोढव्यमभूत्, तदहमेव जानामि नान्यः कोऽपि, किमधिकमतःपरं विरहे सुखावहमपि वस्तु दुःखप्रदमेव भवति ।

यतः-

रात्रिर्मे दिवसायते हिमरुचिश्चण्डांशुलक्षायते,
तारापङ्क्तिरपि प्रदीप्तप्रचण्डयावह्निस्फुलिङ्गायते ।
धीरो दक्षिणमारुतोऽपि दहनज्वालावलीढायते,
हा हा! चन्दनबिन्दुरद्य जलवत्संचारिरङ्गायते ॥७३॥

किन्तु भवत्पत्रमवाप्याऽविलम्बितं च भाविनं भवत्समागमं ज्ञात्वाऽहं तां सर्वां वार्तां व्यस्मार्षम् । अद्य त्वहं भवत्संगमकल्पनां कृत्वाऽऽनन्दनिमग्नैकविधाऽनिर्वचनीयस्वप्नसुखे विहरमाणाऽस्मि। हे जीवनाधार ! भवतो मनुष्यत्वप्राप्त्यवगमतो गुरुप्रहर्षो हृदि न माति । मत्कृतेऽस्मात्परः सुखसमुदायसमाचारोऽन्यो न ह्येव भवितुमर्हति ।

यतः-

पतिर्देवो हि नारीणां, पतिर्बन्धुः पतिर्गतिः ।
पत्युर्गतिसमा नास्ति, दैवतं वा यथा पतिः ॥७४॥

परमयमुदन्तः श्वश्र्वाः कर्णातिथिर्यदि भवेत्तर्हि सोत्पातकरणं विना नैव तिष्ठेदिति साम्प्रतमस्या वार्ताया गुप्तरक्षणमेव श्रेष्ठतमम्। ततो भवता गतेषु कतिचिद्दिनेषु तस्यै पत्रप्रेषणेनात्रागमनेच्छा प्रकटनीया, पुनरवसरोचितं कार्यं कर्तव्यम् । किं बहुना ? मदपराधः क्षन्तव्यः, मद्दुर्गुणा विस्मरणीयाः, मां च निजकिङ्करीं बुद्ध्वा झटित्येव दर्शनायाऽनुकम्पा विधेयेति पत्रं लिखितं भवद्दास्या गुणावल्या । ततो राज्ञश्चन्द्रस्य चेतस्यस्य पत्रस्य प्रौढः प्रभावः पतितः । स चित्ते चिन्तितवान्-गुणावली वस्तुतो गुणावल्येव विद्यते, तत्प्रेम विवेकश्च श्लाघ्यतमोऽस्ति । मद्भाग्यं तदहः शीघ्रमेव दर्शयेत्, यस्मिन्नहं तया संगच्छेयावयोश्चास्य वियोगस्याऽवसानमागच्छेत् ।

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्य चतुर्विंशपरिच्छेदे वीरमत्याः पर्यवसानम्-

अथ राज्ञश्चन्द्रस्य नृत्वाप्तिसमाचारे विदिते सत्येव सामर्षा वीरमती ध्यातवती-जगत्येतादृक्षः कः शक्तिमान् विद्यते, येन चन्द्रः पुनर्नरो विरचितः ? तस्यात्रागमनेच्छापि श्रूयते, परमेतत्सर्वं ममैव त्रुटिरस्ति, यन्मया स जीवन्मुक्तः । मदग्रेऽर्भको भूत्वा पुनरपि स मे स्पर्धा कर्तुमीहते, परं तन्न सुलभमस्ति । अहं तस्यागमनमेव न दास्यामि, स्वयमेव विमलापुरीमेत्य तन्मानमर्दनं करिष्यामि, चैवं कृते जना मदीयां श्लाघामपि करिष्यन्ति। पुनरिदानीमनया घटनया मे शिक्षाप्तिरपि जाता, यज्जीवतः शत्रोर्मोचनं मौढ्यमस्ति । एवं विचार्य वीरमती गुणावलीं निजोपान्ते समाहूयाऽवक्-गुणावलि ! श्रुतं मया यद् विमलापुर्यां तव भर्तु-र्मानवत्वाऽऽप्तिर्जाताऽस्ति, स चाऽत्राऽऽगन्तुमिच्छति, परमेष तस्य महाभ्रमो विद्यते, यतः स मां कदापि जेतुं न शक्नोति । तवापीयं वार्ता विदिता स्यात्, परं मद्भयान्न प्रकटयसि। पुनरनुत्पातेच्छा चेत्त्वया पत्रलेखेन तस्मै सूचनीयम्, यदत्रेत्य स राज्यकरणेच्छां जह्यात्, सहैवायमुदन्तो गुप्तेन रक्षणीयो भविष्यति । कस्मैचित्क-स्यचिद् वृत्तान्त-कथनस्यावश्यकता नाऽस्ति । चेत्त्वमस्यां मदीय-सूचनायां सावधाना न भविष्यसि, मद्वञ्चनचेष्टां च करिष्यसि, तदा ज्ञातव्यं यन्मत्तोऽधिकं जगति कोऽपि कुत्सितो नाऽस्ति । अहं तं प्रबोधयितुं विमलापुरीं जिगमिषामि । तावत्त्वमत्र सुखेन

तिष्ठ, अहं यथासंभवं शीघ्रमेवागमिष्यामीति निशम्य तयाऽभाणि- पूज्ये ! श्वश्रु ! भवतीत्थं कथं ब्रूते ? मम तु तन्नरत्वभवने किमपि प्रत्ययो नैव जायते । मया तु त्वादृशः शक्तिशालिजनः कुत्राऽपि नावलोकितः । कस्मिन्नेतादृशी शक्तिर्वर्तते, यो भवत्कृतमन्यथा कुर्यात् ? मम त्विदमसंभाव्यं लक्ष्यते । नटानामेतावद्दूरगमनं तत्र तस्य मनुष्यभवनमिति सर्वमनृतं प्रतिभाति, ॐ भवदिच्छा चेत्तदैवैवं भवितुर्महति, यतो भवत्यामित्थं दैवीशक्तिर्विद्यते, अन्यस्मिंस्तादृशी शक्तिर्नास्ति । श्रीमती विमलापुरीं सहर्षं गन्तुमर्हति, तत्र मन्निषेधो न, परं मन्मनीषया तत्र गमनेनाऽलम् । अतःपरं सम्यग् विचार्य यद्रोचते तत्क्रियताम् ।

यतः-

न तच्छस्त्रैर्न नागेन्द्रै-र्न हयैर्न पदातिभिः ।
कार्यं संसिद्धिमभ्येति, यथा बुद्ध्या प्रसाधितम् ॥७५॥

इत्युक्त्वा गुणावली ततो निजावासमागता, परं वीरमती कमप्युत्पातं नोत्थापयेदिति चिन्तया तच्चेतो विषण्णं बभूव । इतो निश्चिन्तमुपविष्टा वीरमती विदिताखिलमन्त्रतन्त्रादीनाराध्य तत्प्रभावतस्तत्रागतान् देवान् राज्ञश्चन्द्रस्यानिष्टायोवाच । वीरमत्युक्तमाकर्ण्य सुविचारनिमग्नैर्देवैरुक्तम्- राज्ञि ! कार्यमिदमस्माभिर्न संपत्स्यते । सूर्यकुण्डाभिषेकेनाप्तनरत्वस्य तस्य विपरीतकरणशक्तिरस्मद्बहिर्विद्यते ।

यतः-

अनुकूले सति धातरि, भयत्यनिष्टादपीष्टमविलम्बम् ।

पीत्वा विषमपि शम्भु-र्मृत्युञ्जयतामवाप तत्कालम् ॥७६॥

अत्राऽस्माकं सामर्थ्यं न स्फुरति, यतस्तद्रक्षकाः सुरा मदपेक्षया बलिष्ठा वर्तन्ते । अतोऽन्यत्कार्यमादिशतु तत्सहर्षं कर्तुं पारयामः, परमेतद् भवितुं न पार्यते । मदनुमतं मान्यं चेत् स्वात्मजस्योपरि दुर्भावं न रक्षेः, तस्मै चाभापुरीराज्यं समर्प्य तेन मिलित्वा तिष्ठेः । एतद्विपरीताचरणेन तवाऽप्यशुभेन भूयेत, दैवीयमनुमतिर्वीरमत्यै बहुलाभदायिन्यासीत्किन्तु विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ।

यतः-

पौलस्त्यः कथमन्यदारहरणे दोषं न विज्ञातया-
नक्षैश्चापि युधिष्ठिरेण रमता ज्ञातो न दोषो नु किम्? ।
रामेणापि यने न हेमहरिणस्यासम्भयो लक्षितः,
प्रत्यासन्नविपत्तिमूढमनसां प्रायो मतिः क्षीयते ॥७७॥

इति तदुक्तिं निशम्य सा ततोऽप्यधिकं क्रुद्धा जाता । तदा देवैः पुनर्बोधिताऽपि सा स्वदुराग्रहान्न विररामेति ते निजं निजं स्थानं जग्मुः । गतेषु तेषु वीरमत्या धीसखमाकार्य तस्मै सर्वो वृत्तान्तो निवेदितः, विमलापुरीगमनाय चात्माभिप्रायः प्रदर्शितः। तदा सचिवेनोक्तम्-सुखेन गच्छतु, नात्र मे निषेधः, भवत्याः पुनरागमनं यावदहं सर्वं राज्यकार्यं करिष्यामि । ततो भवत्या निश्चिन्तया तत्र यथेष्टं स्थेयम्, सचिवस्यानेन वचनेनाऽतिप्रसन्ना सा स्वान्ते तत्प्रशंसां कर्तुं लग्ना । पुनर्मन्त्रशक्त्याऽऽहूतैः समस्तदेवैः सह खड्गहस्ता व्योमवर्त्मना विमलापुरीं प्रति सा प्रस्थिता, यतोऽभिमा-

निमूढमानवः प्रतिबोधितोऽपि परकीयशिक्षां न मन्यते ।
यतः-

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो,
नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ ।
व्याधिर्भेषजसङ्ग्रहैश्च यिविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं,
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥७८॥

यदा स मूर्खो निजाखिलशक्तिं परीक्ष्य हताशो जायते, तदैव तस्य स्वलाघवं दृश्यते। विमलापुर्यां गते द्रागेव तं पराजित्य जिघांसुः सा तत्र भावि तद्विपरीतं नाऽबोधि । चेद् भूधवस्य चन्द्रस्यानिष्टचिन्तनेन स्वविनाशं विद्यात्, तदैतत्कार्यं कर्तुं कटिबद्धा न भवेत् । किन्तु भवितव्यताग्रे कस्यचित् किञ्चिद्बलं न चलति, तथैव नृणां भाग्यानुकूलमेव फलमप्युत्पद्यते ।
उक्तमपि-

पिता रत्नाकरो यस्य, लक्ष्मीर्यस्य सहोदरी ।
शङ्खो रोदिति भिक्षार्थी, फलं भाग्यानुसारतः ॥७९॥

यदा देवोक्तममत्वा वीरमती विमलापुरीं प्रति स्वैरं प्रस्थिता, तदैकेन सुभक्तेन सुरेणोपचन्द्रमेत्य प्रोक्तम्- नृपते ! मदीयां शिक्षामुल्लङ्घ्य वीरमती भवद्विनाशायात्रागच्छति, अतो भवता सावधानेन स्थातव्यम् । अहं प्रच्छन्नतया वृत्तान्तममुं निवेदयितुमायातोऽस्मि । यद्यप्युरुपुण्यवतो भवतः सा बालमपि वक्रं कर्तुं न शक्ष्यति, तथापि मया भवते सूचनादानमुचितं ज्ञातम्, यतो भवानपि तस्याः संमुखकरणाय सज्जितस्तिष्ठेत् । देव-

भाषितमिति निशम्य प्रहृष्टेन भूजानिना चन्द्रेण विमलापुर्याः पथ्येव तत्संमुखीनेन भूत्वा तस्या रोधनमुचितमज्ञायि । तदर्थं तत्काल एव सर्वा सामग्री प्रगुणीकृता, वायुवेगानां हयानामेको गणोऽपि सज्जितः । पुनर्नृपश्चन्द्रः कवचकलितकलेवरः सशस्त्रः प्रगुणीभूयैकमश्वमारुह्य सांयुगीनैः सप्तसहस्राश्ववारैः सहाऽऽखेटमिषेण विमलापुरीतो निर्गतः । कियद्दूरे गते व्योमवर्त्मनाऽऽयान्ती वीरमत्यदृश्यत, तदातीव मन्युना तदीयाऽऽकृतिः कृशानुशिखेवारुणासीत्परं तच्छोभनं मन्यमानेन धरेशेन चन्द्रेण चेतसि चिन्तितम्-मन्ये, मामियमाभापुर्यां नेतुं वाऽऽमन्त्रणायैवाऽऽयाति।

वीरमत्याऽपि दूरादेव स्वाभिमुखमागच्छन्नृपश्चन्द्रोऽवलोकितस्ततस्तयोच्चैरम्बरादेवोक्तम्- अरे चन्द्र ! सम्यग् जातं, यत्त्वं सम्मुखमागतः, यतो मे कुत्रचिद् गवेषणायासोऽपि कर्तव्यो न भविष्यति । परमहं जाने, यत्त्वं कुक्कुटावस्थं निजातीतदिनं व्यस्मार्षीः । त्वं त्वदीयश्वशुरादिभिरप्यत्राऽऽगमनान्न निरुद्धः किम्? त्वमाभापुरीमाजिगमिषुरसि, किन्त्वेतावत्स्मरणीयं-पृष्ठस्थपटहवादनेनाप्यबिभ्यन्महाङ्गः सूर्पवादनेन किं क्वापि बिभेति ? अथ त्वं मदभिमुखं किं पश्यसि ? अहं त्वां जीवन्तं न त्यक्ष्यामि । त्वं स्वेष्टदेवं स्मर, मम समक्षमागच्छ, स्वखड्गपराक्रमं दर्शय । एवं तयोक्तेन चन्द्रेण सविनयं प्रत्युक्तम्- पूज्यमातः ! मयि रोषं मा कुरु, मया तु भवत्याः किञ्चिदपि नाऽपराद्धं, पुनर्न जाने केन कारणेन मे क्रुध्यसि ? मया सार्धं युद्धकरणं किं ते शोभां दास्यति ? इत्यपि विचारणीयम् । अहं तु त्वामेतदेव प्रार्थयामि, यत्त्वया साकं मां योद्धुं नोत्साहयतु, चेत्तथैव तवेच्छा तदा तदर्थमपि

सज्जितोऽस्मि । पूर्वत एवाऽहं जानन्नस्मि यत्त्वदागमनोद्देशो मद्दण्डदानादृतेऽन्यो न स्यात् । त्वद्गुणैरहं सुपरिचितो विद्ये, परमिदानीं तद्वर्णनं नोचितं मन्ये ।

यतः-

अविनीतः सुतो जातः, कथं न दहनात्मकः? ।
विनीतस्तु सुतो जातः, कथं न पुरुषोत्तमः? ॥८०॥

अस्य जीवनस्य राज्यस्य च दुराशया भवती मिथ्याभिमाने नो पततु, जगति हास्यजनकं च कार्यं मा करोत्वियमेव माम-कीनाऽभ्यर्थना । भूधवचन्द्रस्यैतद्वचः श्रुत्वा तन्मन्युस्ततोऽप्यधिक-मैधिष्टेति क्रोधेद्धया तया चन्द्रे क्षिप्तोऽसिस्तत्कवचेऽपतत्, अतः सोऽक्षताङ्ग एवाऽस्थात्, परं स एव करवालस्तत उच्छल्य वीरमत्या वक्षःस्थलेऽलगत्, येन मूर्च्छिता सा भूमौ निपपात।

अत उक्तम्-

यः परस्य विषमं विचिन्तये- त्प्राप्नुयात्स कुमतिः स्वयं हि तत्।
पूतना हरिवधार्थमाययौ, प्राप सैव वधमात्मनस्ततः ॥८१॥

ततश्चन्द्रनृपपुण्यप्रभावेण देवशक्त्या च स खड्गः परावृत्य पुनरुपचन्द्रमायातस्तेन सादरं स्वपार्श्वे खड्गो रक्षितः । खड्गा-घातान्मूर्च्छितापि सा जीविताऽऽसीदिति नृपतिश्चन्द्रो विष्णुकुमारस्य मन्त्रिणो नमुचेश्च दृष्टान्तं चिन्तयित्वा दुर्जनाय दण्डदानमेवो-चितमिति स्थिरीचकार । अतस्तेन तदानीं तस्यामनुकम्पाकरण-मसाम्प्रतं मत्वा तच्चरणं गृहीत्वा नभसि भ्रामयित्वा यथा रजको वस्त्रं शिलायां पातयति तथैवैकस्यां शिलायां सा पातिता ।

तद्वेदनामसहमानायास्तस्याः प्राणपतङ्गः कायपिञ्जरं परित्यज्य द्रुतं तदैवोदडीयत। निजदुष्कृतिवशात्तस्याः षष्ठनरके गन्तव्यमजनिष्ट यतः संसारे पापबहुलानां प्राणिनामियमेव गतिर्जायते। अथ चन्द्रराजस्योपरि व्योम्नो देवैः पुष्पवृष्टिं विधाय जयारावः कृतः, पुनर्वीरमती भवाब्धौ निमग्नाभूत्। यतो धर्मधारिभिः पुरुषैर्यो वैरं विदधाति, तस्यैवमेव गतिर्भवति। यथासमयं धरेशश्चन्द्रो विमलापुरीमागतवान्, तत्र तेन विजयदुन्दुभयो वादिताः। विदितवृत्तान्तेन राज्ञा मकरध्वजेनाऽपि मुदाऽर्धराज्यदानेन राजा चन्द्रः सत्कृतः, तद्वृत्तज्ञा प्रेमलाऽपि प्रहर्षात्प्रोत्साहेन चन्द्रं शुश्रूषमाणा सांसारिकसुखमुपभुक्तवती। अथ सकलापद्रहितस्य चन्द्रस्य वचनातीतसुखमयानि दिनानि निर्गन्तुं लग्नानि।

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्य पञ्चविंशपरिच्छेदे

विमलापुरीतश्चन्द्रराजस्य प्रस्थानम्-

चन्द्रभूजानिना वीरमती हतेति, वृत्तान्तः केनचिन्निर्जरेणाम्बरादाभापुरीमेत्य गुणावल्यै निवेदितः । तं शुभसंवादं श्रुत्वैव तया प्रसन्नतयाऽऽह्वायाहूताय सचिवाय सर्वोदन्तः श्रावितः। तेनातिहर्षालुना धीसखेनाऽप्यखिले नगरे सा वार्ता प्रकाशिता । तेन तद्वीरमतीमृत्यूपलक्षे नागरिकैरपि महोत्सवः कृतः । अथाऽऽश्वेवाभापुर्यां चन्द्रागमनमीहमानास्तद्दर्शनेन निजात्मानं कृतार्थं करिष्यमाणा नागरिका महत्तमास्तत्रत्यप्रजापक्षात् चन्द्रराजायैकं पत्रं लिखितवन्तः । यस्मिन्नस्य विजयस्य तस्मै वर्द्धापनिका दत्ता सपदि तदागमनाय चाऽभ्यर्थनापि कृता। ततो वीरमतीतोऽपगतभयाऽपि सा गुणावली पतिधना पतिव्रतेति पतिदर्शनाभावात् प्रसन्नकल्पेवाऽवर्तत । यतः पतिमन्तरेण तस्याः सुखोदयः कुतः? अतः साऽनेन दुःखेन खिन्नमना अतिष्ठत् । अन्यदा सा मनस्यचिन्तयत्-अथ मे प्राणनाथः सौराष्ट्रदेशप्रिय एव भविष्यतीति लक्ष्यते । तत्त्वतः प्रेमलयैव मे हितं विहितमस्ति, यतस्तदुद्योगादेव पतिदेवस्य मनुष्यत्वप्राप्तिर्जाता, परं पुनरपि तस्याः सपत्नीत्वात्सा तदागमनं कथमङ्गीकरिष्यति ? आहो ! चेत्कश्चित्तत्रेत्य तं बोधयेत्-यत् श्वशुरकुले चिरस्थितिर्न शोभते महताम्, तदाऽत्र तदागमनं संभाव्यते । परमेतादृशः परोपकारी को भवेत् ? यस्तत्र गत्वा

मदर्थमेवं प्रयतेत, पुरुषाणां पूर्वा पाणिगृहीती प्रियतरा भवतीति केषाञ्चिन्मतं विद्यते, केषाञ्चित्तु नूत्नायामेव पत्न्यां प्रेमाधिक्यं प्रवर्तत इति मतं वर्तते । तत्रोभयोर्मतयोः परमेव मतं मान्यम्, यतः षोडशकलापूर्णस्य पूर्णिमाचन्द्रस्य दर्शनमनादृत्य द्वितीया-चन्द्रस्य दर्शनार्थं जना धावन्ति ।

उक्तमपि-

प्रथमदिवसचन्द्रः सर्वलोकैकवन्द्यः,
स च सकलकलाभिः पूर्णचन्द्रो न वन्द्यः ।
अतिपरिचयदोषात्कस्य नो मानहानि-
र्नवनवगुणरागी प्रायशः सर्वलोकः ॥८२॥

तथैव मे पतिदेवोऽपि प्रेमलाप्रेमपाशे पतितो लक्ष्यते । अहं श्वश्रूवचनमागतेति मयि तस्य तादृशः स्नेहो न, यतो यस्य यत्र ताम्रचूडत्वमापतितम्, तत्र तस्मा आगमनमपि कथं रोचेत ? परं तेन विना मच्छरीरशोषो बोभूयते, अश्रुक्लेदितवस्त्रेण मम सदैव यामिनी याति, तद्विरहानलेन मे देहो दह्यते, अस्याग्नेस्तदागमनेनैव प्रशान्तिः स्यात् ।

यतः-

रात्रिर्मे दिवसायते हिमरुचिश्चण्डांशुलक्षायते,
तारापङ्क्तिरपि प्रदीप्तवडवावह्निस्फुलिङ्गायते ।
धीरो दक्षिणमारुतोऽपि दहनज्वालावलीढायते,
हा हा! चन्दनबिन्दुरद्य जलवत्संचारिरङ्गायते ॥८३॥

इत्यादिवार्तायास्तस्य किं ज्ञानं स्यात् ? । यदा गुणावल्येतद्

विचिन्तयन्त्यासीत्तदैवाकस्मात्तत्रैकः शुकः समीयिवान्, तेन च नृभाषयोक्तम्- अयि सुन्दरि ! त्वं केनाभिभूतासि ? त्वमियत्युदासीना कथं लक्ष्यसे ? अहं दिव्यः खगोऽस्मि, चेत्त्वं मे नैजं दुःखं निवेदयेस्तर्ह्यहं निष्पराक्रमोऽपि तन्निवारणोपायमवश्यं कुर्याम्। यतः-

उपायेन हि यच्छक्यं, न तच्छक्यं पराक्रमैः ।
वने सिंहो मदोन्मत्तः, शशकेन निपातितः ॥८४॥

शुकोक्तं निशम्य चमत्कृतचित्तया तयाऽभाणि- हे विहगराज ! विदेशवर्तिनः प्रियस्य वियोगेनोदासीनाऽस्मि। प्रभूतदुःखस्येयं वार्ता विद्यते, यत्कश्चिदेवंभूतो जनो न दृश्यते, यो मामकीनं वाचिकं तत्र नयेत्, तत्रत्यं चात्राऽऽनयेत्, ममान्तरिकं कष्टं केवलं सर्वज्ञ एव जानाति । तदा कीरेण भाषितम्- स्वसः ! खेदं मा गमः, त्वमेकं पत्रं लिखित्वा देहि, तदहं त्वद्भर्तुरन्तिके नेष्यामि। ततस्तया तूर्णं पत्रमेकं लिखितम्, परं लेखनावसरे निःसृताभिरश्रुधाराभिर्निखिलं पत्रं क्लिन्नमभूत्, तादृशमेव पत्रं मुद्रितं कृत्वा कीरायार्पितम् । सोऽपि तन्नीत्वा तत उड्डीय स्तोकेनैव कालेन विमलापुरीमागत्य राज्ञश्चन्द्रस्य करे ददिवान् । राजा चन्द्रोऽप्यौत्सुक्येन तदुन्मुद्रयित्वा पेठिवान् । परं बाष्पार्द्रतया तत्रत्यानि सर्वाण्यक्षराणि नष्टप्रायाण्यासन्, तथापि यथातथा पठित्वा गुणावल्या अदः पत्रं द्रागेवाभापुर्यागमनाय तयाऽनुरोधः कृत इत्येतावन्मात्रमेव सोऽबोधि । पत्रस्यामुमाशयं विदित्वा विचारपतितः स चेतस्यचिन्तयत् ।

यथा-

अद्यापि तत्प्रचलकुण्डलमृष्टगण्डं,
वक्त्रं स्मरामि विपरीतरताभियोगे ।
आन्दोलनश्रमजलस्फुटसान्द्रबिन्दु-
मुक्ताफलप्रकरविच्छुरितं प्रियायाः ॥८५॥

सुखेनाऽत्र निवसन्नहमसहायाया गुणावल्याः संकट-मयदिनानि कथं निर्गच्छन्ति ? इत्यपि न जानामि, अतः सपदि तत्रेत्य मया स्वराज्यालोचनं कर्तव्यम्, सा च सुखिनी कर्तव्या। अनेन विचारेणोद्विग्नचेतस्कं चन्द्रं वीक्ष्य प्रेमला प्रोचे- प्रियतम ! अद्येत्थमुदासीनः कथं भवन्नस्ति ? भवतः स्वदेशस्य स्मृतिः समायाता, उत भगिन्या गुणावल्याः ? किमयं सौराष्ट्रनीवृद् भवते न रोचते ? किमु मत्तो भवत्सेवायां काचिन्न्यूनता जाताऽस्ति? हे प्राणवल्लभ ! चेद् गुणावल्याः स्मरणेन विमना जातो भवेत्तर्हि साऽत्राऽऽकार्यतामहं तस्याः किङ्करी भूत्वा तदीयां सर्वामाज्ञां शिरोधार्यां करिष्यामि । मज्जनकेनाऽपि निजराज्यार्धं भवतो वितीर्णमस्ति । एतत्त्यक्त्वाऽऽभापुरीगमनं किमुचितं स्यात् ? चन्द्रराजेनाभ्यधायि- प्रिये ! साम्प्रतं मदीयाभापुरी शून्या जायमानाऽस्ति । तत्राऽराजकत्वाद् वीरमतीपराभूताः पार्श्ववर्तिनो राजानोऽवसरं प्राप्योपद्रवन्ति । ततः पत्रमप्यागतमित्यधुना तत्र गमनं विना कार्यं न निरियात् । प्रेमला चतुररमणीत्वाद् राज्ञ-श्चन्द्रस्याऽनेन कथनेन तूर्णमेव ज्ञातवती, यदयमिदानीं तत्र गमनादृते न स्थातुं शक्नोति, अतस्तया गमननिरोधो न कृतः । राजा चन्द्रस्तां बोधयित्वा तत्तातासन्नमेत्य तस्मै सर्वमुदन्तं विज्ञापयन्निज-

गाद-आभापुरीतो हूतिरागतास्ति, ततस्तत्र गमनमावश्यकं विद्यते। तत्रत्यं कार्यजातमपि नितरां संभालनीयमस्ति। इदानीं निःस्वामित्वादाभापुरी शून्या जायतेतमां, प्रजाजनोऽपि दुःखी बोभूयते, ततो नृपस्य नृपत्वं निरर्थकम्।

उक्तञ्च-

प्रजा न रञ्जयेद्यस्तु, राजा रक्षादिभिर्गुणैः।
अजागलस्तनस्येव, तस्य जन्म निरर्थकम् ॥८६॥

भवद्दत्तसुखाय मे भवन्तं मुक्त्वा तत्र गमनमपि नो रोचते, यतो मयि भवतातीवोपकृतमस्ति, भवत्सौजन्यमहमत्र जीवने कथमपि नैव विस्मरिष्यामि। अथ चेद् भवदाज्ञा स्यात्तदा तत्र गत्वा निजराज्यकार्यप्रेक्षां कुर्याम्। परं भवता पत्रं लेखनीयम्, नाहं विस्मरणीयः, मयि चैवमेव स्नेहभावो रक्षितव्यः। भूपतेश्चन्द्रस्येदं विनयवचनमाकर्ण्य, मकरध्वजेन गमननिषेधवचसा बहुबोधितस्यापि तस्य यदा विचारवैपरीत्यं न जातं तदा पुनर्मकरध्वजेनोक्तम्- भोः कुमार! विकृतः करी कथमपि करे नाऽऽयाति, कृषीवलान् बद्ध्वा कृषिर्न कार्यते, मार्गिताऽऽभूषणानि शश्वन्निजपार्श्वे न तिष्ठन्ति, प्राघूर्णकैर्गृहकुटुम्बवृद्धिर्न भवति, प्रवासिनां च प्रीतिश्चिरस्थायिनी न भवति, अतो भवता सहर्षं गन्तुं शक्यते। इतो गतेऽपि भवान् मम स्वान्तात्कदापि न गन्तुमर्हतीति मयि विश्वासः कर्तव्यः। इत्थं लब्धादेशस्य चन्द्रस्य हृदि परा मुदजनि। तदैव राज्ञा मकरध्वजेन प्रस्थानसामग्रीं विधातुं स्वसेवका आदिष्टाः। क्षितीशेन चन्द्रेणाऽपि निजसामन्तेभ्यः सज्जितुमाज्ञा दत्ता। अथ नृपतिना मकरध्वजेनाकारिता प्रेमला प्रोक्ता- वत्से! त्वं साक्षाद् गुण-

मञ्जूषाऽतो मेऽतिप्रियसुताऽसि । तव भर्ताऽऽभापुरीगमनाय भृशमुत्सुको भवन्नस्ति, मया वारितगमोऽपि स न मन्यते । अथ त्वं तत्र गन्तुमत्र स्थातुं वेच्छसि तद् ब्रूहि । प्रेमलयोक्तम्- तात ! छायेव पतिवर्त्मगा सदाचारिणी प्रियेति तेन सहैव गमिष्यामि । उक्तमपि-

भक्तिः प्रेयसि संश्रितेषु करुणा श्वश्रूषु नम्रं शिरः,
प्रीतिर्यातृषु गौरवं गुरुजने क्षान्तिः कृतागस्यपि ।
अम्लाना कुलयोषितां व्रतविधिः सोऽयं विधेयः पुन-
र्भर्तुर्दयिता इति प्रियसखीबुद्धिः सपत्नीष्वपि ॥८७॥

सकृत्स्खलिता परमधुना नो स्खलिष्यामि, विदिततनयाशया तज्जननी सखेदं वक्तुं लग्ना-जनयित्र्या दुहितृजननादधिकं दुःखमन्यन्नाऽस्ति । परमतिविचक्षणाऽपि तनया सत्यपि मातृस्नेहे श्वशुरसद्मगमनं विना स्थातुं नार्हतीति बहुकन्यकोऽपि तातः कौटुम्बिकत्वं न व्रजति । पुनः पत्युः प्रभूतार्थान्विता अपि दुहितरः पितुर्गृहाद्यत्किञ्चिल्लातुमेवेच्छन्ति । ताः सदा भर्तृकुलपक्षपातमेव कुर्वते, नो पितृकुलस्य, अतः कन्यावृन्दादेकः पुत्र एव वरः । तेन तु तत्कुलमलं भवति तयेत्थं बहुविकल्पसङ्कल्पौ कृतौ, परं ताभ्यां को लाभः ? पुत्री परकीयेति परिणामात्सा कदाचित्प्रेषितव्यैव भवेदिति ध्यात्वाऽन्ते तया मात्रा राज्ञा मकरध्वजेन च पुत्रीप्रस्थान-वस्तु प्रगुणितम् । ताभ्यां प्रेमलायै दासदासीवस्त्राभूषणशय्यावाह-नादिवस्तुपुञ्जं दातुं काऽपि त्रुटिर्न कृता । ततो राजा चन्द्रोऽपि प्रस्थातुं प्रोद्यतः, ततः प्रेमलापितृभ्यामपि तां रम्यरथे समुपवेश्य चन्द्रः प्रोक्तः- भोः कुमार ! मदीयेयं तनया सदातनीना भावत्का

जाताऽस्ति । इयमद्याऽवध्यस्माभी रक्षिता, परमद्य सर्वोत्कृष्ट-कन्याधनं सहर्षेण भवत्करे समर्पयामि । अतो भवतेयं सुरक्षणीया, अस्याः सम्मानवर्धनं भवद्धस्ते विद्यते । इयमिदानीमनभिज्ञाऽस्ति, एनया कदापि गृहाद् बहिश्चरणमपि न रक्षितम्, पित्रोर्लाल्यत्वा-ल्लालनपालनयोरेवैधिताऽस्ति, अतोऽस्याश्चेच्च्युतिरपि भवेत्तर्हि क्षन्तव्या भवता । अस्या गमनमनिच्छतापि मया भवदनुगमनादेनां रोद्धुं कथं शक्यते ? । भवता स्वराज्यस्य समुचितं प्रबन्धं कृत्वाऽरमेवागन्तव्यम्, यतोऽत्र यत्किंचिन्मामकमस्ति, तदपि सर्वं प्रान्ते भावत्कमेव भविष्यति । ततस्ताभ्यां पुत्रीं प्रस्थापयद्भ्यां सा कथिता- अयि प्रियवत्से ! त्वं श्वशुरालयं लब्ध्वा जनयित्रोरा-स्यमुज्ज्वलयेथाः । स्वसपत्नीमग्रजां बुद्ध्वा सम्मानयेः । तव श्वशुरयोरभावात्स्वामिनमेव सर्वस्वं मत्वा सदा सोऽनुरञ्जनीयः। कदाचिदनवधानतयाऽपि यत्तदर्थं कलिर्नैव कार्यः ।

यथोक्तम्-

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने,
भर्त्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोग्येष्वनुत्सेकिनी,
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥८८॥

तव चातुर्यं जानन्नप्यहं स्वकर्तव्यं ज्ञात्वा त्वां ज्ञापयि-तुमिच्छामि, यन्मर्मभिद्यापद्यपि देवगुरुधर्मप्रमादो न विधेयः । एषु विषयेषु स्तोकमप्यौदास्यं न दर्शनीयम्, दानपुण्यादिसम्बन्धे तवाऽधिककथनस्यावश्यकतैव नाऽस्ति, तत्तु त्वदाह्निकं कर्म वर्तते। पुनरेतदपि स्मरणीयं, यत्प्राणिमात्रायापि कदापि कष्टं

नैव देयम् ।

यतः-

न सा दीक्षा न सा भिक्षा, न तद्दानं न तत्तपः ।
न तद् ध्यानं न तन्मौनं, दया यत्र न विद्यते ॥८१॥

इत्थं तां शिक्षयतोस्तयोस्तन्मात्रा निजाश्रुधारया प्रेमलाप्लावितेव, पित्रोर्वियोगविखिन्नां तां परितः परिवृताः सुसख्योऽप्यासन्, ताभ्यः पृथग् भवने तस्या दुःसहं दुःखमजनि परं तदानीं ताभिः प्रेमपूर्णवचोभिस्सा शमिता । तदा सुरगणोऽपि तद्दृश्यावलोकनाय वियति स्तम्भित इव बभूव । मुहुः सर्वैः समं मिलित्वा सजललोचनं प्रस्थानं सा ययाचे ततः श्वश्र्वा चन्द्रनिटिले चन्दनं चर्चयित्वा तत्करे दीनारान्वितं श्रीफलं दत्तम् ।

अथ राज्ञश्चन्द्रस्यादेशेन शुभमुहूर्ते तत्सैन्यमाभापुरीं प्रस्थितम् । तदनन्तरं सपरिकरस्य मध्येनगरं भूत्वा पुरो वाद्यमानवाद्यस्य व्रजतस्तस्योपरि चतुष्पथे नागरिकैर्मुक्ताफलवृष्टिः कृता । तरुण्यो माङ्गलिकं गायनं गायं गायं तयोर्वधूवरयोराशिषो ददाना आसन्। एवं पन्थानमतिक्रामन्तः सर्वे सिद्धाचलतीर्थसमीपं समीयुः । चन्द्रावनिजानिनाधस्तादेव तन्महातीर्थं नमस्कृत्य स्तुतिश्चक्रे । ततः स्वश्वशुरादिकं विमलापुरीं प्रति वालयित्वा ततस्तेन त्वरया प्रस्थानं कृतम् । शिवकुमारस्य नटमण्डल्यद्यावधि तेन सहैवाऽऽसीदतो मार्गे यत्र यत्राऽऽवासोऽभूत्तत्र तत्र तैर्नटैर्नवनवनाटकैः सपरिकरस्य चन्द्रस्य मनोरञ्जनमकारि । इत्थमनेकं विषयं विलोकयन्, अनेकान्माण्डलिकराजान् वशीकुर्वन्, सैनिकानग्रे निःसारयन्, बह्वी राजकन्याः परिणयन् स क्रमशः पोतनपुरमाप । तत्र नगरान्नातिदूरे

वस्त्रवेश्म स्थापयित्वा सर्वे विशश्रमुः । पोतनपुरीयं सैवाऽऽसीत्, यत्र राजा चन्द्रो नटैः साकमागतोऽभूत् । पाठकैरेत्तदपि स्मृतं भविष्यति, यदत्र नाम्ना लीलाधर एकः श्रेष्ठिपुत्रो विदेशगमनाय कुक्कुटवचनप्रतीक्षां कुर्वाणः कुक्कुटराजरवे श्रुत एव विदेश-मीयिवान् । यदा चन्द्रस्तत्रागतस्तद्दिन एव यदृच्छया तस्य लीला-धरस्यापि परदेशादागमो जातः । तस्मिन्नायाते तत्परिवारैर्बहूत्सवः प्रवर्तितः । पाठकेभ्यः पूर्वमेव प्रतिपादितमस्ति, यल्लीलाधरभार्या लीलावती कृकवाकुराजं स्वधर्मभ्रातरं मत्वा तस्य परमादरं कृतवती, ततो यदा तया चन्द्रागमोदन्तः श्रुतस्तदा पत्युरनुमतिं लब्ध्वा चन्द्रनृपः स्वगृहे निमन्त्रितः, बहुविधभोजनादिभिश्च तद्भक्तिः कृता । राजा चन्द्रोऽपि तां निजधर्मजामिं जानन् तस्यै तद्भर्तृकुल-जनेभ्यश्च वस्त्राभूषणादिकं दत्त्वा तोषयामास ।

यतः-

दानेन चक्रित्यमुपैति जन्तु-र्दानेन देवाधिपतित्यमुच्चैः ।
दानेन निःशेष-यशोऽभिवृद्धि-र्दानं शिवे धारयति क्रमेण ॥९०॥

तदनन्तरं सर्वानुमत्या निजोत्तारके निववृते । तद्रात्रौ तत्रैका विलक्षणा घटना घटिता, यद्वर्णनमग्रिमपरिच्छेदे करिष्यते।

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्य षड्विंशतितमपरिच्छेदे चन्द्रशीलपरीक्षा-

यस्मिन् दिने राजा चन्द्रः पोतनपुरमध्युवास, तद्वासर एव सुरेन्द्रेण सुधर्मायामुक्तम्-जम्बूद्वीपस्याऽधिभरतक्षेत्रमाभापुरीनाम्नी नगर्यस्ति । तत्रत्यो राजा चन्द्रो यथा-स्वदारसन्तोषी सदाचारनिरतो महादयालुः परोपकारी, तथा सत्स्वपि बहुदेवमानुषेषु नाऽन्यो दृश्यते । विमात्रा स कुक्कुटीकृतः परं स्वसदाचारप्रभावात्सिद्धाचलतीर्थस्पर्शेन पुनर्मानुष्यमाप, सदाचारात्तं देव्योऽपि चालयितुं न शक्नुवन्ति, अत्र विषये स मेरुवत्स्थेयानस्ति । ईदृशीमैन्द्रीवाचं निशम्य संशयापन्नः कश्चिदमरस्तद्रात्रावेव सुराणामपि मोहजनकमद्भुतं विद्याधरीवेषं विधाय पोतनपुरस्य बाह्योद्याने स्त्रीव करुणस्वरेण रोदितुं प्रवृत्तः । तद्रोदनरवे कर्णागत एव भूपतेश्चन्द्रस्य स्वान्तं दयार्द्रं जातम् । तेन मनसि चिन्तितम्-एतादृशः को दीनजनोऽस्ति, य इत्थं निशीथे निर्जने स्थाने रोदिति ? ततः परोपकारपरायणः स सत्वरं स्वासिं नीत्वा यतो विराव आगतस्तदभिमुखमेव चचाल ।

यतः-

आपत्समुद्धरणधीरधियः परेषां,
जाता महत्यपि कुले न भवन्ति सर्वे ।
विन्ध्याटवीषु विरलाः खलु पादपास्ते,
ये दन्तिदन्तमुसलोल्लिखनं सहन्ते ॥९१॥

कियद्दूरे गते स तत्रैवाऽऽयातो, यत्र निकुञ्जे समुपविष्टा सा विद्याधरी विलपन्त्यासीत् । कामस्य रतिप्रतिमं तद्रूपमनर्घवस्त्राऽभूषणैर्विभूषितं तद्विग्रहं च विलोक्य विस्मितमानसेन तेन सा पृष्टा- अयि सुन्दरि ! त्वं निशीथेऽत्रैकाकिनी केन दुःखेन रोरुद्यमानाऽसि ? तव यद् दुःखं तन्निःसंकोचं ब्रूहि, अहं त्वा यथाशक्ति तस्मान्मोक्तुं यतिष्ये । एतन्निशम्य निजकटाक्षाऽऽशुगैर्भूधवं चन्द्रं मर्माहतं कर्तुमीहमानया तया प्रेमगर्भिवचोभिर्व्याहृतम्-हे आभानरेश! विद्याधरवधूटीं मां जानीहि, निजवृत्तान्तकथने ह्रिणीयमानाया अपि मे दुःखवशाद् भवते वक्तव्यमेव भवति । मम धवो मया सार्धं कलिं कृत्वाऽस्यां दुःस्थितौ मां मुक्त्वा कुत्रचिद् गतोऽस्ति, तेन तथाऽकार्यं कृतं यत्पुरुषेषु शोभां न विदधाति । अहमनाथाऽबलाऽस्मि, अथ मे जीवनतरिः कथं दुःखोदधितटगा भाविनीति न मया ज्ञायते । एतच्चिन्तयैव व्याकुलीभूय रोदिमि, परमधुना मत्सौभाग्येन भवानत्राऽऽगतोऽस्ति। सहैव भवताऽपि मद्दुःखदूरीकरणस्येच्छा प्रकटिताऽतो भवन्तं प्रार्थयामि, यद् भवान् मां पत्नीत्वेनोरीकृत्य मे दुःखं भनक्तु । अनेन जगति भवत्प्रतिष्ठा प्रैधिष्यते । चेद् भवान् राजन्यमन्योऽस्ति, तर्हि मदीयेयं प्रार्थना नाऽमान्या कार्या यतः क्षत्रियाः शरणागतान् जात्वपि न जहति। उक्तं च-

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः, क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः, प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥१२॥

प्रार्थनाभङ्गस्य महत्प्रायश्चित्तं भवतश्छन्नं न विद्यते । परं तादृशो वीरपुरुषो विरल एव जायते, यः परकीयप्रार्थनाभङ्गं न

विधत्ते। भवदाकारेङ्गितैरेव सत्क्षत्रजत्वं ज्ञायते, यतो मया बहुलाशा-विश्वासयुक्ता भवत इयं तुच्छप्रार्थना कृता। तदा राज्ञा चन्द्रेण निगदितम्- अयि सुन्दरि ! एवं गर्ह्यां प्रार्थनां कथं कुरुषे ? सदाचारिणो धीराः क्षत्रियाः परस्त्रीलम्पटा न भवन्ति।

यतः-

कान्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति यस्य,
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः।
कर्षन्ति भूरिविषयांश्च न लोभपाशा,
लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥९३॥

या स्त्री परपुरुषं कामयेत, तद्दर्शनेनाऽपि महापातकं लगति। पुनः स्वादुतरोऽपि पदार्थो जुष्टश्चेत्तं सत्पुरुषो नोपादत्ते। परजुष्टं तु काकमृगदंशमातङ्गादय एवाऽदन्ति, सिंहास्तु स्वहस्तहतहस्ति-नमेवाऽऽहरन्ति।

उक्तं च-

मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः, करिभिर्वर्तयते स्वयं हतैः।
लघयन्खलु तेजसा जग-न्न महानिच्छति भूतिमन्यतः ॥९४॥

तस्माद्, अयि वामलोचने ! नैतादृगनुचितोक्तिस्ते निजास्येन वक्तव्या। त्वत्कथनात्त्वत्पतिमन्विष्य त्वया संगमयितुमर्होऽप्यहं तावकीनामिमां कुप्रार्थनां कथमप्यङ्गीकर्तुं न शक्नुयाम्। परदार-सङ्गमस्त्वकुलीनमानवानां कृतिरस्ति, नो कुलीनानाम्। उत्तम-कुलोत्पन्ना जनास्तु प्राणाऽत्ययेऽपि पापाऽऽचरणे हस्तक्षेपं न कुर्वते। यतो लोकद्वयविरुद्धाचारिणां कुत्रापि सुगतिर्न जायते।

यतः-

अयशः प्राप्यते येन, येन चापगतिर्भवेत् ।
स्वर्गाच्च भ्रश्यते येन, तत्कर्म न समाचरेत् ॥९५॥

भूपतेश्चन्द्रस्येदं भाषितमाकर्ण्य सकपटरोषया विद्याधर्या प्रोक्तम्-राजन् ! मम प्रार्थनां नाङ्गीकरिष्यसि चेत्त्वां सत्क्षत्रियं नाऽहं मंस्ये । निराशायां मय्यहं प्राणांस्त्यक्त्वा तव शिरसि स्त्रीहत्यापातकं दास्यामि, अतो यथाभवेत्तथा मे प्रार्थना स्वीक्रियताम्। चन्द्रेण व्याहृतम्-अयि कामिनि ! स्त्रीहत्यापातकादपि सदाचारच्युतिपातकोऽतिरिच्यते । पश्य, पुरा रामरामां सीतां कामयमानो रावणः स्वराज्यप्राणादिभ्यो भ्रष्टोऽभूत् । पाञ्चाल्या अपहरणेन पद्मोत्तरराजस्य स्वराज्यभ्रंशादन्यः को लाभो जातः? अहिल्यारतस्येन्द्रस्य गौतमशापाच्छरीरे भगरन्ध्रसहस्रं बभूव । हिमाचलस्य पुत्र्यां पार्वत्यामासक्तस्य भस्माङ्गदस्य भस्मभवनमभवत्, चैवं द्रौपदीरतकीचकोऽपि भीमेन गृहपट्टे प्रवेशितः। इत्थं परदारपरायणा देवा मानवा वा, सर्वे सर्वैर्लोकैः कलङ्किता अपमानिताश्च बभूवुः । मत्समक्षे तादृशो नैकोऽपि दृष्टान्तो वर्तते, यत्र परस्त्रीगमनात्कोऽपि सुखभाग् भवेत् । एतद्विपरीततया येनाऽखण्डब्रह्मचारिणा भूयते, उत निजपाणिगृहीतां विहायाऽन्याः स्त्रियो जननीभगिनीवद् बुध्यन्ते स संसारे सुखी बोभूयते । अत उक्तम्-

परिहरत पराङ्गनाप्रसङ्गं, बत यदि जीवितमस्ति वल्लभं वः।
हर हर ! हरिणीदृशो निमित्तं, दश दशकन्धरमौलयो लुठन्ति ॥९६॥

कामिनी तु भवाब्धौ निमज्जयितुं शृङ्खला शिला वा वर्तते, अतो ये मानवा विवाहितामपि विजहति ते शाश्वतिकमनुत्तरं मोक्षसुखमनुभवन्ति । परस्त्रीपाषाणतरिभिरनेके पुरुषाः संसार-पारावारे तथा निमज्जिता यथा ते पुनः कर्हिचिदपि स्वोत्त-माङ्गमुच्चैर्विधातुं न शेकुः । पररमणीरमणेन ललिताङ्गकुमारस्य दुःसहं जीवितापहारकं दुःखं सोढव्यमभूत् । नाऽहं तथाऽज्ञो यज्ज्ञात्वाऽऽपदो निमन्त्रयेयम् । त्वं मां स्त्रीवधपातकाद् भीषयसे, परमहमनेन भयकारणेन स्वचारित्र्यं नैव नाशयिष्यामि ।

यतः-

स्वाधीनेऽपि कलत्रे, कश्चित्परदारलम्पटो भवति ।
संपूर्णेऽपि तडागे, काकः कुम्भोदकं पिबति ॥९७॥

अस्मिञ्जगति ज्वलनदग्धस्य त्वस्मिन्नेव भवे कष्टानुभवो भवति, परं कामाग्नौ प्लुष्टानां तु जन्मान्तरेऽपि दुःखं भोक्तव्यं बोभवीति । त्वं मे धर्मजामिर्जननीतुल्या वाऽसि, सुकुलोद्भ-वायास्तवेदृशी वार्तापि शोभां नाऽऽवहति । इत्थंकारं क्षितिपस्य चन्द्रस्याऽतुलं दृढत्वं दृष्ट्वा प्रसेदिवान् स देवो द्राग् विद्याधरीरूपं विहाय स्वरूपं च प्रकाश्य चन्द्रस्योपरि पुष्पवृष्टिं विदधानो निजगाद-राजन् ! धन्योऽसि, तव पितरौ च श्लाघ्यतमौ स्तः, याभ्यां त्वादृग् नृरत्नो जनितोऽस्ति । मघोना यादृग् भवद्वर्णनं कृतमासीत्, यथार्थतस्तथैव भवान् वर्तते । मया भवत्परीक्षार्थमेवैष सर्वोऽपि प्रपञ्चः कृतः किन्तु भवांस्तत्र न पतितः । अथ तव सदाचारित्वे मे दृढप्रत्ययो जातः, इत्याभाष्य सद्वरं च दत्त्वा स

देवश्चन्द्रराजं नत्वा स्वस्थानं गतः । इतो राजा चन्द्रोऽप्युक्तघटनां विचारयन्निजोत्तारके परावर्तत, परेद्यवि सर्वाऽनुमत्या स पोतनपुरतः प्रतस्थे, पथि साधिताऽनेकनृपेण तेन सुन्दरीणां सप्तशती परिणीता। कतिभिर्वासरैराभापुर्यासन्नमागतस्य तस्यागमनोदन्तं निशम्य गुणावली सुमतिसचिवः प्रजाजनाश्च मुमुदिरेतमाम् । तैरखिलैर्महा-महेन सम्मुखमागत्य चन्द्रनृपो नगरे प्रवेशितः, राज्ञा चन्द्रेणाऽपि स्वप्रजादिराज्यवर्गीयाः सम्मानिताः । नगरे प्रविशन्तं चन्द्रं वीक्षितुं जनवृन्दं महासागरवदुच्छलति स्म । प्रतिगृहं मङ्गलं मानितम्, सर्वेषां स्वान्ते प्रेमप्रवाहः प्रवहति स्म, तदागमेन सर्वेषां शरीरे प्राणा आगता इवेति जाने । राज्ञश्चन्द्रस्य नगरप्रवेशदृश्यं रमणीय-तरमासीद्यथा-अनेकहस्तिरथपदातिस्तोमो ध्वजधारकाश्चाग्रतो गच्छन्त आसन्, ततो वनितानां सप्तशती रथोपविष्टा गच्छति स्म, ततो मार्दङ्गिकवैणविकादिजनानां वृन्दम्, सर्वमध्ये भूपश्चन्द्रो गजेन्द्रारूढो याचकेभ्यो मुक्तहस्तेन दानं ददानो याति । तदानीं नागरिकैः कुत्रचिन्मुक्ताफलवृष्टिः, क्वचित्पुष्पवर्षा कृता । क्वापि तरुण्यो रमण्यो मधुरालापेन स्वागताशीर्वादमयं गानं गायन्ति स्म । राजा चन्द्रोऽपि शिरो नामं नामं सर्वेषां स्वागताऽभिवाद-नानामुत्तरं ददद् गच्छति स्म । तस्मिन् क्षणे स यत्रैव दृष्टिक्षेपेण दृष्टवांस्तत्रैवाऽमृतवर्षणमिवाऽजायत । इत्थं शनैः शनैर्मार्गमतिक्रम्य राजा चन्द्रः स्वप्रासादपार्श्वमाससाद । तत्र द्विपेन्द्रादवतीर्य निज-जायाभिः सह सवर्धापनं सोऽन्तःपुरं प्रविवेश । तदा स्वपदपतितां गुणावलीं तेनाऽतिप्रेम्णोत्थाप्य हृदयेनाऽऽश्लिष्टा । ततस्सा राज्ञीनां सप्तशती गुणावल्याश्चरणौ स्पृष्ट्वाऽतिस्नेहेन मिथोऽमिलत् । भूभर्त्रा

चन्द्रेण प्रतिपत्त्यर्थं पृथक् पृथग् निवासप्रबन्धं कृत्वा सर्वा यत्र तत्र प्रेषिताः स च स्वयं गुणावल्यावासे गतः । तदानीं गुणावल्याः प्रमोदपराकाष्ठा नाऽऽसीदिति तया मुक्तहृदयं महाराजस्य स्वागतं कृतम्, विविधभोजनादिभिश्च तस्य भक्तिं विधाय सर्वथा स संतोषितः । अथ चन्द्रस्य सुखमयानि दिनानि निर्गच्छन्ति स्म, तस्य देव्यः सापत्न्यरहिताः परस्परं स्नेहवत्यः शरीरभिन्नेऽप्येकप्राणा इव मिथोऽनेकविधहास्यवार्तालापविनोदेन कालं गमयामासुः । ततोऽतिमहेन राज्ञा चन्द्रेण गुणावली पट्टराज्ञी विहिता, तेनाऽन्या अपि महिष्यः प्रसेदुः । अथ राजा चन्द्रः कुशलक्षेमपूर्वकं राजकार्यं संचालयन् प्रजाभ्योऽतुलं शर्म ददिवान् । यतः-

क्षमी दाता गुणग्राही, स्वामी दुःखेन लभ्यते ।
शुचिर्दक्षोऽनुरक्तश्च, जाने भृत्योऽपि दुर्लभः ॥९८॥

अन्यदा गुणावलीचन्द्रौ रहस्युपविष्टावास्तां तदा तया चन्द्रः प्रोक्तः- प्राणप्रिय ! भवद्विरहे मया षोडशवत्सरा अतिकष्टेन निःसारिताः, परमहं भगिन्याः प्रेमलायाः परामुपकृतिं मन्ये, यतस्तत्प्रभावादेव मे भवद्दर्शनं जातम्, पुनः स्मयमानया तयाऽभाणि- पश्य, प्रिय ! चेदहं भवन्मातुर्वचो मत्वा तया सह विमलापुरीं न गता भवेयम्, तदा प्रेमलया साकं भवदुद्वाहः कथं भवेत् ? अतो भवता ममोपकृतिरेव मन्तव्या । तदा राज्ञा चन्द्रेणाऽपि विहस्योक्तम्- प्रिये ! इयन्ति वर्षाणि यावदहं कुक्कुटो भूत्वा विविधदेशाटनं कृतवान्, तदर्थमपि तवैवोपकारो ज्ञातव्यः । गुणावल्याऽऽलपितम्-

प्रिय ! अनाप्तकुक्कुटत्वे सति भवतः सिद्धाचलतीर्थयात्रालब्धिर्भवाऽब्धिनिस्तारश्च कथं भवेत्? अतो ममाऽपकारोऽप्युपकारतयैव बोद्धव्यः । यतः सज्जनाः सदेत्थमेव विदधति, ते परकीयदोषाननादाय तदीयगुणानेवाऽऽददते । अहं निजजाड्यात् श्वश्रूवचःस्वागता ततो मे तत्फलं भोक्तव्यमेवाऽभूत् । प्राणनाथ ! भवदनुपस्थितावेकस्मिन्नपि वासरे ममाऽक्ष्णोरश्रु न शुष्कम् । अहं तु दैवमेतदेव प्रार्थयामि, यन्मे कस्मिंश्चिदपि भवे भवद्विमातृसदृशीं श्वश्रूं न देयात्। तया मे यो दण्डो दत्तस्तमहं यावज्जीवं विस्मर्तुं न शक्नोमि । यावद् भवान् कुक्कुटरूपेणाऽपि मम समक्षेऽस्थात्, तावन्मे कथञ्चित्संतुष्टिरतिष्ठत्, परं यदा शिवमालया नट्या समं भवान् ययिवान्, ततःप्रभृति मदीयवासराणि यथा व्यतीयुः, तत्केवलं परमात्मैव वेद । मम जीवनं पशुपक्षिभ्योऽप्यतिदुःखमयं जातम्, पुनर्यद्दिनादारभ्य भवतो मनुष्यत्वप्राप्तिर्जाता तदारभ्याऽहमपि मनुष्य इवाऽभूवम् । एतत्सर्वं निश्छद्महृदयेन कथयामि, एतन्नावगन्तव्यं, यदियं मदग्रे निजमहत्त्वमुच्चैः कर्तुमेवं ब्रूते । तदुक्तिं निशम्य तां हृदयेनाऽऽश्लिष्योर्वीपेण चन्द्रेणोक्तम्-प्रिये ! त्वयैतद्वक्तुं न युज्यते, यतस्त्वां सत्यस्नेहवतीं प्राणेश्वरीं वेद्मि । अतस्तव सतीत्वादेव त्वरितं विमलापुरीतोऽत्राहमागतोऽस्मि, अन्यथा मदागमनमप्यसंभवमासीत् । अथ त्वं मे साम्राज्यराज्ञ्यसि, त्वं यथारुचि गृहकार्यभारसारप्रबन्धं कुरु, सस्नेहेन निजसपत्नीभ्यः कार्यं लाहि। अहं त्वेतत्सर्वं त्वयि न्यस्य स्वस्थंमन्यो जातोऽस्मि । मम त्वधुनाऽदनपानयो राज्यकर्मदर्शनमात्रस्य चैवातीव चिन्ता वर्तते, भर्तुर्महत्त्वप्रदमदो वचो निशम्य गुणावली भृशं जहर्ष । तयोर्यदैतादृश्यो

वार्ताः प्रावर्तन्त, तदैकोऽन्यस्य समक्षे निजचित्तमुद्घाट्योद्घाट्य सत्स्नेहं दर्शयामास । तेन तयोर्हार्दमुत्तरोत्तरं वर्धिष्ण्वेवासीत्, तौ च दम्पत्यादर्शाविव निजकालं गमयाञ्चक्रतुः।

अथैकदा राज्ञा चन्द्रेण राजपरिषदो विशेषाधिवेशनं कृत्वा विपश्चितो ग्राम्यमान्यसज्जनांश्च निमन्त्र्य सर्वसमक्षे निजकुक्कुट-भवनमारभ्याऽऽभापुरीपरावर्तनं यावत्सर्वोदन्तः श्रावितः । तच्छ्रुत्वा साश्चर्याः सर्वे तज्जयारावं घोषं घोषं तन्मङ्गलमचीकमन्त। अन्तःपुरेऽपि स्वर्गोपमं सुखमनुभवन् यावत्स तत्राऽस्थात्, तावत्तद्देव्यो नानाविधं तन्मनोरञ्जनं कृतवत्यः कदाचित्तं हाव-भावादिकं दर्शितवत्यः, कदाचिद् गीतप्रहेलिकादिरचनां कृत्वा तोषितवत्यः, कदाचित्तु नवनवानां क्रीडनकानामायोजनां कृतवत्य आसन् । भोगावलिकर्मोदयाद् नृपश्चन्द्र एतादृशान्विविधभोगा-न्भुञ्जानो विपुलसाम्राज्यं शासितुमुपचक्रमे । परमेतस्यां सुख-समृद्ध्यवस्थायामपि राजा चन्द्रो नटोपकृतिं कथमपि विस्मर्तुं न शशाक ।

यतः-

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च, चौरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता लोके, कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥९१॥

यत उत्तमाः सम्पद्यपि कृतज्ञतां नोज्झन्ति, पामरा एवा-ऽकृतज्ञा भवन्तीति धराधिपतिना चन्द्रेण शिवकुमाराय पूर्वमपि प्रचुरं द्रव्यं दत्त्वा स लघुराजवत्कृतः, परमेतावतैवाऽसन्तुष्टेन तेनाऽन्यामपि ग्रामनगरादिकाऽऽजीविकां दत्त्वा स चिरन्तनसुखी

विहितः । तेन पृथ्वीशचन्द्रस्योज्ज्वलं यशः परितः प्रससार । गुणावलीप्रेमलयोर्दृढप्रेम तथा प्रवृद्धम्, यथैकाऽन्यां विना रतिं नाऽऽप्नवत्यासीत्, अतस्ते द्वे अपि सहैवोपवेशनाशनादौ निरते प्रास्ताम् । राजा चन्द्रोऽप्युभयोः समभावेन प्रवर्तते स्म । अथ दिवच्युतः कश्चिद्देवो गुणावलीकुक्षौ गर्भरूपेणोत्पेदे । तदानीं तया शुभस्वप्नो दृष्टः पूर्णे च गर्भकाले तया सुन्दरं सुतरत्नं प्रसूतम्। दास्या विदितवृत्तेन चन्द्रेणाऽर्थिभ्यो बहुविधं दानं दत्तम्, महाडम्बरेण चाऽऽत्मजजन्ममहः कारितः पुत्रसत्स्वरूपावलोकनेन राजा चन्द्रः प्रमुदितो बभूव । द्वादशे घस्रे बालस्य जन्मर्क्षाऽनुसारेण *गुणशेखर* इति नाम स्थापितम् । गतेषु कतिषु वासरेषु प्रेमलयाऽप्ये-कश्चारुपुत्रोऽसावि, पित्रा *मणिशेखर* इति तन्नाम कृतम् । अथो प्रेमप्रयत्नैः पाल्यमानौ तौ पृथुकौ पितरौ प्रमोदयन्तौ शुक्लपक्षग्लौ-वदुत्तरोत्तरं प्रैधमानावास्ताम् ।

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्य सप्तविंशतितमपरिच्छेदे चन्द्रनृपस्य प्राग्भवोदन्तः-

अथ राजा चन्द्रः शिशुयुग्ममङ्के निधाय तद्बालक्रीडां वीक्ष्य प्रमुदितोऽभूत् । राजकुमारावपि मानससरोवरतटे हंसयुगलमिव तत्क्रोडे क्रीडन्तौ तच्छोभां वर्धयामासतुः । शनैश्शनैः प्रवर्धिष्णू तौ हस्त्यश्वारूढौ परितो बभ्रमतुः । जननाथेन चन्द्रेण तच्छिक्षार्थमपि तथा समुचितः प्रबन्धः कृतो, यथा तौ क्रीडाकूर्दनादिभिः सार्द्धमेव राजोचितविद्याकलादिषु पारदृश्वत्त्वमियाताम् । इतो भूजानेश्चन्द्रस्य राज्यं प्रयासं विनैव प्रतिदिनं प्रैधते स्म । भारतीयत्रिखण्डे तच्छासनं प्रववृते, तदैतादृशः कोऽपि क्षितीशो नाऽऽसीत्, यस्तदग्रे शिरो न नामयेत् । तथानेके क्षितिपास्तु स्वयं तत्प्रभावप्रेरिता इव तत्पर्षदमेत्य सोपायनं तदधीनतामुररीचक्रुः, केऽपि तदादेशमुल्लङ्घयितुं साहसिका नो बभूवुः । विमलापुर्याः कीर्तिकीर्तनपरस्तदुपकारस्मारकः कृतज्ञशिरोमणिः सोऽचिरमेव स्वयशोराशिमिवोज्ज्वलं बहूनि जिनचैत्यानि निर्माप्य सुमुनिसमक्षे चाऽनेकनूतनजिनबिम्बानि विधाप्य तत्प्रतिष्ठामचीकरत् । पुनस्तदितराण्यपि तेनानेकश्रेयांसि कार्याणि कृतानि । अन्यदा तदीयकुसुमाकराऽभिधोद्याने श्रीमुनिसुव्रतस्वामिसमवसरणसमाचारसमर्पकायाऽऽरामिकाय पर्य्याप्तं पारितोषिकं वितीर्य चतुरङ्गचमूचङ्गितः सपरिकरश्चन्द्रो महाडम्बरेण भगवन्तं वन्दितुं

चचाल ।

यतः-

असर्वभावेन यदृच्छया या, परानुवृत्त्या भवतृष्णया वा ।
ये त्वां नमस्यन्ति जिनेन्द्रचन्द्र!, तेऽप्यामरीं संपदमाप्नुवन्ति ॥३००॥

अन्यच्चापि-

शाठ्येनापि नमस्कारं, यः करोति जिनेश्वरे ।
जन्मना यत्कृतं पापं, दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥१॥

किञ्चिद्दूरे गते दृष्टसमवसरणेन पुलकिताङ्गेन नृपेण तदानीमेव वाहनादुत्तीर्य पञ्चाभिगमं पालयता मोक्षमार्गनिःश्रेणिमिव समवसरणसोपानश्रेणीमतिक्रम्य परमात्मनो दर्शनं कृतम् । ततः सविधित्रिप्रदक्षिणं वन्दनं विधाय भगवतः संमुखमुपविश्य तन्मुखारविन्दविगलितपीयूषोपमां धर्मदेशनां शुश्राव ।

भगवतोक्तम्- भो भव्याः ! मिथ्यात्वाऽविरत्यादिसप्तपञ्चाशद्बन्धहेतुभिर्जीवः कर्माणि बध्नाति । तत्कर्मणां ज्ञानावरणीयाद्यष्टमूलप्रकृतयश्चोत्तरप्रकृतयोऽष्टपञ्चाशदधिकशतमिता वर्तन्ते। कर्माधीनतयाऽनादिकालतो विस्मृतनिजात्मगुणस्वभावो जीवो विद्यते, स च विशेषतो विभावाऽवस्थायां सदैव रमते, अतः कर्मराजप्रभावस्तस्मिन्नधिकाऽधिकं पतति । अस्य जीवस्य संख्यातिगाः प्रदेशाः सन्ति, येष्वष्टसु प्रदेशेषु कर्मभिरनावृतत्वात् कर्माणि नो लगन्ति, तस्मादेवाऽस्य जीवस्य जीवस्वरूपं निरन्तरं स्थिरं तिष्ठति । चेत्ते प्रदेशा अपि कर्मभिरावृता भवेयुस्तर्हि जीवोऽजीवत्वमाप्नुयात् । एभिर्दृढकर्मभिरावृतो जीवो विस्मृत-

निजज्ञानादिगुणो मिथ्यात्वयोगेन संसारपरिभ्रमणहेतुप्रतिकूल-प्रणालिकापतितः परकीयमपि वस्तु स्वकीयं मन्यमानो मोहा-सक्ततया संसारे परिभ्रमति ।

यथोक्तम्-

यदत्र क्रियते कर्म, तत्परत्रोपभुज्यते ।
मूलसिक्तेषु वृक्षेषु, फलं शाखासु जायते ॥२॥

यदुपात्तमन्यजन्मनि, शुभमशुभं वा स्वकर्मपरिणत्या ।
तच्छक्यमन्यथा नैव, कर्तुं देवासुरैरपि वै ॥३॥

करिकुम्भात् स्रवितमदेऽत्यासक्तभ्रमरश्रेणीव स जीवः पौद्-गलिकपदार्थे प्रसक्तो जगति बम्भ्रम्यते । अस्य जीवस्य मूलायतनं सूक्ष्मनिगोदोऽस्ति, योऽव्यवहारराशिरिति धर्मशास्त्रे कथ्यते, तत्र केशाग्रमिताकाशेऽसङ्ख्यं गोलकमस्ति । प्रतिगोलकेऽमित-निगोदिजीवानां शरीराणि सन्ति, प्रतिकायमनन्तजीवनिकायोऽस्ति, अस्य निगोदस्याऽतिसौक्ष्म्यादतीन्द्रियत्वात्क्षीबामिथ्यामतोन्मत्ता अनार्हता बोद्धुं न पारयन्ति । अस्मिन् सूक्ष्मनिगोदेऽनादिकालतो वसन् श्रेय-उदयादेवाऽनुकूलभाग्ये कश्चित्कश्चिज्जीवो व्यवहार-राशौ (बादरपृथिवीकायादौ) आयाति । ततो विकलेन्द्रिये, ततश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियत्वमाप्नोति ततोऽनन्तपुण्यराशियोगेन क्रमशो मनुष्यत्वं लभते । लब्धेऽपि नरत्वेऽशुभसामग्रीसमागमाच्छु-भसामग्र्यभावाच्च स नरकादिदुर्गतिगतोऽनेकविधं दुःखं सहते । एतत्सर्वं विषयविकारवशात्कषायवशाच्चैव भवति । विषयकषाया-दुन्मत्ते जाते तस्य कृत्याकृत्यविवेको नाऽवशिष्यते, अतः सर्वमपि

श्रेयःकृत्यं तत्कराद् बहिर्निर्याति । तदानीं ममतारूपा रूपाजीवा तं वशीकृत्य बहुविधं नृत्यं नर्तयति । परवशः प्राणी तत्स्वरूपाऽनभिज्ञतया ममतैव मे सर्वविनाशिनी संसारभ्रमणकारिणी चेति नाभिजानाति । स निजस्वरूपविस्मरणात् परपरिणतिप्रवाहे प्रवहमाणः शुद्धदेवगुरुधर्मस्वरूपस्याऽज्ञत्वादेव कुदेवकुगुरुकुधर्मयोगेन तेष्वासक्तः संसाराब्धितरणतारणसत्तरिनिभान् सुदेवादीनुपेक्षते । अन्यच्चायं प्राणी तैजसकार्मणशरीरतर्यामारोहति तां तरिं रागद्वेषौ भवाब्धौ भ्रामयतः, अतः सा नौर्जगज्जलधेर्जिनमतरूपतटगा नो भवितुमर्हति । कदाचित् शुभोदये जाते तद्योगाज्जीवस्य संसाररत्नाकरे सर्वत्रानुपमलाभदातृसम्यक्त्वरत्नावाप्तिर्जायते ।

यतः-

सम्यक्त्वरत्नान्न परं हि रत्नं,
सम्यक्त्वमित्रान्न परं हि मित्रम् ।
सम्यक्त्वबन्धोर्न परो हि बन्धुः,
सम्यक्त्वलाभान्न परो हि लाभः ॥४॥

ततो देशविरतित्वे प्राप्ते तस्य व्रतप्रत्याख्यानधर्मध्यानविधानेहोत्पद्यते, तस्मात्किञ्चित्कर्म दूरमयते । इत्थं श्राद्धीयद्वादशव्रतानां साधनायां चरीकृतायां कतीनामेव जीवानां सर्वविरतित्वमुदयते । अथ चारित्रं गृहीत्वाऽप्रमत्तभावेनातिचारादिदोषरहितं तत्पालनं चेक्रियमाणे प्राणादिपञ्चमरुतः संसाध्य रेचकपूरककुम्भकादीनामभ्यासं करोति । तारादृष्टित आरभ्य

चेत्तत्त्वलयो लगति, तर्ह्यमृताऽनुष्ठानेनाऽन्ते जीवश्चिदानन्दस्वरूपं लब्ध्वा स्वालयमायाति, चिरादावृतं लोकालोकप्रकाशकं केवलज्ञानं चाऽऽविष्करोति । अवसानेऽलेशित्वमेत्य योगनिरोधेनैरण्डबीजादिवदितो विग्रहाद्विमुक्तः स पञ्चमीं गतिमाप्नोति, यत्र तस्य साद्यनन्तस्थितिर्भवति-यतस्तस्य संसारे पुनरागमनं न जायते, संसारकारणभूतकर्मणां निःशेषविनाशत्वात् । अतोऽबाधाऽविनाशिसुखेप्सूनां प्राणिनामहिंसामूलस्य सद्धर्मस्याऽऽराधना कर्तव्या, यतो दयानिदानस्य सर्वज्ञकथितधर्मस्याऽऽराधनामन्तरेण प्राणिनः केनाऽपि प्रकारेण शिवसुखमाप्तुं नालं भवन्ति । अतो यस्याऽसुमतोऽस्याऽनुपमसुखस्येच्छा भवेत्तेन सम्यक् प्रकारेण तदाराधना कर्तव्यैव, तत्त्वदर्शिना भवितव्यम्, चाहर्निशं कर्मक्षयाय तत्परेण स्थेयम्, यतोऽन्ते तद्व्रतादिधर्मप्रभावेण मनोवाञ्छितं फलं लभ्येत।
उक्तं च-

अपवित्रः पवित्रः स्या-द्दासो विश्वेशतां भजेत् ।
मूर्खो लभेत ज्ञानानि, मङ्क्षु दीक्षाप्रसादतः ॥५॥

यथा करकङ्कणाऽवलोकनायाऽऽदर्शाऽपेक्षा न जायते, तथैवाऽस्य धर्मविषयस्य कृतेऽन्यदृष्टान्ताऽऽवश्यकता न विद्यते, केवलं मदीयोक्त एव दृष्टान्तः पर्याप्तोऽस्ति । मया स्वयमनुभूतो भवन्तश्चाप्येनमनुभवितुमर्हन्ति, इत्थं श्रीमुनिसुव्रतभगवतोऽमृतनिभमुपदेशं निशम्य ससभ्यो राजा चन्द्रो वैराग्यवासितस्वान्तेन सुभावेन प्रभोः पुरः समुत्थाय यथाशक्ति व्रतनियमादि जग्राह ।
उक्तं च-

भावात्सुकृतलेशोऽपि, नृणां सर्वार्थसिद्धिदः ।
भ्रष्टानां तु ततो नूनं, सर्वतो भ्रष्टता यतः ॥६॥

तदा चन्द्रेण भगवान् पृष्टः- हे भगवन् ! केन कर्मणाऽहं विमात्रा चरणायुधीकृतः ?, केन कर्मणाऽहं नटैः सहाऽटितः, केन कर्मणा प्रेमलाकरे गतः ? केन सिद्धिगिरिसंयोगान्मे मनुष्यत्वलब्धिर्जाता? हिंसकमन्त्रिणा केन कर्मणा मकरध्वजेन समं कपटः कृतः ?, कनकध्वजः केन कर्मणा कुष्ठकवलितो जातः ? केन कर्मणा राज्ञ्या गुणावल्या सह पुनर्मिलनमभूत् ?, आसां सर्ववार्तानां निदानाऽवगतेर्मे महत्यभिलाषा वर्तते । ऋते भानुतुल्यं भवन्तमेनामभिलाषां कः पूरयेत् ? ।

यतः-

अजस्रं लसत्पद्मिनीवृन्दसङ्गं, मधूनि प्रकामं पिबन्तं मिलिन्दम्।
रविर्मोचयत्यब्जकारागृहेभ्यो, दयालुर्हि नो दुष्टयद्दोषदर्शी॥७॥

केवलज्ञानवतोऽतस्सदाखिलसुरासुरेन्द्रनरेन्द्रौघनमस्कृतचरणाब्जवतो भवतस्तु कौतस्त्याऽपि कापि वार्ता छन्ना नाऽस्ति, तस्माद् हे भवाब्धिपोतनिभ ! हे जगद्गुरो ! ममाखिलसन्देहनिवारणाय कृपा क्रियताम् ।

यतः-

गङ्गा पापं शशी तापं, दैन्यं कल्पतरुस्तथा ।
पापं तापं च दैन्यं च, हन्ति सन्तो महाशयाः ॥८॥

राज्ञश्चन्द्रस्य विनीतमिदं वचो निशम्य श्रीमुनिसुव्रतस्वामिना तत्पूर्वभववृत्तान्तं वक्तुमारेभे-

अस्य जम्बूद्वीपस्य भरतक्षेत्रे विदर्भाभिधो रमणीयतरो देशो वर्तते । तद्वर्तितिलकाख्यनगर्यामेकदा मदनभ्रमाऽऽह्वो राजा राज्यशासनमकरोत् । तस्य रूपगुणाढ्यायाः कमलमाला-भिधानायाः पट्टराज्ञ्याः कुक्षिजा सौन्दर्येण कल्पद्रुममञ्जरीनिभा तिलकमञ्जरीनाम्न्येकाऽऽत्मजाऽऽसीत् । सा बाल्यादेव मिथ्यात्व-धर्मरता भक्ष्याऽभक्ष्यविवेकविहीना जैनधर्मद्वेषिणी चाऽऽसीत् । परं यथा चन्दनतरोर्मक्षिकावैमुख्येऽपि तन्मूल्यं न्यूनं न भवति, प्रत्युत तत्सौरभात्सैव वनीवच्यते, तथैव यदि बहुलकर्मा कश्चिज्जनो जैनधर्मं न श्रद्दधाति, तर्हि ततो जैनधर्मस्य हानिर्न भवति, किन्तु स स्वयमेवान्तरायकर्मयोगेन तल्लाभाद् वञ्चितो भवति, नूतनकर्माणि च बध्नाति ।

यतः-

यद्देवैरपि दुर्लभं च घटते येनोच्चयः श्रेयसां,
यन्मूलं जिनशासने सुकृतिनां यज्जीवितं शाश्वतम् ।
तत्सम्यक्त्वमवाप्य पूर्वपुरुषश्रीकामदेवादिव-
द्दीर्घायुः सुरमाननीयमहिमा श्राद्धो महर्द्धिर्भव ॥१॥

अतोऽखिलश्रेयोमूलं तदेवाङ्गीकरणीयम् । अस्तु । मद्यसिक्त-विषवल्लीव शनैः शनैर्वर्धिताया अपि तस्या अन्तःकरणे लशुने कस्तूरीवासनेव जिनमतवासना किञ्चिदपि नोदपद्यत । अस्यैव राज्ञः सुबुद्धिनाम्नो धीसखस्य नाम्ना रूपवत्यात्मजया स्तन्यपानेन सहैव जिनमतपानं कृतमिति पीयूषप्रसिक्तकल्पलतेव क्रमशो वर्द्धिता सा साध्वीनां संगत्या सद्धर्मशास्त्रेषु स्तोकगतिका जाता।

यतः-

संगतिर्यादृशी तादृक्, ख्यातिमायाति वस्तुनः ।
रजनिर्ज्योत्स्नया ज्यौत्स्नी, तमसा च तमस्विनी ॥१०॥

अतो नवतत्त्वादिस्वरूपज्ञा सा जिनपूजादिश्रेयःकार्येषु लीनतयाऽवर्तत । साधुसाध्वीनामाहारदानानन्तरं भक्षणस्य तु तया संकल्प इव कृतो भवेत् । पूर्वभवसंयोगादेकदा नृपसचिवसुतयोर्मिलनमभवत्, तेन तयोस्तथा मिथः प्रेम प्रसृतम्, यथैकाऽन्यया मिलित्वाऽवर्ततेति कदाचिद् विश्लिष्टयोरुभयोः क्षणमपि युगवत् प्रत्यैयतेव । एकदा द्वाभ्यां विचारितम्-आवयोः पूर्णेऽपि प्रेम्णि पुनर्यद्यावां भिन्नभर्तृके भवेव, तदाऽत्र सौहार्दे बाधा पतिष्यति, तत एकेनैव वरेणाऽऽवयोः परिणयो विधातव्यः एवं कृतेऽविच्छिन्ना प्रियता स्थास्यति । अनुकूलविचारविकसिताभ्यां ताभ्यामित्थमेव करणं स्थिरीकृतम् । परं यदैनयोः प्रेम प्रादुरभूत्, तदा राजपुत्र्या मिथ्यात्वधर्मश्रद्धालुतां जैनधर्मद्वेषतां चाऽज्ञातवत्याः सचिवसुतायाः क्रमशो विदितायामपि तस्यां वार्तायां, सा चतुरस्वभावत्वात् पार्थिवपुत्रीं तद्विषये किञ्चिद्वक्तुमुचितं नाऽबोधि । पुनस्तया ध्यातम्-यदीदृश्या गर्होक्तयाऽऽवयोर्मिष्टप्रीतौ कटुताऽऽपतिष्यतीतीयं वार्ता रसनाग्रेऽपि नो कार्या । अमात्याऽत्मजासनीडे नित्यमाहारार्थमागतानां साध्वीनां भक्त्या वन्दनम्, प्रेम्णा तासां भिक्षादिदानम्, गमनसमये द्वारं यावदनुगमनमित्यादि कार्यमभव्यं मन्यमाना नृपात्मजा तदर्थमन्तरदन्दह्यत । एकदाऽमात्यात्मजां निजासन्नमुपवेश्य तत्पुरः साध्वीनां निन्दां कुर्वत्या तयोक्तम्-प्रियभगिनि!

मदुक्तिस्ते प्रियाऽप्रिया वा प्रतिभातु, परमेतावदवश्यं कथयिष्यामि, यदिमा आर्या नितान्तं निस्त्रपा भवन्ति, अत आसां संगतिर्नोचिता। ईदृशामपवित्रस्त्रीणां तु गृहे प्रवेशोऽपि न देयो यत इमा बकभक्तवद् बहिस्तु निर्मितसाधुवेषा अप्यन्तःकुटिला भवन्ति । अस्मासु मायाऽऽनायं विस्तार्याऽस्मान् वञ्चयन्ति । अत्रत्यां वार्तां तत्र तत्रत्यामत्रोक्त्वा जनानां मिथो विरोधोत्पादनं तु तासां मुख्यं धर्मकार्यं विद्यते। आस्माकीनेऽपि नगर आभिर्वञ्चिता अनेकनार्यः सन्ति, मिष्टवचनैरस्माकं वञ्चयन्तीनामासां यथार्थाऽवस्था तत्त्वतस्तस्या एव मार्जार्या इव जायते, यथा-भक्षिताऽनेकमूषिका मार्जारी वृद्धत्वे तपोमिषं विदधाति । गृहे यदाऽऽसां भोजनं न लभ्यते, तदैताः शिरो मुण्डयित्वा साध्व्यो भवन्ति, सद्भोजना-याऽस्मान्विविधां पट्टीमध्यापयन्ति। परमस्मादृशीनामाढ्यकुलभुवां बालिकानां त्वासां सङ्ग एव न कार्यः । यद्येतादृश्यो दश विंशतिर्वा साध्व्यः कुत्रचिदेकत्रिता भवेयुस्तदा कृत्स्नं नगर-मुद्वासयेयुः । प्रतिगृहं झोलिकां गृहीत्वाऽटनं, भुक्त्वा पीत्वा चोदरे करस्फालनमेतदेव त्वासां नित्यनियमो वर्तते। ईदृशामार्याणां त्वमुपदेशं शृणोषि, तद्वरं नाऽऽचरसि, चेत्त्वमाभ्य एकदाहारं न देयास्तदेमाः परितस्ते निन्दां विदधाना न जाने कति निरवाति-तान्पूर्वजान्मृतकानुत्खनेयुः । अहं त्वेतदर्थममूषां छायापातमपि स्वस्मिन् वरं न मन्ये। अत्राऽप्यागता एता विलोक्य मेऽत्यशुभं लक्ष्यते । एता न कस्यचिद् भवन्ति, न कस्यचिदभूवन्, न च भविष्यन्ति। अतो मादृशस्तत्तत्त्वज्ञः कोऽप्युत्तमजन एतासां संगतिं न करोति, अतोऽहं त्वामपि वारयामि, आभ्यस्तु सदा दूरावस्थानमेव

श्रेयः ।

नृपात्मजोक्तमेतद्वचो निशम्य रूपवत्या व्याहृतम्-प्रिय-वयस्ये ! त्वमेतत्किं भाषसे ? सतीनां जुगुप्सा नोचिता । मद्गुहे याः साध्व्य आयान्ति, याश्चाहं गुरुवद् मन्ये ता निरतिचारं पञ्चमहाव्रतान् पालयन्ति, लोभस्तु तासां स्तोकोऽपि नास्ति, संवेगतटाकतटहंसी-निभानाममूषामेकस्याऽप्यक्षरस्य प्रतिदानं दातुं नाऽलमस्मि । कृतमदुपकृतिष्वासु चेद् वृथासूयाकल्पनां करिष्यामि, तदा मे ध्रुवं नरके गन्तव्यं भविष्यति ।

यतः-

अत्युग्रपुण्यपापाना-मिहैव फलमाप्यते ।
त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासै-स्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः ॥११॥

तव निन्दया तु तासां किञ्चिच्छुभाऽशुभं न भविष्यति, प्रत्युत तत्कीर्तिरेधिष्यते । अहं तु ताभिः पशोर्मनुष्यो विहितः, अतः सर्वदा तासां शुभेच्छुकाऽस्मि जन्मान्तरेऽपि तच्छिष्यभाव-मिच्छामि, तास्तु नमस्या भजनीयाश्च सन्ति, ततस्तासां निन्दाकरणं नोचितम् ।

यतः-

चाण्डालः पक्षिणां काकः, पशूनां चैव कुक्कुटः ।
कोपो मुनीनां चाण्डालः, सर्वचाण्डालनिन्दकः ॥१२॥

एतादृशां सत्तमानां साध्वीनां निन्दाजन्यमहापापेन जनो लेलिप्यते, तत्पुण्यपादपश्च क्रमशो विशुष्कः परिणामे नश्यति । एतदाकर्ण्य भूपाङ्गजा मौनमादाय निजावासं गता । परेद्यवि सा

पुना रूपवतीपार्श्वमागता, तदानीं रूपवती मुक्तादिभिः कर्णपुष्पं विरचयन्त्यासीत्। द्वे सख्यौ सन्निधावुपविश्याऽऽनन्दवार्तां कर्तुं लग्ने । शनैः शनैर्मध्याह्नकाले समागते साध्व्यो गोचर्यर्थमागताः, प्रसेदुषी रूपवती करकार्यं मुक्त्वा तासामाहारदानायोत्थाय करस्थमुक्ताकर्णपुष्पं राजकुमार्याः समक्षे स्थाले निधाय साध्वीभ्यः पक्वान्नं दत्त्वा घृतानयनाय गृहान्तर्गत्वा तदानीय भक्त्या ताभ्योऽयच्छत् । तदा धन्यंमन्या सा निजमानसे ध्यातवती-यद् वस्त्वेतादृशि सुपात्रे दीयते, तस्यैव सदुपयोगो जायते ।

यतः-

चारित्रं चिनुते धिनोति विनयं ज्ञानं नयत्युन्नतिं,
पुष्णाति प्रशमं तपः प्रबलयत्युल्लासयत्यागमम् ।
पुण्यं कन्दलयत्यघं विदलति स्वर्गं ददाति क्रमा-
न्निर्वाणश्रियमातनोति निहितं पात्रे पवित्रं धनम् ॥१३॥

अतो योऽविवेकी जन एवंविधानां साध्वीनां निन्दां करोति, तस्य जीवनं भाररूपमेव मन्तव्यम् । साध्वीषु राजकुमार्या ईर्ष्यालुता पूर्वमेव कथिताऽस्ति । अनयेर्ष्यया यदा रूपवती घृतार्थमन्तर्गता तदैव राजकुमार्या तत्कर्णाभरणं साध्व्या अञ्चले छन्नं बद्धम् । तस्या इयं कपटकला रूपवत्याः साध्वीनां च कस्या अपि विदिता न जाता । यदाहाराऽऽदानाऽनन्तरं साध्व्यो गन्तुं प्रवृत्तास्तदा पूर्ववद् रूपवती द्वारं यावत्तदनुगमनात्पश्चादागता । तत उत्थापितस्थाल्या तया तत्र श्रुत्याभरणमदृष्ट्वा राजकुमारी प्रोक्ता भगिनि ! हास्यं किं क्रियते ? मम श्रोत्राऽऽभरणं देहि, सम्प्रति

तत्राऽत्यवशिष्टं कार्यं वर्तते । चेत्तव तदाऽऽदानेच्छा, सुविहिते द्वे अपि ग्राह्ये ! अहं किं दानाद् विमुखाऽस्मि ? तयोक्तम्-अहमेवं हास्यं कदापि न कुर्याम्, येन परिणामे कलहो भवेत्, मया ते कर्णाऽवतंसो न गृहीतः । स तु यदा त्वं हविरानेतुं गृहं गता, तदा तया साध्व्या गृहीतः, मयाऽऽदानकाले सा स्वचक्षुर्भ्यामीक्षिता परं तस्याः किञ्चित् कथनेन ते भव्यं न लगिष्यति, ततो मया मौनावलम्बनमेव युक्तं ज्ञातम् । त्वया त्वागमनेन सहैव मय्येव चौर्यमारोपितम् । मया न ते श्रवणाऽवतंसो नीत इति सशपथं कथयामीति मयि ते सन्देहमात्रोऽपि न कार्यः । तदा रूपवत्या जल्पितम्-वयस्ये ! त्वया कर्णपूरं न नीतं तत्तु तथ्यम्, परं त्वं व्यर्थं तासु साध्वीषु कथं चौर्यमारोपयसि ? मुखादेवंविधवार्तानिःसारणाऽपेक्षया तु मूकतैव श्रेयसी वर्तते । अकारणं ताभ्यो द्वेषयन्ती त्वं कथं ताः कलङ्कयसि ? । या अदत्तमेकं तृणमात्रमपि नाऽऽददते, ता मणिमाणिक्यरत्नादिसुजटितं कर्णाभरणं कथमपहरेयुः ? ।

यतः-

क्षितितलशयनं या प्रान्तभैक्षाशनं या,
सहजपरिभवो या नीचदुर्भाषितं या ।
महति फलविशेषे नित्यमभ्युद्यतानां,
न मनसि न शरीरे दुःखमुत्पादयन्ति ॥१४॥

किञ्च-

महीशय्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता,

वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः ।
स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरतियनितासङ्गमुदितः,
सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ॥१५॥

पुनस्ता गृहीत्वापि करिष्यन्ति किम् ? ताभिस्तु गृहस्य मणिमाणिक्यादि वस्तु त्यक्त्वा सुवैराग्येण दीक्षा गृहीता । ततः सद्व्रतराजिविराजितासु सत्कर्मलीनासु तासु चौर्यसन्देहोऽप्य-श्रेयस्करोऽस्ति, तास्तव कुयोगितापसवद्यत्र तत्र न भ्रमन्ति । उपशमाऽलङ्कृतानां तासामग्रेऽस्य कुत्सिताभरणस्य का गणना विद्यते ? एतादृक्षाणां महासतीनां वार्तां मत्समः पामरो जनः किमवगच्छेत् ? या धनसंपत्सु दृष्टिक्षेपमपि नो कुर्वते, परिमार्जि-तायामेव धरायां पादौ निदधति, तासु स्तेयध्येयस्ते शोभां नाऽऽधत्ते। तास्तु खाद्यपेयानपि पदार्थान्न संगृह्णते, याचितानेवाऽदन्ति । अदत्तवस्तु करेण स्पृशन्त्यपि नो, इत्थंभूतासु सुशीलासु तासु कर्णाऽवंतसचौर्यं त्रिकालेऽपि न घटतेऽतो मम तु त्वदुक्तौ विश्वासो न जायते ।

तदा तयाऽभाणि-स्वसः ! त्वमियतीं वार्तां कथं कथयसि? करकङ्कणायाऽऽदर्शेन किम् ? चल, आवां तदुपाश्रयं गच्छावः, चेत्तदञ्चलतस्ते कर्णभूषां निःसारयेयम्, तदा त्वया मद्वचोविश्वासो विधेयोऽन्यथाऽहं सहस्रशो मिथ्याभाषिणी स्याम्। रूपवत्या स्वीकृतेऽस्मिन् वृत्तान्ते द्वे उपाश्रयं गते, तदा ताः साध्व्यो भोजनपात्रादिप्रगुणनप्रसिता आसन्निति रूपवत्या कृतवन्दनया तयाऽऽर्यया तस्यै धर्मलाभं वितीर्योचे-स्वसारौ ! क्षणं बहिस्ति-ष्ठताम्, अधुनाऽस्माकं गोचरी कर्तव्याऽस्ति, अद्य तदानयने विलम्बो

जातः, उपदेशश्रवणेच्छा चेत्तर्ह्यधुनैव युवां श्रावयामीति तद्वचो निशम्य रूपवती बहिरागता । एतद्विलोक्य भूजानिजयोक्तम्- भगिनि ! बहिः कुत्र गच्छसि ? कार्यं त्वन्तरस्तीति निगद्य सा तां पुनरन्तराकृष्याऽऽनिनाय । इत्थं द्वयोरमुमुपद्रवं वीक्ष्य साध्व्यः सविस्मया बभूवुः, तावद्राजात्मजया गदितम्-हे साध्वि ! श्राविकाणां भवन आहारग्रहणेन सह चौर्यं त्वं कया महत्तरया शिक्षिता ? यदा मम सखी हविरानेतुमन्तर्गता तदा त्वया मणिकर्णाऽवतंस उत्थापित आसीत् । दृष्टेऽपि तस्मिन् सख्युरप्रियं शङ्कमानया मया तदानीं न किमप्युक्तम्, अन्यथा तदैवाहं कथयेयम्, अथ त्वं तदाभरणं तस्यै देहि, इयं तु मयि शङ्कते, अतोऽशक्यतया ममाऽयमुदन्तो वक्तव्यो भवति । गुप्ततया दत्तेऽस्या वस्तुनि, केचिदप्यमुं वृत्तान्तं न ज्ञास्यन्ति, इतरथाऽहं कृत्स्ने नगरे तद्वृत्तमुद्घोषयिष्यामि । इत्थं राजकुमार्या वचनाकर्णनेन क्षुब्धया साध्व्या निगदितम्- अहो ! त्वं राजात्मजा भूत्वेत्थमसत्यं कथं कथयसि ? मया तत्कर्णाभरणं नाऽऽनीतम्, अप्रतीते सति मे झोलिकापात्रादीनीक्षितुमर्हसि, ममैवं वस्तुना नो प्रयोजनम् । तदा सरोषया राजात्मजयोक्तम्-अरे ! झोलिकाद्यवलोकनेन किम्? सरलत्वेन तत्कथं न समर्पयसि ? । परमज्ञाततया साऽऽर्या कुतो दद्यात् ? सुवर्जितपरद्रव्यापहरणवार्तायास्तस्या एकमपि वचनममन्यमानया राजपुत्र्या सभर्त्सनं तदञ्चलतस्तदाभरणं तत्स-मक्षे निःसार्य रूपवत्याः करे ददे, सहैव च तां शिक्षयन्त्युवाच- पश्य, आसां साधुत्वम्, अथ भ्रमादप्येतादृशामार्याभासजनानां वाग्वागुरायां न पतितव्यम् । अनेन प्रपञ्चेन साध्वीषु रूपवत्या

मनोवैराग्य-श्रद्धाविरहो भवेदिति जानानायाः क्ष्मापजाया धारणा विपरीता निर्गता, अत आसां सर्ववार्तानां प्रभावो रूपवत्यां वैपरीत्येनाऽपतदिति तया सचिवाङ्गजयोक्तम्-भगिनि ! निःसंशयमेतत्समस्तं तवैव कुकर्म वर्तते, यतो मूर्तास्त्यागरूपिण्यस्ता जात्वपि चौर्यं नैव कुर्युः । ततस्तया रूपवत्या साध्व्य ऊचिरे-भवतीभिरेता वार्ता मनसि मनागपि न ध्यातव्याः । कुतो मिथ्यात्विनीयं जैनधर्मं द्वेष्टि, ततोऽनयैवैतत्कुकार्यं कृतमस्ति । इत्थं श्रद्धाप्रेमगर्भितैर्वचोभिस्ताः साध्वीः सान्त्वयित्वा रूपवती राजपुत्र्या सह स्वावासमागता । इत्थं राजसुतायाः साध्वीसंगनिवारणयुक्तिः प्रतिकूलतामियाय । गतयोस्तयोश्चेखिद्यमानयाऽऽरोपितचौर्यया साध्व्या मनसि चिन्तितम्-एष वृत्तान्तो नगरे चेत्प्रसरेत्तदा वयं सर्वाः कलङ्किता भवेम । यतो राजसुतोक्तिषु साधारणतः सर्वेऽपि विश्वासमेष्यन्ति, इति कलङ्कितजीवनापेक्षया मे मरणमेवाऽतिश्रेयोऽस्ति ।

उक्तमपि-

यज्जीवति क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै-
र्विज्ञानविक्रमयशोभिरभज्यमानम् ।
तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः,
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते ॥१६॥

क्षोभाऽऽविष्टश्चारित्रवानपि नरः कर्तव्याऽकर्तव्यमूढो भवति। अतस्तया साध्व्या चारित्रकलङ्कभयाद्रहसि स्वमरणाय कण्ठे पाशो बद्धः, परं प्राणवियोगात्प्रागेव विदितराजसुताकृतोपद्रववार्तया नाम्ना

सुरसुन्दर्यैकया पार्श्ववर्तिन्याऽन्तेवासिन्या श्राविकया तत्रागत्य तां साध्वीं तथा विलोक्य पाशतो विमोच्य यथोचितोपचारेण सा सचेतनीकृता । पश्चाच्चैतन्यमागता साऽपि समतासद्म प्राप्य निरतिचारं चारित्रपालनं कर्तुं लग्ना । इत्थमनेन महादुष्कर्मणा राजभुवा निबिडमेकं महद् भवभ्रमणकारणं कर्म बद्धम् । राजपुत्री-सचिवपुत्र्योर्निरन्तरं जैनं शैवं च मतमवलम्ब्य विवादः प्रवर्तित आसीत् । ते नैजं नैजं धर्मं श्रेष्ठं मत्वा तदाऽऽचारं पालयन्त्यौ परधर्मे मनागपि नाऽश्रद्दधताम् । धार्मिकमतभेदेऽपि तयोः सख्ये स्तोकमप्यभावो यथा न भवेत्तथोभे अन्यान्यसर्वविषयेषु पूर्वव-देवैकमत्येन तिष्ठतः स्म । इत्थं सुखेन तयोः काले गच्छति वैराटदेशाधिपेन जितशत्रुनृपेण निजपुत्रं शूरसेनं विवाहयितुं राज-पुत्र्यास्तिलकमञ्जर्या मार्गणाय सचिवो मदनभ्रमनृपसविधे प्रहितः। राज्ञेऽपि स सम्बन्धोऽरोचत, अतस्तेनाऽऽहूता निजतनया तद्विषये पृष्टा । तयोक्तम्-पूज्यतात ! ममाऽऽली रूपवती चेत्तं वरमनुमोदेत, तर्ह्यावां तेनैकेन समं परिणयं कुर्वीवहि, यत आवाभ्यामेकेनैव वरेण पूर्वत एव परिणयप्रतिज्ञा कृताऽस्ति । एतदाकर्ण्य तिलकापु-रीशेनाऽरमेवाकारितायाऽमात्याय निखिलं समाचारं निवेद्योक्तम्-यदि भवदात्मजामुं वरं वृणुयात्तदोभयोः पाणिपीडनं सहैव भवेत्। धीसखेन रूपवत्या अनुमतिमुपेत्य तदर्थं सहर्षं सम्मतिर्ददे । राज्ञा मदनभ्रमेण तदैव वैराटमहिपस्य मन्त्रिणमाकार्य गदितम्-राजकुमारशूरसेनेन सहाऽहं निजराजकुमार्याः करपीडनं समोदं स्वीकरोमि । सहैव चाऽस्माभिरेतदपि स्थिरीकृतम्, यद्धीसख-सुतोद्वाहोऽपि तेनैव सह कारयितव्यः । सचिवोऽप्यमुमुदन्तं

श्रुत्वाऽतीव जहर्षेति तदानीमेव निपुणगणक आकारितः परिणय-मुहूर्तश्च निर्णायितः । ततो राज्ञो मदनभ्रमात्प्रास्थानिकीमाज्ञां लब्ध्वा धीसखः स्वस्वामिसमीपमेत्य तत्रत्यमखिलं समाचारं श्रावितवान्, श्रुततदुदन्तो वैराटनरेशोऽपि भृशं मुमुदे । तदनन्तरं यथासमयं महासमारोहेण सज्जितजन्यजनैः समं वैराटनरेशः सकुमारशूरसेनस्तिलकापुरीमाययौ । तत्र सानन्दं विवाहकर्मणि सम्पन्ने राज्ञा मन्त्रिणा च हस्त्यश्वरथसेवकवस्त्राभूषणाद्यनेकवस्तूनि यौतकोपलक्षे दत्तानि । ततः कुमारः शूरसेनोऽप्यनया साम्ग्रयो-भाभ्यां वधूभ्यां सह वैराटनगरे समाययौ । ततः श्वश्र्वाऽर्पित-गृहभारे उभे वध्वावपि यथोचितरीत्या गृहभारं वहमाने स्वभर्त्रा समं सुखेन कालं व्यत्ययांचक्रतुः । इत्थं प्रेम्णा प्रवर्तमानयोरपि तयोर्धर्मविषये सदैव विवादो बोभूयते स्म ।

यतः-

अवज्ञात्रुटितं प्रेम, सुसन्धातुं क ईश्वरः ।
सन्धिं न स्फुटितं याति, लाक्षालेपेन मौक्तिकम् ॥१७॥

धार्मिकमतभेदाद् भिन्नचेतस्कयोरुभयोर्मिथः सापत्न्योदयेन कलहोऽपि वरीवृत्यते स्म । यतः सपत्नीत्वे केनचित् कथितमस्ति, यद् दारवीमपि सपत्नीं स्त्रियो द्रष्टुं नेहन्ते । सहजयोरपि सापत्न्ये मिथो द्वेषोदयो जायत एव, कस्मिंश्चिदेकस्मिन्नेव चारुवस्तुनि यदाऽनेकजनानामभिलाषोत्पद्यते, तदा तेषु शात्रवं भवनं विना नाऽवशिष्यते, यत एकस्यैव पदार्थस्य युगपदनेकोपभोगो न संभवति । इत्थं सकृच्छात्रवस्याङ्कुरोद्गमे जाते पुनस्तस्मिन्नुत्तरोत्तरं

वृद्धि-र्भवत्येव, अतो जगति सपत्नीसम्बन्धोऽवरादप्यवरो भवति। तत्र मिथः प्रेम्णो नामाऽपि नो जायते, पुनरपि लोकाचारादेकाऽन्यां भगिनीत्युक्त्वाऽऽह्वयति । परमनेकश एकाऽपरां कलङ्कयन्ती कटूक्त्या तर्जयन्ती च द्वेषान् मनस्येव दन्दह्यते । स्त्रैणेनाऽनेन कलहेन पुंसोऽपि दुःखमयं निजजीवनं भारभूतं लक्ष्यते, पुनः सुखं तु तस्य स्वप्नेऽपि नैव भवति । यदोढपार्वतीगङ्गस्य शिवस्याऽपि बम्भ्रमणा जाता, तदा पामरजनानां तु वक्तव्यमेव किमस्ति ? परं राजकुमारशूरसेनस्योपरि साम्प्रतमिदं दुःखमतिमात्रं न पतितमासीत् । कुतो यथा ताम्बूलिको निजताम्बूलानि साम्येन रक्षति, तथैव सोऽपि पत्नीयुगं सदैव समभावेन रक्षितवान्, तथापि समीरसंचालितपत्राणां स्थैर्यचेष्टावत्तस्य सर्वाऽपि समभाव-चेष्टा निष्फलतामियाय । इतस्तिलकापुर्यां तिलकमञ्जर्याः पित्रे केनचि-द्व्याधेन परद्वीपादानीता नव्यजातिकैका शारिकोपदीकृता । इयं शारिका शिरःशिखयाऽरुणनेत्राभ्यां स्वर्णाभपक्षाभ्यां तदन्तःस्थ-यामबिन्दुभिश्चातिमञ्जुलाऽलक्ष्यत । पीयूषोपममिष्टभाषिणी सा सकृदपि श्रुतमात्रेणाऽभ्यस्तं काव्यकथाप्रहेलिकादि समयान्तरे पुनस्तथैव श्रावयित्वा जनानां मनोरञ्जनं करोति स्म । इत्थमेनाम-वलोक्य प्रसन्नमनसा राज्ञा तां स्वर्णपिञ्जरे तदैव संस्थाप्य निजपुत्र्या मनोरञ्जनाय सा वैराटनगरे प्रेषिता । तिलकमञ्जर्यपि तां प्राप्य मुमुदेतमां, पुनस्तद्रक्षार्थमेको नरो नियुक्तस्तया । अथाऽनया सह क्रीडनं, तस्या नित्यं नवं नवं वस्तुप्स्वापनं, तद्वचोभिश्च प्रहर्षणम्, तिलकमञ्जर्या नित्यकर्म बभूव । सा ताम-तिप्रेम्णानिशं निजसन्निधावेव रक्षन्ती रूपवत्या हस्तेन स्प्रष्टुमपि

नाऽदात् । चेद्रूपवती जातु तन्मधुरोक्तिस्नेहवशेन क्रीडनाय यदा याचते स्म, तदा तिलकमञ्जरी तां स्पष्टमाचष्ट, यदियं मम जनकेन मदर्थं प्रेषिता । त्वं त्वत्कृते स्वपितरं कथं न याचसे ? किमित्थंकरणे ते लज्जा जायते ? तिलकमञ्जर्या इदं वचो निशम्य बहुदुःखमिताऽपि रूपवती स्वमनोगाम्भीर्याद्बलात्परवस्तु-ग्रहणाशक्यत्वाच्चातिरोषं न कृतवत्यासीत्, यतो रोषात्कार्यहानिं जानाना विज्ञा सा शान्तिमेवाऽशिश्रियत् ।

यतः-

नरस्याभरणं रूपं, रूपस्याभरणं गुणः ।
गुणस्याभरणं ज्ञानं, ज्ञानस्याभरणं क्षमा ॥१८॥

अपि च-

यस्य क्षान्तिमयं शस्त्रं, क्रोधाग्नेरुपशामकम् ।
नित्यमेव जयस्तस्य, शत्रूणामुदयः कुतः ? ॥१९॥

ततः कियति काले गते रूपवत्यापि तादृशपक्षिप्रेषणाय स्वपितुः पार्श्वे पत्रं प्रहितम् । ततो विचक्षणेन सचिवेनापि पत्र-पठनमात्रेणैव स्वाङ्गजायाः सपत्नीदाहकारणं द्वितीयपक्षिमार्गणं विदितम् । तेन तत्क्षणमेव बहवो व्याधा वनपर्वतादिषु तत्तुल्यं पक्षिणमानेतुं प्रेषिताः, परं तादृक् शारिका तु क्वाऽपि न लब्धा । अतो मन्त्रिणा ध्यातम्-चेदहं तनयार्थं शारिकां न प्रैषयिष्यम्, तर्हि सा मनोम्लानाऽभविष्यत्, अतस्तेन कोसीजातिकमेकं पक्षिणं शारिकातुल्यरूपं स्वर्णपिञ्जरे कृत्वा पुत्रीपार्श्वे प्रेषितः । इयं कोस्यपि बाह्यरूपेण तया शारिकया कथञ्चिदपि न्यूना नाऽऽसीदिति तां

विलोक्य प्रमुदिता रूपवती तद्रक्षणाय सेवकं नियुज्य सर्वथा तल्लालनपालने लीना जाता । कयाचिद्दास्या विदितसमाचारा तिलकमञ्जरी सपत्न्याः सुखमसहमाना मनसि प्रौषाञ्बभूव । अन्यदोभे एकत्रैवाऽऽसीने निजं निजं खगं प्रशंसमाने आस्ताम्, तदा द्वेषदग्धाभ्यां ताभ्यां यः खगोऽतिमिष्टं भाषेत, स एव वरो ज्ञेय इति पणः कृतः । अथ वादितयोस्तयोस्तिलकमञ्जर्याः खगः पटुवाक्यत्वाद् बहुशो बहुविधं मधुरवचनमभाषिष्ट, रूपवत्यास्तु किञ्चित्सकृदपि नोवाच, तेन तिलकमञ्जरी प्रमोदादुच्छलति स्म । रूपवती तु निजपक्षिण इमामवस्थां वीक्ष्य भृशं चिखिदे । तया चेतसि चिन्तितम्-नूनं मे विहङ्गो दर्शन एव मनोज्ञो विद्यते, किन्त्वस्मिन् गुणलेशोऽपि न वर्तते । एवं शारिकया कोसीपक्षिणि पराजिते तिलकमञ्जरी रूपवतीं सभर्त्सनं वक्तुं लग्ना, क्व मदीया शारिका कुत्र त्वदीयगुणमोषी कोसी ? एवंविधानां कोसीनां सहस्रमपि मम शारिकातुलनां नाऽञ्चति । तदा सुबोधा सुविचक्षणाऽपि रूपवती तिलकमञ्जर्या अभिमानपूर्णेनानेन वचनेन कोस्यै क्रुद्ध्वा तदुभयपक्षौ लुञ्चित्वा प्रास्यत् ।

अत उक्तमपि-

संतापं तनुते भिनत्ति हृदयं सौहार्दमुच्छेदय-
त्युद्वेगं जनयत्यवद्यवचनं सूते विधत्ते कलिम् ।
कीर्त्तिं कृन्तति दुर्गतिं वितरति व्याहन्ति पुण्योदयं,
दत्ते यः कुगतिं स हातुमुचितो रोषः सदोषः सताम् ॥२०॥

तदानीं कोसीरक्षकेण रूपवती बहुबोधिता, परं तत्फलं

किमपि नाऽभूत् । षोडशयामावधि पक्षहीना दुःखं भुञ्जाना सा वराकी कोसी व्यपद्यत । ततः सैव कोसी पूर्वभवीयकस्यचित्पुण्यस्योदयेन वैताढ्यगिरौ गगनवल्लभनगरस्य पवनवेगाख्यस्य राज्ञः पत्न्या वेगवत्याः कुक्षेः पुत्रीरूपेणाऽजनि । अत्र भवे पित्रा तस्या वीरमतीति नाम दत्तम्, सा चाऽऽभानरेशेन वीरसेनेन परिणीता । तयाऽप्सरोभिः प्राप्ताऽनेकविद्याऽनुभावात्पत्यौ मृत आभापुर्या राज्यं बुभुजे । रूपवत्याः परिचारिकया मृत्युकाले कोस्यै नमस्कारमन्त्रः श्रावितो मृतायां च तच्छरीरस्य समुचितव्यवस्था कृता । इतो रूपवती निजाऽकर्तव्यस्य कृतेऽनुतापं कर्तुं लग्ना । तिलकमञ्जरी तु पूर्वत एव महामिथ्यात्वग्रस्ता कुटिलाशया चाऽऽसीत्, अतः कोसीमरणानन्तरं तस्या भाषणाऽवसरः पूर्वतोऽप्यधिकं समायातः । तयाऽमूं घटनामवलम्ब्य जिनमतं निन्दन्त्या रूपवत्युक्ता-तव जिनमतं मया सम्यग् दृष्टम् । तत्राऽऽस्येन तु जना दयां दयां रटन्ति, परमेवं निर्दयकर्म क्रियते । हन्त ! वराकीमीदृशीं निरपराधिनीं कोसीं मारयन्त्यास्ते मनसि मनागपि दया कथं नाऽऽगता ? इत्थमकार्यं कर्तुं ते करः कथमुदतिष्ठत्? अहं तु भ्रमादप्येवंविधस्य निरागसो जीवस्य हिंसां कदापि नैव करोमि । सपत्न्या एनेन वचसा रूपवती बहु चिखिदे, सहैवाऽनया वार्तया तयोर्धार्मिकमतभेदोऽधिकं ववृधे । तदा शूरसेनेन प्रबोधितयोरपि तयोर्वह्नौ घृतप्रक्षेपेणेव द्वेषानल एधमान एवाऽऽसीदतस्ते कथमपि न शेमतुः ।

यतः-

मृद्घटवत्सुखभेद्यो, दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति ।

सुजनस्तु कनकघटवद्दुर्भेद्यश्चाशु सन्धेयः ॥२१॥

कोसीमारणाद् रूपवत्या मनस्येव महान्पश्चात्तापो जायते स्म, परं सकृदविचारपूर्णकार्ये जाते पुनस्तदकार्यकार्यकल्मषाज्जनः कदाचिदपि नो मुच्यते, इति मनीषिभिः सदाचारवर्जितमविचारितं कर्म नैव क्रियते ।

यतः-

दुःखं वरं चैव वरं च भैक्षं,
वरं च मौर्ख्यं हि वरं रुजोऽपि ।
मृत्युः प्रवासोऽपि वरं नराणां,
परं सदाचारविलङ्घनं नो ॥२२॥

प्रतिकर्मणा हि नव्यकर्म सृज्यते, तस्मिंश्च भुज्यमाने पुनरन्यत् शुभाशुभं कर्मापि बध्यते, तस्मात्सुधीभिर्यत्कर्तव्यं तत्सुविचार्यैव करणीयम् । रूपवत्याः करेण यद्यपीदं कार्यमत्यनुचितमभूत्, तथापि सा जिनमतेऽतीव प्रवीणाऽऽसीत्, अतस्तयाऽऽलोचना-निन्दागर्हादिपश्चात्तापैस्तत्कर्म प्रक्षीणं कृतम्, स्त्रीवेदस्य च स्थाने पुंवेदः प्राप्तः । ततो यथासमयमायुषः क्षये यदा सा पञ्चत्वमगमत्, तदाऽऽभाधिपस्य राज्ञ्याश्चन्द्रावत्या उदरात्पुत्ररूपेणोदपद्यत । अत्र जन्मनि तस्य नाम चन्द्रकुमारो बभूव, हे राजन् ! स चन्द्रकुमारः स्वयं भवानेवास्ति, इत्थं हे राजन् ! अविधि सविधि वा कृतं सुकृतं कदापि निष्फलं न भवति । कोसीरक्षको यो रूपवतीं तन्नाशनिवारणार्थं प्रत्यबोधयत्, तद्दयाधर्मप्रभावत एव मृते भवतः सुमतिनामकः स एव सचिवोऽभूत् ।

उक्तमपि-

आयुर्दीर्घतरं वपुर्वरतरं गोत्रं गरीयस्तरं,
वित्तं भूरितरं बलं बहुतरं स्यामित्यमुच्चैस्तरम् ।
आरोग्यं विगतान्तरं त्रिजगतः श्लाघ्यत्यमल्पेतरं,
संसाराम्बुनिधिं करोति सुतरं चेतः कृपासङ्कुलम् ॥२३॥

तेन कोसीरक्षकेण पक्षिणं प्रति केवलं दयामात्रमेव दर्शितम्, परन्तु तस्यापि शुभफलं प्राप्तिं विना नाऽस्थात् । तस्याः साध्व्या उपाश्रयपार्श्ववर्तिनी या सुन्दरीनाम्नी श्राविकाऽऽसीत्, यया च साध्व्याः कण्ठतः पाशो मोचितः, सैव मृत्योः पश्चाद् भवतो राज्ञी गुणावली बभूव । राजपुत्री तिलकमञ्जरी या मिथ्यात्विन्यासीत्, सा मृत्वा प्रेमलालच्छी जाता । साध्व्या मृत्यौ जाते सा कुष्ठी कनकध्वजकुमारोऽभूत् । अज्ञानिनः प्राणिनः कर्मणां सदसद्गतिं न विदन्ति, अतस्तेषामन्ते कीदृशः परिणामो भवति, तत्पश्यन्तु । सा शारिकाऽत्र भवे कपिलानाम्नी धात्री बभूव, तया पूर्वभवेऽपि द्वयोः सपत्न्योः कलहः कारितः, अत्र भवेऽपि च तया कपिलया तदेव कार्यं कृतम् । राजकुमारः शूरसेनो यस्तिलकमञ्जर्या रूपवत्याश्च पतिरासीत्, अत्र जन्मनि स एव शिवकुमारनामा नटोऽभूत् । पूर्वभवे रूपवत्या या दास्यासीत्, कोस्यै च चतुर्दश-पूर्वसारभूतो महाप्रभावयुतो नमस्कारमन्त्रः श्रावितस्तत्प्रभावेण साऽत्र भवे नटपुत्री शिवमाला, शारिकारक्षकश्चात्र भवे हिंसकमन्त्री जातः । इत्थं सर्वेषां पूर्वभवमुक्त्वा श्रीमुनिसुव्रतस्वामिना व्याहृतम्-हे राजन् ! कर्मप्रवाहो यत्र दिशि प्रवहति, तत्र दिशि प्रवहन्ने-

वास्ते ।

अत उक्तम्-

किं करोति नरः प्राज्ञः ?, प्रेर्यमाणः स्वकर्मभिः ।
प्रायेण हि मनुष्याणां, बुद्धिः कर्मानुसारिणी ॥२४॥

स पर्वतादिनाऽपि, न रुध्यते, त्वया निजप्राग्भवचरित्रेण कर्मणां वैचित्र्यमवगन्तव्यम् । त्वया रूपवतीभवेऽतिकोपवशेन कोसीपक्षिणः पक्षौ लुञ्चितौ, तस्मात्सा वीरमती भूत्वाऽत्र जन्मनि त्वां कुक्कुटं विधाय तयापि भृशं त्वं क्लेशितः, एवं च त्वत्तो निजपूर्वभववैरस्य प्रतिफलं गृहीतम् । पूर्वकर्मणां यदोदयो भवति, तदा स सर्वैर्भोक्तव्योऽवश्यमेव भवति ।

यतः-

कृतकर्मक्षयो नास्ति, कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥२५॥

अपि च-

यथा धेनुसहस्रेषु, वत्सो विन्दति मातरम् ।
एवं पूर्वकृतं कर्म, कर्तारमनुधावति ॥२६॥

तत्र कस्यचिदपि कोऽप्युपायो न चलति । तिलकमञ्जर्या पूर्वभवे साध्व्या मृषा स्तैन्यकलङ्को दत्तः, अतोऽत्र जन्मनि तया साध्व्यापि कनकध्वजो भूत्वा प्रेमलालच्छी विषकन्याकलङ्केन कलङ्किता । पूर्वभवे रूपवत्याः समक्षे यथा कोसीरक्षकस्य प्रभावो नाऽचलत्, तथैवाऽत्र भवेऽपि वीरमत्याः पुरो गुणावल्या अपि कश्चित्प्रभावो नाऽचलत् । रुदत्यामेव तस्यां तत्स्वामी त्वं चन्द्रनृपो

वीरमत्या कृकवाकुर्विहितः । पूर्वजनौ रूपवतीदास्या कोस्याः सेवा कृताऽऽसीत्, तस्मादत्र भवे शिवमालया कुक्कुटमानीय प्रेमलायै समर्पितः स्नेहपूर्वकं च चिरं तस्य रक्षा कृता ।

इत्थं मुनिसुव्रतस्वामिना श्रुतप्राग्जन्मफलोदन्तैश्चन्द्रराजादिभिर्जनैर्बह्वी सुशिक्षा गृहीता । ततो राज्ञा चन्द्रेण सुवैराग्येण कर्मजालानि मायाजालानि च छिन्नभिन्नं कृत्वा परमोपकारिणो भगवतश्चरणयोर्भक्त्या नमस्कारः कृतः । अथ चन्द्रनृपादिभिरुक्तम्- हे भगवन् ! भवादृशि कर्णधारे लब्धेऽपि चेद् वयं भवाब्धिं नो तरेम, तर्हि पुनरस्माकं कृतेऽन्यः को भवसागरतारणोपकारको भवेत् ? भवताऽस्य जगतो यथार्थं भयं संदर्श्य वयं सद्धर्मकर्मसम्मुखीनाः कृताः स्मः । अथ भवत एव नः स्वकीयान् बुद्ध्वास्मत्प्रीतिरीतिर्निर्वाहनीया भविष्यति । यतो यस्मिञ्जलप्रवाहे वहनभीत्या गजोऽपि हतपौरुष आस्ते, तत्रैव जलप्रवाहे मत्स्याः प्रतिकूलं तरीत्रति, परं नैजान् मत्वा जलप्रवाहेन ते नोह्यन्ते, अतो हे प्रभो! अनादिकालाद्भवभ्रमणश्रान्तेष्वस्मासु दयां विधायेतो भवसागरात्पारमुत्तार्यताम् ।

यतः-

विना गुरुभ्यो गुणनीरधिभ्यो, जानाति धर्मं न विचक्षणोऽपि ।
विना प्रदीपं शुभलोचनोऽपि, निरीक्षते कुत्र पदार्थसार्थम् ? ॥२७॥

अपि च-

अवद्यमुक्तेः पथि यः प्रवर्तते,
प्रवर्तयत्यन्यजनं च निःस्पृहः ।

स एव सेव्यः स्वहितैषिणा गुरुः,
स्वयं तरंस्तारयितुं क्षमः परम् ॥२८॥

तदा भगवता कथितम्-हे चन्द्र ! देवानुप्रिय ! यदि युष्माकमीदृगेवेच्छा वर्तते, तर्हि स्वपरिवाराणामाज्ञां लब्ध्वा झटित्येव दीक्षा गृह्यताम् । शिवार्थिभिर्भव्यात्मभिरीदृशि निजात्मोद्धारात्मके सत्कार्ये विलम्बो न विधेयः । एतदाकर्ण्य राजा चन्द्रोऽपि तथास्त्वित्युक्त्वा स्वपरिवारैः सह सानन्दं सद्भावनां भावयन् राज्यपुत्रकलत्रादि भवभ्रमणहेतुकं गणयन् निजराजभवनमागतः।

अथ श्रीचन्द्रराजसंस्कृतचरित्रस्याष्टाविंशति-तमपरिच्छेदे चन्द्रनृपदीक्षाग्रहणम्-

त्रिजगज्जीवोद्धरणशक्तिशालिनो मुनिसुव्रतस्वामिन उपदेशात् प्राग्भववृत्तान्तश्रवणाच्च वैराग्यवासितस्वान्तेन राज्ञा चन्द्रेण स्वावासे गुणावलीं प्रेमलालच्छीं चाऽऽकार्य स्पष्टतरमुक्तम्- प्रिये! मया मुनिसुव्रतस्वामिनः पार्श्वे चारित्रग्रहणं स्थिरीकृतमस्ति, यतस्तदुपदेशामृतेन तृप्तं मे मनो राज्यभोगादीनपि नेहते। अथ मे तत्रानन्दलवोऽपि न दृश्यते, मम मनोवृत्तिश्चापि संसारतो म्लायति स्म। अस्माकमायुरञ्जलिस्थं जलमिव प्रतिक्षणं प्रक्षीयते, प्रान्ते च तदवस्था पयोबुद्बुदवद् भवति, अर्थात्तन्नाशे विलम्बो न लगति। उक्तं च-

आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री-
रर्थाः संकल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूराः।
कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं,
सद्धर्मासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम् ॥२१॥

इत्थं कैश्चिदस्य कायस्य कुलटास्त्रीभिरुपमा दीयते, यतोऽवसाने -परीक्षावसरेऽयं कायः प्रेमनिर्वाहं न करोति, तत्त्वतोऽयं विश्वासपात्रं न वर्तते। अस्य परितः मांसाऽसृक्कर्दमेनेयमस्थिभित्तिः स्थापिताऽस्ति। अत्र नखगवाक्षा जटिताः सन्ति, कचतृणैश्चाऽऽच्छादितोऽस्ति। अस्मिन् कायनिकाये निरन्तरं भोजनभारो भ्रियते, तथापि स रिक्तस्य रिक्त एवाऽवशिष्यते। श्वासोच्छ्वास-

स्तम्भो देहगृहस्य मूलाधारो वर्तते । स्नानविलेपनादिभिः सदा संस्कृतोऽपि स पूर्णे काले क्षणमात्रार्थमपि स्थातुं न शक्नोति । अत उक्तम्-

अमेध्यपूर्णे कृमिजालसंकुले, स्वभावदुर्गन्धिनि शौचवर्जिते ।
कलेवरे मूत्रपुरीषभाजने, रमन्ति मूढा विरमन्ति पण्डिताः ॥३०॥

ईदृगस्थिरकायकर्गलनावाऽयं भवसागरः कथं तीर्येत ? अनेन शरीरेणाऽस्माकं सांसारिकजन्तूनां मिलनमत्र जगति न जाने कतिपयथो जातम्, परं किमपि कुत्रापि लाभदायक-मधुनापर्यन्तं फलं न लब्धम् । यथा-ग्रथिलायाः स्त्रियाः शीर्षस्थो घटोऽस्थिरस्तिष्ठति, तथैवैतज्जगदप्यस्थिरं वर्तते । इतोऽन्यदत्र जगति पूर्वपुण्यप्रभावेण प्राणिनो विविधमुद्योगं कृत्वा मणिमाणिक्य-धनधान्यराज्यस्त्रीपुत्रादींल्लभन्ते, परमेते सर्वेऽत्रैव तिष्ठन्ति, अयं जीवश्चाऽसहाय एव रिक्तहस्तः परभवमेति । एतेष्वेकमपि वस्तु तेन साकं कदापि नानुयाति । संसारस्येमां क्षणभङ्गुरामवस्थां विलोक्य मम मनस्तस्मादत्युदासीनमस्ति । अथाऽहमत्र संसारे-ऽस्थित्वा मोक्षदायि चारित्रं ग्रहीतुमिच्छामि ।

यतः-

नो दुष्कर्मप्रयासो न कुयुवतिसुतस्वामिदुर्वाक्यदुःखम्,
राजादौ न प्रणामोऽशनवसनधनस्थानचिन्ता न चैव ।
ज्ञानाप्तिर्लोकपूजा प्रशमसुखरतिः प्रेत्य मोक्षाद्यवाप्तिः,
श्रामण्येऽमी गुणाः स्युस्तदिह सुमतयस्तत्र यत्नं कुरुध्वम् ॥३१॥

अतस्तदर्थं यौष्माकीणाऽनुमतेः परमावश्यकताऽस्ति । मम भगवतो वचःसु पूर्णविश्वासो जातोऽस्ति, अतोऽहं तस्यैव शरणे

जिगमिषामि । तदर्थं युवां यद्याज्ञां ददीयाथां तर्हि वरम्, अन्यथाऽऽज्ञां विनाऽपि चारित्रं लास्यामि, यत एवं कः क्षुधातुरो भविष्यति, यो मुखासन्नस्थमिष्टान्नभक्षणाय नोद्यतो भवेत् ? मूर्खादन्यः कोऽप्येवं कर्तुं नार्हतीति मे मतिः । पत्युरिदं वचः श्रुत्वा द्वाभ्यामपि राज्ञीभ्यां स बहुप्रतिबोधितस्तस्य जगति रक्षणाय चातिचेष्टा कृता, परं यदा तस्याः किमपि फलं नाऽभूत्तदा ताभ्यां चारित्रग्रहणाय सहर्षमाज्ञा दत्ता ।

ततो राज्ञा चन्द्रेण गुणावलीसुतं गुण-शेखरमाभापुर्या राज्यसिंहासने समुपवेश्य मणिशेखराद्यन्यपुत्रेभ्योऽपि राज्यखण्डं दत्त्वा तेऽतितोषिताः । इत्थं यथोचितं राज्यव्यवस्थां विधाय राजा चन्द्रो दीक्षाग्रहणस्य प्रगुणनं कर्तुमारेभे, तदानीं तदीया राज्ञीनां सप्तशती सुमतिनामा सचिवः शिवकुमारनटश्चैभिरपि तेनैव सत्रा चारित्रग्रहणेच्छा प्रकटिता, तन्निशम्य राजा चन्द्रः परां प्रीतिमुपगतः । यथासमयं गुणशेखरमणिशेखराभ्यां महता-ऽऽडम्बरेण दीक्षा महोत्सवस्य सामग्री सज्जीकृता । सपरिवारो राजा चन्द्रोऽर्थिभ्यो यथेप्सितं दानं ददानो मुनिसुव्रतस्वामिनः समीपं गतस्तद्वन्दनां च विधाय पुनस्तदुपदेशं श्रोतुं लग्नः, येन तद्वैराग्यभावः पूर्वतोऽप्यतिववृधे । एतदवलोक्येन्द्रादिदेवा अपि तस्य चन्द्रनृपस्यातिश्लाघां चक्रुः ।

ततो गुणशेखरादिभी राजपुत्रैर्भगवान् प्रार्थितः- हे प्रभो ! मज्जनकः शिवसुखं प्राप्तुमीहते, तस्मात्तस्मै चारित्रं दातुं सहज-कृपालुना भवता कृपा क्रियताम् । परं मुनिसुव्रतस्वामिन एष वृत्तान्तः सुविदित आसीत्, यद्यथा कांस्यभाजनोपरि जलबिन्दवो

न तिष्ठन्ति, तथैवेदानीं भूपतेश्चन्द्रस्य मानसेऽपि विषयरागो न स्थातुं शक्ष्यति । पुनरपि भगवता तेन दीक्षादृढीकरणविचारेण तं निजोपान्ते समाहूयोक्तं- हे चन्द्रनरेश ! भवांश्चारित्रग्रहणाय सज्जितोऽस्ति तद्वरम्, परन्तु चारित्रपालनमतिदुष्करं वर्तते, तत्खड्गधारोपममस्तीति तत्र गमनं महत्कृच्छ्रं विद्यते । मधूच्छिष्टदन्तैर्लौहचणकचर्वणमिव कषायपरीषहोपसर्गादिसहनमतिकठिनमस्ति। अत उक्तम्-

कषाया यस्य नो छिन्ना, यस्य नात्मवशं मनः ।
इन्द्रियाणि न गुप्तानि, प्रव्रज्या तस्य निष्फला ॥३२॥

पुनः शुभाध्यवसाये त्रुटितेऽस्माद् व्रतगिरिशिखरादनेकजीवानां यदाऽधःपतनं भवति, तदा तेषां पुनः कुत्रचिच्छुद्धिरपि न जायते । तेन ते दुर्गतावेव बम्भ्रम्यन्ते, अतो भवता यत्किञ्चित्कर्तव्यं तत्सम्यक् संचिन्त्य संबुध्यैव कर्तव्यम् ।

यतः-

भये वा यदि वा हर्षे, संप्राप्ते यो विमर्शयेत् ।
कृत्यं न कुरुते वेगा-न्न स संतापमाप्नुयात् ॥३३॥

किं च-

अयशः प्राप्यते येन, येन चापगतिर्भवेत् ।
स्वर्गाच्च भ्रश्यते येन, तत्कर्म न समाचरेत् ॥३४॥

प्रभोरदो वचो निशम्य राज्ञा चन्द्रेणोक्तम्-स्वामिन् ! भवदुक्तिर्यथार्था, अत्राऽपि सन्देहो नाऽस्ति, यच्चारित्रपालनमतिकठिनं विद्यते परं तत्कातराणां, शूराणां कृते तु मनागपि

कठिनं नाऽस्ति । भूधवचन्द्रस्येमां दृढतां निर्वर्ण्य भगवता तस्मै चारित्रदानं स्वीकृतम् । ततो राज्ञा चन्द्रेण भगवतो यथाऽऽदेशं सर्वतः पूर्वं सर्पकञ्चुकत्यागवत्समस्तमाभरणमुत्तार्य कर्मवृक्षस्य मूलमिवोत्तमाङ्गस्य कचा लुलुचिरे । ततोऽसौ शुद्धक्रियाऽनुष्ठानाय सज्जितो बभूव, अतो भगवता तस्मै धर्मध्वजमुखवस्त्रादिकं मुनिवेषं दत्त्वा तच्छिरसि सुगन्धाढ्यो वासक्षेपो विहितस्ततो भगवता तेन चतुर्महाव्रतस्य नियमः कारितः । समाप्तायामेतावत्यां क्रियायां राज्ञा चन्द्रेण चन्द्रराजर्षिपदं लब्धम्, ततः समस्तसुरनरैः स वन्दितः। सुमतिना सचिवेनाऽपि तदानीमेव दीक्षा गृहीता पूर्ववच्च तदा चन्द्रराजर्षेर्मन्त्रित्वं लब्धम् । ततः शिवकुमारेणाऽपि सांसारिकं नटवेषं परित्यज्य लोकरूपे वंशे चटित्वा दुर्घटां चरणक्रीडां क्रीडितुमपूर्वं संयमनाटकस्य कार्यं स्वीकृतम्, अर्थात्तेनाऽपि नटवृत्तिं मुक्त्वा चारित्रमङ्गीकृतम् । एभ्योऽन्यैर्जनैरपि विविधव्रतनियमादिकं गृहीतम् । अथ भगवताऽऽभापुरीतो विहृतम्, चन्द्रराजर्षिणाऽपि निजमुनिपरिवारैः सह विहारः कृतः । सुदूरमनुगता गुणशेखरादयः परावर्तनाऽवसरे तान् प्रणम्य स्वस्वनाम ग्राहं ग्राहं प्रोचुः–हे भगवन्! भवन्तस्त्वस्मद्धार्दिकं प्रेम विस्मृत्य चलिताः परं वयं भवतां स्नेहं कथं त्यजेम ? भवद्भिस्तु तृणवद्राज्यं त्यक्तम्, परं वयं तत्कथं जह्याम ? भवन्तस्तु शरीरमलवत्सर्वं हित्वाऽऽत्म–कल्याणसाधनाय गच्छन्ति परमस्माकं कल्याणं कः साधयिष्यति? अस्तु, भवन्तो मुदा गच्छन्तु किन्त्वस्माकमियती प्रार्थनाऽस्ति, यद्भवन्तोऽस्माकं न विस्मरेयुः, कदाचित्कदाचिदितोऽपि समागत्यास्मभ्यं स्वदर्शनलाभं ददीरन् । राजर्षिणा चन्द्रेण सर्वेभ्यो धर्मलाभाऽऽशीर्वादं ददतोक्तम्–

अयि देवानुप्रियाः ! महानुभावाः ! भवद्भिः सदा सद्भावेन धर्म्यं कार्यं कर्तव्यम्, अमुं संसारं च क्षणभङ्गुरं ज्ञात्वा तत्सुखेष्वासक्तिर्न रक्षितव्या ।

यतः-

हरिष्यमाणो बहुधा परस्वं, करिष्यमाणः सुतसंपदादि ।
धरिष्यमाणोऽरिशिरस्सु पादं,न स्वं मरिष्यन्तमवैति कश्चित्॥३५॥

इतोऽतिरिक्तममुं राज्यभाण्डागारं मातापित्रादिस्वजनानपि स्वीयान्न मन्येरन्, तेषां च बन्धनेऽत्याधिक्येन न पतेयुः, सहैव निरन्तरमुत्तमजातिकुलाचारस्य पालनं कुर्युरियमेव मे शिक्षा, तथाऽयमेव मदीयाशीर्वादोऽस्तीत्युक्त्वा राजर्षिणा चन्द्रेणाऽग्रे प्रतस्थे । गुणशेखरकुमारस्तथाऽन्ये जना नेत्रैरश्रूणि मुञ्चन्त आभापुरीं प्रत्याययुः ।

ततो राजर्षिणा चन्द्रेण सकलमुपाधिं त्यक्त्वा मुनिस्थविर-महाराजस्य समीपे ज्ञानाभ्यसनमारेभे । सार्द्धमेव तेन चारित्र-विषयक्रियाकलापेऽपि नैपुण्यमाप्तम् । इत्थमेव सुमतिमुनि-शिवकुमारमुनी अपि चन्द्रराजर्षिं प्रति विनयेन वर्तमानौ शास्त्राण्य-धिजगाते । गुणावलीप्रभृतयः साध्व्योऽपि प्रवर्तिनीपार्श्वे साध्वाचाराणां शिक्षां जगृहुर्ज्ञानाभ्यासेन च सहैव जपतपश्चारित्रक्रियानुष्ठाना-दिष्वपि लीनास्तस्थुः । सर्वेऽपि सिंहवच्चारित्रं गृहीत्वा तथैव तत्पालने तत्परा अभूवन् । ते निजचारित्रमदूषयन्तः परमात्मानं प्रति निश्छद्म-श्रद्धामतिबिभ्रति स्म । इत्थं श्रुतसागरस्याऽवगाहनं भृशं कुर्वतां तेषामध्यात्मरत्नस्य प्राप्तिर्बभूव । तत आत्मस्तुतेः परनिन्दादिदोषाणां च पूर्णरूपेण त्यागं कृत्वा तेऽप्रमत्तनामके

सप्तमगुणस्थाने रन्तुं लग्नाः । राजर्षिश्चन्द्रो निरतिचारं चारित्रं पालयन् प्रकृष्टज्ञानप्राप्तौ च संनिलीनः सन् षट्कायजीवेषु दयामावहन्, सकलजीवानात्मवदमंस्त । पुद्गलद्रव्यासक्तौ निरवातं चेतनद्रव्यं मूलगुणेनाऽऽकृष्योर्ध्वं नयन् वस्तुभेदज्ञानोद्भवात्स जडचैतन्ययोर्भेदं विदन् यतिधर्मक्षमादिसमताप्रमुखान् गुणानेव नैजान्यथार्थहितैषिणो मेने ।

यतः-

अतुलसुखनिधानं सर्वकल्याणबीजं,
जलनिधिजलपोतं भव्यसत्त्वैकचिह्नम् ।
दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थं प्रधानं,
पिबत जितविपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बु ॥३६॥

सोऽष्टप्रवचनरूपाया मातुरङ्के रममाणः क्षमाखड्गेन मोहराजं पराजिग्ये । पुनरन्तरङ्गसंवेगापगायां परमानन्दसन्दोहस्वरूपमात्मानं स्नापयन् शरीरस्यन्दनं रत्नत्रय्याः सुयोगरूपहयैश्चालयन्कुपथगमनात्तान् न्यवारयत् । तेनाऽऽर्हद्धर्मस्य विवेकगिरेरनुभवरसकुम्पिकां प्राप्य सौभाग्यवत्सन्तोषमन्दिरवास्तव्यक्षायिकभावाय सा दत्ता । [1]पञ्चमेरुतुल्यान्पञ्चमहाव्रतानतिशक्तिशालीभूय स उत्थापितवान् पञ्चेन्द्रियमृगांश्च मृगेन्द्रवन्निजायत्तान् विधाय संवरशाले संयतान् कृत्वा रक्षितवान् ।

यतः-

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।

1. पांच मेरु से उपमित करने हेतु पांच महाव्रत लिखा है, उस समय चार महाव्रततोपण ही होता था ।

तज्जयः सम्पदां मार्गो, येनेष्टं तेन गम्यते ॥३७॥

तथा स परीषहान् समभावेन सहमानस्तेनैवात्मगुणपुष्टिं शिवप्राप्तिं चाऽमंस्त । यतोऽग्निज्वालाज्वलितहिरण्यवत्परीषहोपसर्गादेः सहनेनाऽऽत्मनः शुद्धस्वरूपमाविर्भवति । इतोऽन्यद्यथा यथाऽऽत्मनि शान्तरसप्रसारो भवति-आत्मप्रदेशस्तेनाऽभिषिच्यते, तथा तथाऽऽत्मना ताम्ररूपं परित्यज्य सत्यस्वर्णरूपं प्राप्यते, तेन परमोत्कृष्टशुद्धस्वरूपस्य चाऽऽत्मनोऽनुभवो जायते । एवं विदन् स ज्ञानादिगुणैर्नित्यानन्दे स्थितत्वात्परमानन्दस्याऽनुभवं करोति स्म, एवं भृशमात्मधर्ममाचरन् राजर्षिश्चन्द्रः क्षपकश्रेण्याः सम्मुखो भवितुं लग्नस्तेनानादिकालतो जीववशवर्तिकरणैकचित्तं मोहराजस्य सैन्यं भग्नम्, तस्य मुखं संगोप्य पलायितव्यमभूत् । ततोऽसौ चतुर्णां घनघातिकर्मणां नाशकरणे लीनः सन्नतिस्निग्धैकादशे गुणस्थाने पादमनिधाय क्षीणमोहनामके द्वादशे सुगुणस्थाने गतवान् । तत्र चतुर्णां घनघातिकर्मणां सर्वथा क्षये कृते त्वरितमेव त्रयोदशं गुणस्थानं प्राप्य तेन चन्द्रराजर्षिणा शाश्वतिकसकलसुखनिदानं लोकालोकप्रकाशकं केवलज्ञानं केवलदर्शनं च लेभे ।

उक्तमपि-

ज्ञानं स्यात्कुमतान्धकारतरणिर्ज्ञानं जगल्लोचनं,
ज्ञानं नीतितरङ्गिणी कुलगिरिर्ज्ञानं कषायापहम् ।
ज्ञानं निर्वृतिवश्यमन्त्रममलं ज्ञानं मनःपावनं,
ज्ञानं स्वर्गगतिप्रयाणपटहं ज्ञानं निदानं श्रियः ॥३८॥

ततस्तदात्मनो ज्ञानादिगुणानामाच्छादकं पुद्गलकार्यरूपं

यत्कर्माऽऽसीत्तदात्मप्रदेशात्पृथग्भूय स्वच्छपरमाणुरूपस्य लाभेन मोक्षकारणरूपं जातम् । अतस्तेन यथाख्यातचारित्रस्य प्राप्तिः कृता । ततस्तस्य चन्द्रराजर्षेः केवलज्ञानभानूदयाल्लोकालोकः प्रकाशितो बभूव । तेन तस्य समस्तसांसारिकजीवानां सुखदुःख-जन्ममरणगताऽऽगतीत्यादिभावा हस्ताऽऽमलकवज्ज्ञाता बभूवुः, तस्य च समस्ता भ्रान्तिर्दूरं गता । तदानीं निकटस्थैः सम्यग्दृष्टि-भिर्देवैर्घनघातिकर्मणां क्षयं केवलज्ञानोदयं च विदित्वा ज्ञानोत्सवो विहितः । तस्मिन् क्षणे देवकृतस्वर्णपङ्कजे समुपविश्य पर्षदि चन्द्रकेवलिनाऽद्भुता धर्मदेशना दत्ता ।

यथाः-

कर्तव्यं जिनवन्दनं विधिपरैर्हर्षोल्लसन्मानसैः,
सच्चारित्रविभूषिताः प्रतिदिनं सेव्याः सदा साधवः ।
श्रोतव्यं च दिने दिने जिनवचो मिथ्यात्वनिर्णाशनं,
दानादौ व्रतपालने च सततं कार्या रतिः श्रावकैः ॥३९॥

किञ्च-

यद्भक्तिः सर्वज्ञे, यद्यत्नस्तत्प्रणीतसिद्धान्ते ।
यत्पूजनं यतीनां, फलमेतज्जीवितव्यस्य ॥४०॥

या धर्मदेशना पञ्चेन्द्रियविषयसुखपिपासां शमयितुमनेकैर्भव्यैः पीता । एवं जङ्गमतीर्थरूपेण चन्द्रकेवलिना भूतलेऽति विहृत्याऽनेके भव्यजीवाः प्रतिबोधितास्तथाऽऽबालवृद्धेभ्योऽमिताऽगम्याऽगोचरसिद्धान्तभावाः प्रदर्शिताः । एवं विहारं कुर्वंस्तस्य कियद्दिनानन्तरं सिद्धाचलतीर्थे शुभागमनं बभूव । अत्र तीर्थे

पुराऽपि तस्य नरत्वप्राप्त्युपकारोऽभवत्, पुनर्ज्ञानेनाऽज्ञायि यदनेनैव तीर्थेनान्ते मे सिद्धिगमनं भविष्यति । अस्मिन्स्थानेऽनेक-मुनीनां सिद्धपदप्राप्तिरस्य स्मरणमात्रेण प्राणिनां कर्मच्छेदश्चापि भवतीति जानता तेनाऽत्र महातीर्थे मासिकी संलेखना कृता । राजर्षिणा चन्द्रेण सर्वं संमील्य सहस्रसंवत्सरान्यावद्दीक्षापर्यायं वर्षाणां त्रिंशत्सहस्रमायुर्भुक्त्वा चान्ते योगनिरोधेन चतुर्दशायोगिगुणस्थाने पञ्चह्रस्वाक्षरोच्चारणपरिमाणकालं स्थित्वा वेदनीयायुर्नामगोत्राणां चतुर्णामघातिकर्मणामपि सर्वथा क्षयो विहितः । अतोऽनन्त-वीर्योऽखिन्नोऽसावतीन्द्रियत्वाक्षयत्वयोः प्राप्त्यनन्तरमूर्ध्वगमनं कृत्वा सिद्धिस्थानं प्राप । सर्वार्थसिद्धविमानस्योपरि द्वादशयोजन-दूरस्थेषत्प्राग्भारानामशिलायामेकयोजनमिते लोकान्ते लोकान्तं स्पृष्ट्वा स स्थितः । ततः सुमतिशिवकुमारौ मुनी गुणावली प्रेमला च साध्व्यावेते सर्वेऽपि केवलज्ञानं प्राप्य सिद्धस्थानं गताः। पुनः शिवमालाप्रभृतिसाध्व्यः सर्वार्थसिद्धविमानमीयुस्तास्तत-श्च्युत्वा महाविदेहक्षेत्रे मनुष्यभवेन सिद्धिस्थानं यास्यन्ति । एवं तैः समस्तैर्जीवैरात्मनः कल्याणं कृतम्, एतत्सर्वं सदाचारस्य शुद्धचारित्रस्य चैव प्रताप आसीत् ।

अत उक्तम्-

मिथ्या वक्तुं नहि जानामि, सारं किञ्चित्तव कथयामि ।
गुप्तित्रितयं समितीः पञ्च, यावज्जीवं खलु मा मुञ्च ॥४१॥

अपि च-

तच्चारित्रं न किं सेव्ये ? यत्सेवावशगः पुमान् ।
हीनवंशोऽपि संसेव्यः, सुरासुरनरोत्तमैः ॥४२॥

धन्यास्सन्ति तादृशाः पुरुषा ये निजात्मानमुद्धरन्तः सर्वजनसमक्षे स्वादर्शतामुपस्थापयन्ति । यथा राज्ञा चन्द्रेण स्वशीलरक्षया त्रिलोके निजनामोद्योतितम् । वस्तुतः शीलप्रभावोऽतिविलक्षणो भवति, यतः शीलशालिनामग्रे सर्वे देवदानवचक्रवर्त्यादयोऽपि नम्रशिरसो भवन्ति ।

यतः-

शीलं नाम नृणां कुलोन्नतिकरं शीलं परं भूषणं,
शीलं ह्यप्रतिपातिवित्तमनघं शीलं सुगत्यावहम् ।
शीलं दुर्गतिनाशनं सुविपुलं शीलं यशःपावनं,
शीलं निर्वृतिहेतुरेव परमः शीलं तु कल्पद्रुमः ॥४३॥

किञ्च-

शीलं सर्वगुणौघमस्तकमणिः शीलं विपद्रक्षणं,
शीलं भूषणमुज्ज्वलं मुनिजनैः सर्वैः सदा सेवितम् ।
दुर्वाराधिजदुःखवह्निशमने प्रावृट्पयोदाधिकं,
शीलं सर्वसुखैककारणमतः स्यात्कस्य नो संमतम् ? ॥४४॥

अपि च-

सीतया दुरपवादभीतया, पावके स्वतनुराहुतीकृता ।
पावकस्तु जलतां जगाम यत्तत्र शीलमहिमा विजृम्भितः ॥४५॥

अतो हे शील ! त्वं सर्वजगत्पूज्यं संस्तुत्यं धन्यमसि, तवाऽऽराधकोऽपि विश्वाराधनीयोऽस्ति, तवाचिन्त्यमहिमा चाऽस्तीति सदात्मशुभेष्टफलाकाङ्क्षिभिरहर्निशं संसेव्यमानस्य ते यथार्थगुणवर्णने शेषोऽपि नो शक्तस्तर्ह्यन्येषां का कथा ? ॥

अथ ग्रन्थकर्तृ-प्रशस्तिः-

श्रीवर्द्धमानान्तजिनान्प्रणम्य, श्रीगौतमादीन् गणधारिणश्च ।
विद्वज्जनाम्भोजदिनेशकल्पं, संनौमि सूरीश्वरहेमचन्द्रम् ॥१॥
मेवाडभूपालमतिप्रसाद्य,बृहत्तपागच्छवरप्रतिष्ठा ।
येनेह लब्धा तमहं नमामि, सूरिं जगच्चन्द्रमतिप्रशस्यम् ॥२॥
स्वच्छेऽत्र गच्छे यशसा यलक्षं, श्रीरत्नसूरिं मतिमत्सु दक्षम्।
श्लाघ्यं च तच्छिष्यवरं प्रसिद्धं, वृद्धक्षमासूरिमहं स्तवीमि॥३॥
नानागमैश्चित्रितचित्तसद्मा, रेमे यदीये हृदि सिद्धिपद्मा ।
सौधर्मगच्छाम्बरभास्कराभं, देवेन्द्रसूरिं तमहं नमामि ॥४॥
तत्पट्टवारांनिधिजातमग्र्यं, कल्याणकन्दं सुषमातिचन्द्रम् ।
कल्याणसूरिं प्रणमामि नित्यं, प्रमोदसूरिं च तदीयशिष्यम् ॥५॥
चक्रे समस्तागमबोधवेद्याभिधानराजेन्द्र इति प्रकोषः ।
येनात्र लोके बहुकीर्तिभाजा, राजेन्द्रसूरिं तमभिष्टुवेऽहम्॥६॥
विद्याचणं श्रीधनचन्द्रसूरिं, वन्दे जगद्वन्दितवन्दनीयम् ।
प्रारम्भितग्रन्थविधेः समाप्तौ, कल्याणसन्दोहकरा ममैते ॥७॥
अल्पज्ञेनापि बोध्ये सरलपदमयेऽनेकसत्पद्ययुक्ते,
ग्रन्थे मद्योजितेऽस्मिन् क्वचिदपि धिषणादोषतो वा प्रमादात्।
स्याज्जाता चेत्त्रुटिर्मे सुमतिबुधजनैः सा सदा शोधनीया,
चैवं ग्राह्या गुणास्तैः कथयति सततं श्रीलभूपेन्द्रसूरिः ॥८॥
वर्षर्तौ गुणरत्ननन्दविधुके श्रीभेंसवाडापुरे,
पार्श्वं शान्तिजिनेश्वरं च सततं ध्यायन् हृदम्भोजके ।
चातुर्मास्यनिवासमेत्य कृतवांश्चान्द्रं चरित्रं वरं,
व्याख्याने सुखबोधनाय भविनां भूपेन्द्रसूरिः कृती ॥९॥

इति श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-सुविहितसूरिशक्रचक्रपुरन्दरसकल-जैनागमपारदृश्व-परमयोगिराज-जैनाचार्यभट्टारक-श्रीमद्विजय-राजेन्द्रसूरीश्वरान्तेवासि-सिद्धान्तमहोदधि-न्यायचक्रवर्ति-परम्परानुग-श्रीमद्विजयधनचन्द्रसूरीश-पट्टप्रभावक साहित्य-विशारद-विद्याभूषण-श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरीश्वरेण सज्जनहिताय सरलसरस-संस्कृते सङ्कलितं श्रीचन्द्रराजचरित्रं समाप्तिमगमत् ॥

अ

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा... ७
असन्तुष्टो द्विजो नष्टः... ७
अपुत्रस्य गतिर्नास्ति... १६
अर्थाऽऽतुराणां न सुहृन्न बन्धुः... १७
अद्यापि नोज्झति हरः किल कालकूटं... २८
अविदितपरमानन्दो वदति जनो... ३९
अश्वप्लुतं माधवगर्जितं च... ४५
अनृतं साहसं माया... ४७
अन्तः स्नेहादशनवसनस्नानताम्बूलवेषैः... ४८
अकार्ये तथ्ये वा भवति वितथे वा किमपरं... ७०
अपुत्रस्य गृहं शून्यं... ७२
अनिष्टादिष्टलाभेऽपि... ८२
अघटितघटितानि घटयति... ९६
असत्यमप्रत्ययमूलकारणं... १०७
अन्यथा चिन्तितं कार्यं... ११०
अज्ञातकुलशीलानां... १२६
अहो ! अहीनामपि खेलनेभ्यो... १३०
अपुव्वो हि कप्पतरू... १३६
अरैः संधार्यते नाभि... १४०
अपूर्वः कोऽपि कोपाग्निः... १५७
अमृतं शिशिरे वह्नि... १६७
अनुसरति करिकपोलं... १७७
अकारणं सत्त्वमकारणं तपो... १७९
अर्थः सुखं कीर्तिरपीह माभू... १८०
अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे... १८५
अत एव हि नेच्छन्ति... २०५

अरिहंतनमुक्कारो... २२३
अपेक्षन्ते न च स्नेहं... २४२
अपवित्रः पवित्रः स्या... २४५
अनुकूले सति धातरि... २४६
अविनीतः सुतो जातः... २५०
अद्यापि तत्प्रचलकुण्डलमृष्टगण्डं... २५५
अयशः प्राप्यते येन... २६४
असर्वभावेन यदृच्छया वा... २७२
अजस्रं लसत्पद्मिनीवृन्दसङ्गं... २७६
अत्युग्रपुण्यपापाना... २८०
अवज्ञात्रुटितं प्रेम... २८७
अवद्यमुक्तेः पथि यः प्रवर्तते... २९५
अमेध्यपूर्णे कृमिजालसंकुले... २९८
अयशः प्राप्यते येन... ३००
अतुलसुखनिधानं सर्वकल्याणबीजं... ३०३

आ

आचारः कुलमाख्याति... ९
आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च... ४३
आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं... ११५
आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणां... १४३
आरम्भाणां निवृत्तिर्द्रविणसफलता सङ्घवात्सल्यमुच्चै... २१४
आपत्समुद्धरणधीरधियः परेषां... २६१
आयुर्दीर्घतरं वपुर्वरतरं गोत्रं गरीयस्तरं... २९३
आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री... २९७
आपदां कथितः... ३०३

इ

इह भुवि कलयति लघुरपि... १३६
इन्दुं कैरविणीव कोकपटलीयाम्भोजिनीबान्धवं... १७१
इतो न किञ्चित्परतो न किञ्चिद्... २१६

उ

उद्यमं साहसं धैर्यं... ५
उज्ज्वलगुणमभ्युदितं... १०
उपकारिण्यपि सुजने... १५
उत्पतन्निपतन् रिङ्खन्... १५
उद्यमं कुर्वतां पुंसां... २०
उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी... २०
उरसि निपतितानां स्रस्तधम्मिल्लकानां... ३१
उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते... ३८
उशना वेद यच्छास्त्रं... ४६
उपमानमभूद्विलासिनां... ११०
उपकारिषु यः साधुः... १५२
उत्तमोऽप्रार्थितो दत्ते... २०४
उपकारः कृतोऽल्पोऽपि... २०६
उत्तिष्ठेत्यपि सद्वाक्यं... २१२
उद्घाटितनयद्वारे... २१८
उपकारिषु यः साधुः... २४२
उपायेन हि यच्छक्यं... २५४

ए

एकोऽहमसहायोऽहं... ५९
एते केतकधूलिधूसररुचः शीतद्युतेरंशवः... १२०

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं... १९१
एअं जम्मस्स फलं... २२०

औ

औषधं मन्त्रवादं च... ७२
औषधं मन्त्रवादं च... २२७

क

कन्येति जाता महती हि चिन्ता... ८
कश्चिन्नृजन्मप्रासादे... २९
कुलं च शीलं च सनाथता च... १०
क्रोधे दासी रतौ वेश्या... ११
कुसङ्गतेः कुबुद्धिः स्यात्... ५१
कृत्वा पापसहस्राणि... ५७
कृतकर्मक्षयो नास्ति... ७४
कर्मायत्तं फलं पुंसां... ८१
कदर्थितस्याऽपि हि धैर्यवृत्ते... १०६
कालः समविषमकरः... १२१
कामं प्रियानपि प्राणा... १५०
क्व सरसि वनखण्डं पङ्कजानां क्व सूर्यः... १६५
कल्याणं भवतां यशः प्रसरतां धर्मः सदा वर्धतां... १७४
कोऽप्यन्यः कल्पवृक्षोऽय... १८७
कति न सन्ति जना जगतीतले... १८९
किं वापरेण बहुना परिजल्पितेन... १९३
कर्मणो हि प्रधानत्वं... २०३
कुलं विश्वश्लाघ्यं वपुरपगदं जातिरमला... २०४
क्वचित्पाणिप्राप्तं घटितमपि कार्यं विघटय... २१२

कोऽहं कस्मिन् कथमायातः... २१८
कर्मणा बाध्यते बुद्धि... २४२
कान्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति यस्य... २६३
किं करोति नरः प्राज्ञः ?... २९४
कृतकर्मक्षयो नास्ति... २९४
कषाया यस्य नो छिन्ना... ३००
कर्तव्यं जिनवन्दनं विधिपरैर्हर्षोल्लसन्मानसैः... ३०५

ख

खण्डः पुनरपि पूर्णः... १११

ग

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशं गता... २७
गुरुरेकः कविरेकः... ३४
गुणाः कुर्वन्ति दूतत्वं... ३८
गोपनीयं प्रयत्नेन... ७७
गतियुगमथ चाप्नोत्यत्र पुष्पं वरिष्ठं... ११८
गुणैरुत्तुङ्गतां याति... ११९
गुणेन स्पृहणीयः... १५५
गुण आकर्षणयोग्यो... १९७
गर्जति वारिदपटली... २१३
गते शोको न कर्तव्यो... २२८
गङ्गा पापं शशी तापं... २७६

च

चेतोहरा युवतयः स्वजनोऽनुकूलः... २८
चार्वाको हि समक्षमेकमनुमायुग्बौद्धवैशेषिकौ... ३४

चन्द्रं विना भाति यथा न रात्रि... १९६
चिराघत्कौतुकाविष्टं... १७४
च्युत्वा नृपतिकिरीटा... २०६
चन्द्रश्चण्डकरायते मृदुगतिर्यातोऽपि वज्रायते... २३६
चतुरः सृजता पूर्व... २३८
चाण्डालः पक्षिणां काकः... २८०
चारित्रं चिनुते धिनोति विनयं ज्ञानं नयत्युन्नतिं... २८१

ज

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं... १४
जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं... ३१
जेण परो दूमिज्जइ... ६१
जठराग्निः पचत्यन्नं... १२४
जीयति जीयति नाथे... २१८
जिनपूजनं जनानां... २२१
जल्पन्ति सार्धमन्येन... २३८
जन्मकोटिकृतमेकहेलया... १७१

त

तावच्चन्द्रबलं ततो ग्रहबलं ताराबलं भूबलं... ७४
त्वत्कीर्तिः कापि गङ्गाखिलमलनिचयं नाशयन्ती गभीरं... १४४
तद्वियोगसमुत्थेन... १९१
तदेवास्य परं मित्रं... १९४
तन्न भवति यन्न भाव्यं... १९६
तैश्चन्द्रे लिखितं स्वनाम विशदं धात्री पवित्रीकृता... २२३
त्वदीयमुखपङ्कजं यदि विधोरलं वार्तया... २३६
तादृशी जायते बुद्धि... २३९

तच्चारित्रं न किं सेवे ?... ३०६

द

दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा... ४
दत्ते महत्त्वमृद्ध्यादि... २९
दधि मधुरं मधु मधुरं... ४०
देशाटनं पण्डितमित्रता च... ४१
दीसइ विविहच्छरिअं... ४१
दानेन भूतानि वशीभवन्ति... ८६
दुःखं वरं चैव वरं च भैक्ष्यं... ८९
दुर्वृत्तसङ्गतिरनर्थपरम्पराया... १०१
दन्तैरुच्चलितं धिया तरलितं पाण्यङ्घ्रिणा कम्पितं... ११६
दुःखं वरं चैव वरं च भैक्ष्यं... १२९
दानेन भूतानि वशीभवन्ति... १३३
देवानामिदमामनन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषं... १५४
दूरस्थोऽपि न दूरस्थो... १६५
दक्षिणाशाप्रवृत्तस्य... १७६
दोषाकरोऽपि कुटिलोऽपि कलङ्कितोऽपि... १९३
दृषद्भिः सागरो बद्ध... १९४
ददाति प्रतिगृह्णाति... २०८
दूतो न संचरति खे न चलेच्च वार्ता... २१५
दानेन चक्रित्यमुपैति जन्तु... २६०
दुःखं वरं चैव वरं च भैक्षं... २९२

ध

धर्मो जगतः सारः... १५०
धर्मेण हन्यते व्याधि... १३८

न

न च राजभयं न च चौरभयं... २७

न जातु कामं कामाना... २८

नरपतिहितकर्त्ता द्वेष्यतामेति लोके... ३५

निजगुणगरिमा सुखावहः स्यात्... ४२

न विना मधुमासेन... ६५

न चन्द्रमाः प्रत्युपकारलिप्सया... ८९

न भवति स भवति न चिरं... १२३

न देवतीर्थैर्न पराक्रमेण... १३३

नासत्यवादिनः सख्यं... १४१

न सा दीक्षा न सा भिक्षा... १४५

नाऽकारणरुषां संख्या... १५९

नित्यं ब्रह्म यथा स्मरन्ति मुनयो हंसा यथा मानसं... १६४

नदीतीरेषु ये वृक्षा या... १६७

नाभ्यस्ता भुवि वादिवृन्ददमनी विद्या विनीतोचिता... १७७

नाऽभूम भूमिपतयः कति नाम वारान् ?... १९२

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं... १९६

निष्कलङ्ककलयापि जनो यः... १९८

नान्तःप्रवेशमरुणद्विमुखी न चासी... २१९

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगाः... २२७

न देवसेवया याति... २२८

नाहिताय हिताय स्यात्... २३३

न तच्छस्त्रैर्न नागेन्द्रै... २४६

न सा दीक्षा न सा भिक्षा... २५९

नरस्याभरणं रूपं... २८९

नो दुष्कर्मप्रयासो न कुयुवतिसुतस्वामिदुर्वाक्यदुःखम्... २९८

प

पिता रक्षति कौमारे...	८
पूजामाचरतां जगत्त्रयपतेः सङ्घार्चनं कुर्वतां...	१३
प्रथमे नार्जिता विद्या...	२६
पदे पदे निधानानि...	९१
पौलस्त्यः कथमन्यदारहरणे दोषं न विज्ञातवा...	१०७
प्रचलति यदि मेरु...	११३
प्रायोवृत्त्या विपदः...	११२
पतिर्देवो हि नारीणां...	११९
पठितं श्रुतं च शास्त्रं...	१४५
पुरुषः कुरुते पापं...	१३२
प्रोक्तः प्रत्युत्तरं नाऽऽह...	१४२
परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः...	१६०
पङ्गुमन्धं च कुब्जं च...	१६२
प्रत्युपकुर्वन्बह्वपि...	१६८
प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं...	१७०
प्रदत्तस्य प्रभुक्तस्य...	१८२
पशुमानयदेयाश्वा...	१८४
पक्षावुत्क्षिप्य धुन्वन्सकलतनुरुहान्भोगविस्तारितात्मा...	१८५
पापी रूपविवर्जितः परुषवाग् यो नारकादागत...	१९०
पातितोऽपि कराघातै...	१९२
परार्थानुष्ठाने जडयति नृपं स्वार्थपरता...	२१०
पदन्यासो गेहाद्बहिरहिफणारोपणसमो...	२११
पुत्रमित्रकलत्रेषु...	२१८
पिता वा यदि वा भ्राता...	२३१
प्रेम सत्यं तयोरेव...	२३५
प्रियादर्शनमेवाऽस्तु...	२४०

पतिर्देवो हि नारीणां... २४४
पौलस्त्यः कथमन्यदारहरणे दोषं न विज्ञातवा... २४७
पिता रत्नाकरो यस्य... २४८
प्रथमदिवसचन्द्रः सर्वलोकैकवन्द्यः... २५३
प्रजा न रञ्जयेद्यस्तु... २५६
परिहरत पराङ्गनाप्रसङ्गं... २६४

ब

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे... ७४
बालस्यापि रवेः पादाः... १४९
ब्रह्मघ्ने च सुरापे च... २६९

भ

भगवन्तौ जगन्नेत्रे... २४३
भक्तिः प्रेयसि संश्रितेषु करुणा श्वश्रूषु नम्रं शिरः... २५७
भावात्सुकृतलेशोऽपि... २७६
भये वा यदि वा हर्षे... ३००

म

महतां स्थानसङ्गेऽपि... २३
मितं ददाति हि पिता... १०२
माता मित्रं पिता चेति... १५७
मा गा इत्यपमङ्गलं व्रज इति स्नेहेन हीनं वच... २०७
माता मित्रं पिता चेति... २२८
मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः... २६३
महीशय्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता... २८२
मृद्घटवत्सुखभेद्यो... २९१

मिथ्या वक्तुं नहि जानामि... ३०६

य

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा ?... २६
यो दृष्टो दुरितं हन्ति... ५८
यदुपात्तमन्यजन्मनि... ७५
यदत्र क्रियते कर्म... ८३
येनोदितेन कमलानि विकासितानि... १०९
यदपसरति मेषः कारणं तत्प्रहर्तुं... १७०
यद्दुर्गामटवीमटन्ति विकटं क्रामन्ति देशान्तरं... १७५
यद्वज्रमयदेहास्ते... ११३
यस्तेजस्वी यशस्वी शरणगतजनत्राणकर्मप्रवीणः... ३२
यो न निर्गत्य निःशेषा... १८०
यथा चित्तं तथा याचो... १८१
याचना हि पुरुषस्य महत्त्वं... १८६
यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च... १९५
यदि ग्रावा तोये तरति तरणिर्यद्युदयति... २०१
यथा धेनुसहस्त्रेषु... २०२
यं दृष्ट्वा वर्द्धते स्नेहः... २११
यो दृष्टो दुरितं हन्ति... २१५
यन्मनोरथशतैरगोचरं... २२२
यः परस्य विषमं विचिन्तये... २५०
यदत्र क्रियते कर्म... २७३
यदुपात्तमन्यजन्मनि... २७३
यद्देवैरपि दुर्लभं च घटते येनोच्चयः श्रेयसां... २७७
यज्जीवति क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै... २८५
यस्य क्षान्तिमयं शस्त्रं... २८९
यथा धेनुसहस्त्रेषु... २९४

यद्भक्तिः सर्वज्ञे... ३०५

र

रे रे चातक ! सावधानमनसा मित्र ? क्षणं श्रूयताम्... १७
रोगं रोगनिदानं... ३४
रक्ता हरन्ति सर्वस्वं... ४६
राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः... १३९
राजानं प्रथमं विन्देत्... १३९
राजमातरि देव्यां च... १४३
रात्रिर्मे दिवसायते हिमरुचिश्चण्डांशुलक्षायते... २४३
रात्रिर्मे दिवसायते हिमरुचिश्चण्डांशुलक्षायते... २५३

व

वच्मः किमस्य चोच्चैस्त्वं... ५७
वायुना यत्र नीयन्ते... ७
विषमस्थितोऽपि गुणवान्... ६१
विद्वांसः कति योगिनः कति गुणैर्वैदग्ध्यभाजः... ६७
विधाय मायां विविधैरुपायैः... ८२
विनाऽप्यर्थैर्वीरः स्पृशति बहुमानोन्नतिपदं... १४८
विलसति मदप्रवाहे... १५६
वार्नाथोऽपि किलोत्ससर्ज मथितो रत्नानि रत्नाकरो... १५६
वरमसौ दिवसो न पुनर्निशा... १६६
विपदि परेषां सन्तः... १६९
वियोगविधुरायास्तु... २१२
वृक्षं क्षीणफलं त्यजन्ति विहगाः... २१७
व्यसनशतगतानां क्लेशरोगातुराणां... २१९
वाद्यानि केचित्खलु वादयन्ति... २२६

यल्लभोत्सङ्गसङ्गेन... २३४
विना गुरुभ्यो गुणनीरधिभ्यो... २९५

श

शर्वरीदीपकश्चन्द्रः... १२
शशिना सह याति कौमुदी... २९
शास्त्रं बोधाय दानाय... ६८
शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं... १०९
शस्त्रैर्विना स्याद्धि यथेह वीरः... ११६
शल्यवह्निविषादीनां... १२९
शास्त्रं बोधाय दानाय... १७९
शत्रुञ्जये जिने दृष्टे... २१५
शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो... २४८
शुश्रूषस्व गुरुन् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने... २५८
शाठ्येनापि नमस्कारं... २७२
शीलं नाम नृणां कुलोन्नतिकरं शीलं परं भूषणं... ३०७
शीलं सर्वगुणौघमस्तकमणिः शीलं विपद्रक्षणं... ३०७

ष

षट्कर्णो भिद्यते मन्त्र... ४७

स

स बन्धुर्यो विपन्नाना... १९
स्वर्गस्तस्य गृहाङ्गणं सहचरी... २१
सह जागराणं सह सुअणाणं... ३२
संसारे हतविधिना... ४५
संमोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति... ४६

स्पृष्ट्वा शत्रुञ्जयं तीर्थं...	५८
सहसा विदधीत न क्रिया-मविवेकः...	७१
स एव पुत्रः पुत्रो यः...	७२
सगुणमपगुणं वा कुर्वता कार्यमादौ...	७९
स्फुरन्त्युपायाः शान्त्यर्थं...	८३
सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः...	१०४
सुखमापतितं सेव्यं...	११०
सुचिरमपि उषित्वा स्यात्प्रियैर्विप्रयोगः...	११३
सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता...	१२२
सहसा विदधीत न क्रिया...	१२२
सगुणमपगुणं वा कुर्वता कार्यमादौ...	१२६
सुखी न जानाति परस्य दुःखं...	१२६
सुभाषितेन गीतेन...	१३७
सदा सदाचारपरायणात्मनां...	१३८
सर्पाणां च खलानां च...	१४१
सत्क्षत्रियास्ते किल सर्वकाले...	१४७
स्तोकेनोन्नतिमायाति...	१५१
सुहृदि निरन्तरचित्ते...	१६३
संपदो जलतरङ्गविलोला...	१७८
सत्यैकभूषणा वाणी...	१८२
स्वयं कर्म करोत्यात्मा...	१९८
स्मरतोरभिलाषकल्पितान्...	२००
समानकुलशीलयोः सुवयसोः परायत्तयोः...	२००
सुजनो न याति विकृतिं...	२३२
सर्पदुर्जनयोर्मध्ये...	२३५
स्त्रियो ह्यकरुणाः क्रूरा...	२३९
स्वाधीनेऽपि कलत्रे...	२६५

सम्यक्त्वरत्नान्न परं हि रत्नं... २७४
संगतिर्यादृशी तादृक्... २७८
संतापं तनुते भिनत्ति हृदयं सौहार्दमुच्छेदय... २९०
सीतया दुरपवादभीतया... ३०७

ह

हरिणापि हरेणापि... २४०
हरिष्यमाणो बहुधा परस्वं... ३०२

क्ष

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः... २३५
क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः... २६२
क्षमी दाता गुणग्राही... २६७
क्षितितलशयनं या प्रान्तभैक्षाशनं या... २८२

ज्ञ

ज्ञानं मददर्पहरं... २५
ज्ञानं स्यात्कुमतान्धकारतरणिर्ज्ञानं जगल्लोचनं... ३०४

श्र

श्रियं प्रसूते विपदं रुणद्धि... १४

ह्रीं

MULTY GRAPHICS
(022) 23873222 23884222